महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

हिन्दी साहित्य का इतिहास – I

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
प्रथम सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 04

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

हिन्दी साहित्य का इतिहास – I

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग एवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : अगस्त 2017

पाठ-रचना

प्रो॰ हरिश्चन्द्र मिश्र
प्रोफेसर
हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, पश्चिम बंगाल

खण्ड – 1 : इकाई – 1 एवं 3

प्रो॰ प्रीति सागर
प्रोफेसर
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

खण्ड – 1 : इकाई – 2

डॉ॰ हरीश कुमार
सहायक प्रोफेसर
हिंदी अनुभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

खण्ड – 1 : इकाई – 4
खण्ड – 4 : इकाई – 2

डॉ॰ उमेश कुमार पाठक
सहायक प्रोफेसर
संचार एवं पत्रकारिता विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय क्षेत्रीय केन्द्र, खान्यारा, धर्मशाला, हि.प्र.

खण्ड – 2 : इकाई – 1 एवं 3

डॉ॰ उषा शर्मा
पूर्व सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)
संत हिरदाराम कन्या महाविद्यालय, भोपाल, मध्यप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 2

डॉ॰ कमलेश कुमार वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 4

प्रो॰ कमलानन्द झा
प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 3 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ॰ अमिष वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजॉल, मिज़ोरम

खण्ड – 3 : इकाई – 4

श्री शिवशंकर सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

खण्ड – 3 : इकाई – 5

डॉ॰ कृष्ण कुमार उपाध्याय
प्राध्यापक
हिन्दी विभाग, शासकीय विदर्भ ज्ञान-विज्ञान संस्था, अमरावती, महाराष्ट्र

खण्ड – 4 : इकाई – 1 एवं 4
खण्ड – 5 : इकाई – 3

डॉ॰ सर्वेश जैन
प्राचार्य
नोबल्स पी. जी. कॉलेज, रामगढ़, अलवर, राजस्थान

खण्ड – 4 : इकाई – 3

डॉ॰ मल्लसर्ज महादेव मंगोड़ी
क्षेत्रीय निदेशक
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

खण्ड – 5 : इकाई – 1 एवं 2

श्री राजीव मोहन
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 5 : इकाई – 4

पुरन्दरदास

खण्ड – 3 : इकाई – 3

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पहला प्रूफ़

सुश्री मेघा दिलीप आचार्य
प्रूफ रीडर, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री बी. एस. मिरगे जनसंपर्क अधिकारी एवं श्री राजेश आगरकर प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किये गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

प्रथम सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 04
पाठ्यचर्या का शीर्षक : हिन्दी साहित्य का इतिहास – I

क्रेडिट – 4

खण्ड – 1: हिन्दी साहित्य : इतिहास-लेखन

इकाई – 1 : साहित्य का इतिहास-दर्शन, आधारभूत सामग्री
इकाई – 2 : हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा, इतिहास-लेखन की विभिन्न पद्धतियाँ, प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ
इकाई – 3 : हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ
इकाई – 4 : हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन, पूर्वापर समय-सीमा निर्धारण एवं नामकरण

खण्ड – 2 : आदिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 1 : आदिकाल की पूर्वापर समय-सीमा निर्धारण, नाम-निर्धारण की समस्या एवं पृष्ठभूमि
इकाई – 2 : सिद्ध-नाथ एवं जैनादि कवियों की मानववादी विचारधारा एवं साहित्यिक अवदान
इकाई – 3 : रासो-काव्य-परम्परा, लौकिक साहित्य, गद्य साहित्य
इकाई – 4 : आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधारसामग्री की साहित्यिकता, प्रामाणिकता तथा काव्य-भाषा

खण्ड – 3 : भक्ति-आन्दोलन का उदय, तत्त्व-दृष्टि एवं जीवन-दर्शन

इकाई – 1 : भक्ति-आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप और अन्तःप्रादेशिक वैशिष्ट्य, भक्ति-आन्दोलन और लोक-जागरण
इकाई – 2 : भक्ति-आन्दोलन के उदय की पृष्ठभूमि, वैष्णव भक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रमुख सम्प्रदाय, प्रमुख आचार्य, आलवार सन्त
इकाई – 3 : भक्तिकाव्य का स्वरूप एवं भेद, निर्गुण-सगुण की अवधारणा, निर्गुण-सगुण का सम्बन्ध, साम्य-वैषम्य
इकाई – 4 : भक्त-कवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक दृष्टि : नारी, वर्ण-व्यवस्था, जाति
इकाई – 5 : भक्तिकाव्य और लोक-जीवन, भक्तिकालीन काव्य-मूल्यों की प्रासंगिकता

खण्ड – 4 : हिन्दी निर्गुण-काव्य-परम्परा

इकाई – 1 : भारतीय धर्म साधना और हिन्दी सन्त काव्य, निर्गुण सन्तकवियों का अवदान
इकाई – 2 : सन्तकवियों की सामाजिक चेतना
इकाई – 3 : सूफी काव्य का वैचारिक आधार, हिन्दी के प्रमुख सूफी कवि और उनका काव्य

इकाई – 4 : सूफी कवियों की लोक-संसक्ति, सांस्कृतिक-दृष्टि, सूफी साहित्य की भाषा, काव्य-रूप तथा छन्द-योजना

खण्ड – 5 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य-परम्परा

इकाई – 1 : कृष्णभक्ति-काव्य का दार्शनिक आधार, कृष्णभक्ति-काव्य-परम्परा, वल्लभ सम्प्रदाय, अष्टछाप, पुष्टिमार्ग

इकाई – 2 : रामभक्ति-काव्य का वैचारिक आधार, रामभक्ति-काव्य-परम्परा, रसिक सम्प्रदाय

इकाई – 3 : तुलसीदास की प्रमुख कृतियाँ, काव्य-रूप और उनका महत्त्व

इकाई – 4 : तुलसी के समाज-दर्शन की प्रासंगिकता

सहायक पुस्तकें :

01. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, सं. : परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद
02. कबीर : एक नई दृष्टि, रघुवंश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
03. कबीर, सं. : वासुदेवसिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
04. कबीर, सं. : विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
05. कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
06. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, सरनामसिंह शर्मा, भारतीय शोध संस्थान, गुलाबपुरा
07. गोसाँई तुलसीदास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र
08. जायसी : एक नई दृष्टि, रघुवंश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
09. जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य, सरला शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
10. ढोला मारू रा दूहा, सं.: रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर
11. तुलसी दर्शन, सं. : बलदेवप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
12. तुलसी दर्शन मीमांसा, उदयभानुसिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
13. तुलसीदास और उनका युग, राजपति दीक्षित, ज्ञानमण्डल, बनारस
14. दूसरी परम्परा की खोज, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
15. नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी
16. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
17. ब्रजमाधुरी सार, सं. : वियोगी हरि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
18. भक्ति-आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति, कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
19. भक्ति-आन्दोलन और भक्ति-काव्य, शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
20. भक्ति-आन्दोलन और लोक संस्कृति, कुँवरपाल सिंह
21. भक्ति-आन्दोलन के सामाजिक आधार, सं. : गोपेश्वर सिंह, किताबघर, नई दिल्ली
22. भक्ति-काव्य का समाज-दर्शन, प्रेमशंकर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

23. भक्ति-काव्य की भूमिका, प्रेमशंकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
24. भक्ति-काव्य में माधुर्यभाव का स्वरूप, जयनाथ 'नलिन', बंसल एंड कंपनी, दिल्ली
25. भक्ति का विकास, मुंशीराम शर्मा
26. भक्तिकाल की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना, प्रेमशंकर
27. भारतीय इतिहास में मध्यकाल, इरफान हबीब, ग्रन्थ शिल्पी इंडिया, नई दिल्ली
28. मध्यकालीन धर्म-साधना, हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद
29. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
30. मध्यकालीन प्रेम साधना, परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद
31. मध्यकालीन हिन्दी काव्य-भाषा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
32. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ, सं. : विजयेन्द्र स्नातक, रामजी मिश्र, भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली
33. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, श्याममनोहर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
34. मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य, शिवसहाय पाठक
35. रसखान और उनका काव्य, चन्द्रशेखर पाण्डेय
36. लोक जागरण और हिन्दी साहित्य, रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
37. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
38. साहित्य और इतिहास दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
39. साहित्य का इतिहास दर्शन, नलिन विलोचन शर्मा
40. साहित्य-सहचर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
41. साहित्येतिहास, संरचना और स्वरूप, सुमन राजे
42. सिद्ध-साहित्य, धर्मवीर भारती
43. सूफी मत, कन्हैयासिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
44. सूफी मत : साधना और साहित्य, रामपूजन तिवारी, ज्ञानमण्डल, वाराणसी
45. सन्त दादू और उनका काव्य, भगवत मिश्र
46. हिन्दी और फारसी सूफी काव्य, श्याममनोहर पाण्डेय, साहित्य भवन, इलाहाबाद
47. हिन्दी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, श्रीनिवास बत्रा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
48. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
49. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
50. हिन्दी जाति का साहित्य, रामविलास शर्मा, राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली
51. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
52. हिन्दी साहित्य, धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग
53. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

54. हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
55. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
56. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
57. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
58. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. : नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
59. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
60. हिन्दी साहित्य का इतिहास, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
61. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह
62. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
63. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपतिचन्द्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
64. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी, ओरियंट लौंगमैन, हैदराबाद
65. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
66. हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, किशोरीलाल गुप्त

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ संख्या
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	12 – 36
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	37 – 52
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	53 – 88
04.	खण्ड – 1	इकाई – 4	89 – 99
05.	खण्ड – 2	इकाई – 1	100 – 112
06.	खण्ड – 2	इकाई – 2	113 – 134
07.	खण्ड – 2	इकाई – 3	135 – 147
08.	खण्ड – 2	इकाई – 4	148 – 160
09.	खण्ड – 3	इकाई – 1	161 – 176
10.	खण्ड – 3	इकाई – 2	177 – 194
11.	खण्ड – 3	इकाई – 3	195 – 212
12.	खण्ड – 3	इकाई – 4	213 – 231
13.	खण्ड – 3	इकाई – 5	232 – 250
14.	खण्ड – 4	इकाई – 1	251 – 264
15.	खण्ड – 4	इकाई – 2	265 – 285
16.	खण्ड – 4	इकाई – 3	286 – 303
17.	खण्ड – 4	इकाई – 4	304 – 315
18.	खण्ड – 5	इकाई – 1	316 – 327
19.	खण्ड – 5	इकाई – 2	328 – 345
20.	खण्ड – 5	इकाई – 3	346 – 365
21.	खण्ड – 5	इकाई – 4	366 – 382

खण्ड – 1: हिन्दी साहित्य : इतिहास-लेखन

इकाई – 1 : साहित्य का इतिहास-दर्शन, आधारभूत सामग्री

इकाई की रूपरेखा

1.1.00. उद्देश्य
1.1.01. प्रस्तावना
1.1.02. इतिहास और मानव का विकास : सहित्येतिहास की भूमिका
1.1.03. इतिहास दर्शन
    1.1.03.1. इतिहास के विकासात्मक मूल्य
        1.1.03.1.1. सामाजिक मूल्य
        1.1.03.1.2. सांस्कृतिक मूल्य
        1.1.03.1.3. कलात्मक मूल्य
        1.1.03.1.4. साहित्यिक मूल्य
1.1.04. इतिहास-प्रक्रिया में साहित्य का मूल्य-बोध
    1.1.04.1. लोक चेतना और साहित्यिक चेतना
    1.1.04.2. साहित्येतिहास की दृष्टि
    1.1.04.3. मानव की सृजनशीलता
1.1.05. युगीन मूल्यों की प्रक्रिया और साहित्य
1.1.06. साहित्येतिहास की रचनात्मक दृष्टि
1.1.07. साहित्येतिहास की अवधारणा
1.1.08. पाठ-सार
1.1.09. आधारभूत सामग्री
1.1.10. बोध प्रश्न
1.1.11. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.1.00. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. विकास-प्रक्रिया में मानव, इतिहास और साहित्य के परस्पर सम्बन्ध और अवलंबिता पर चर्चा कर सकेंगे
ii. साहित्येतिहास की अवधारणा और रचनात्मक दृष्टि से परिचित हो सकेंगे।
iii. इतिहास के दार्शनिक पक्ष को समझते हुए उसके विकासात्मक मूल्यों पर बात कर सकेंगे।

1.1.01. प्रस्तावना

जब मनुष्य में वैज्ञानिक बुद्धि का विकास होता है तो वह आत्मचेता हो चुका होता है, तभी उसमें ऐतिहासिक बुद्धि का विकास होता है। फलतः इतिहास के प्रति चेतना का विकास होता है और ऐसा आत्मचेता मानव अपनी दृष्टि के अनुरूप, अपने अतीत को अपने वर्तमान के क्रम में, भविष्य की सम्भावनाओं के साथ प्रस्तुत करता है। 'ओकशाट' का विचार है, "इतिहास इतिहासकार का अनुभव है। इतिहासकार के अलावा कोई इसका 'निर्माण' नहीं करता और उसका निर्माण करने का एक मात्र रास्ता है इतिहास लेखन।" (इतिहास क्या है, इ.एच. कार, मैकमिलन एंड कंपनी, 1976, पृ. 191) अब मनुष्य ने यह जाना कि इतिहास आदि से वर्तमान और भविष्य में प्रक्षेपित होता हुआ अनन्त प्रवाह है। इस प्रकार इतिहास घटित से ज्यादा, मानव-जीवन का अध्ययन हो जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक घटित को अध्ययन का विषय बनाते हुए मनुष्य दार्शनिक हुआ। इस प्रकार इतिहास-दर्शन की आवश्यकता पड़ी। मानव-जीवन के अध्ययन के क्रम में मनुष्य को अपनी युग-सापेक्ष अभिव्यक्तियों के विकास को जानने की आवश्यकता महसूस हुई। अतः कलाओं के सतत् विकास के अध्ययन क्रम में कला-दर्शन की आवश्यकता हुई। अपने सम्पूर्ण मूल्यात्मक अभिव्यक्ति 'साहित्य' के विकास क्रम में साहित्य-इतिहास-दर्शन तक मनुष्य पहुँचा अतः इतिहास-दर्शन के साथ साहित्य-इतिहास-दर्शन का अध्ययन आवश्यक हुआ। वस्तुतः मनुष्य अपने ऐतिहासिक विकास में अपना सारा विकास करता है। साहित्य-इतिहास-दर्शन का अध्ययन अपना यही उद्देश्य रखता है।

1.1.02. इतिहास और मानव का विकास : सहित्येतिहास की भूमिका

अट्ठारहवीं शताब्दी में ही पश्चिम में इस बात की आवश्यकता महसूस की जाने लगी कि इतिहास क्या है, मनुष्य क्या है ! इतिहास के अभिन्न अंग के रूप में प्रत्येक मानव-जीवन की भूमिका को पहचानने की चेष्टा आरम्भ हुई। हेगेल, एम. ओकशाट, मू. बर्कहाट, इ. एच. कार, आर. जी. कालिंगउड आदि ने अपनी भूमिका निभायी। इतिहास-दर्शन को नए सन्दर्भ में जाने बिना साहित्य-इतिहास-दर्शन को सम्यक् रूप से नहीं जाना जा सकता।

अब पाया गया कि इतिहास की सच्ची परख की असली समस्या उसके दृष्टि की समस्या है, और यह तभी सम्भव है, जब युग-बोध में वैज्ञानिकता का प्रवेश हो। इस दृष्टि के बावजूद यह भी स्पष्ट होता है कि इतिहास आदि से वर्तमान और भविष्य में प्रक्षेपित होता हुआ अनन्त प्रवाह है। इतिहास, घटित से ज्यादा, मानव-जीवन का अध्ययन है, यह मानव निष्क्रिय या घटना में समाप्त हो गया। निर्जीव मानव नहीं अपितु वर्तमान में खपकर फलता-फूलता, अपनी भविष्य की सम्भावनाओं के साथ जीता हुआ मानव है, जिसने सामाजिक विषमताओं में संघर्षरत होकर उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयास किया है। इतिहास पुरुष ने जैविकी विकास को स्वीकारते हुए उन तमाम विकास प्रक्रिया को अपनाया, जिससे वह जीवन संघर्ष को झेलकर आज नए सिरे से वर्तमान के साथ विकासमान है। उसमें क्रमशः चेतना का जागरण हुआ और इतिहास-पुरुष प्रकृति-निर्भरता को छोड़कर आत्मनिर्भर ही नहीं अपितु प्रकृति को भी अपने नियन्त्रण में रख सका। बर्कहाट के अनुसार, "चेतना के जागरण के कारण प्रकृति से टूटकर होना ही इतिहास है।" (रिलेक्शंस ऑन हिस्ट्री, मू. बर्कहाट, 1951, पृ. 31) यही नहीं, यह भी स्वीकार

किया गया कि "यथातथ्य होना एक दायित्व है कोई गुण नहीं ।" (वही, इतिहास क्या है, पृ. 7) इतिहास से इतिहासकार का अविच्छिन्न सम्बन्ध है । इतिहास अपने युग के सापेक्ष तमाम सम्भावनाओं को ढूँढ निकालता है, इतिहासकार पर इतिहास-बुद्धि का जो उत्तरदायित्व सौंपा गया है, उसके बावजूद भी अन्तिम इतिहास लिखने की सम्भावना नहीं मानी जा सकती, क्योंकि युग चेतना के अनुक्रम में दृष्टि या सम्भावनाएँ बदलती रहती है । एक्टन के अनुसार "हम अपनी पीढ़ी में अन्तिम इतिहास नहीं लिख सकते, लेकिन हम परम्परागत इतिहास को रद्द कर सकते हैं, और इन दोनों के बीच प्रगति के उस बिन्दु को दिखा सकते हैं, जहाँ हम पहुँचे हैं।" (वही, पृ. 5)

मानवीय इतिहास लेखन की व्यवस्था में प्रयोजनमूलकत्व को माना गया है, जिसमें इतिहास के तथ्य, वर्तमान के उपयोग के साथ प्रस्तुत किए जाने चाहिए। यहाँ जीवन की उपयोगिता एवं अनुपयोगितावादी दृष्टिकोण का सिद्धान्त लागू होता है । ई.एच. कार कहते हैं, "मनुष्य का अपने परिवेश के प्रति जो सम्बन्ध है वही इतिहासकार का अपनी विषय-वस्तु से है । इतिहासकार न तो अपने तथ्यों का बेदाम गुलाम होता है न ही उसका निरंकुश शासक।" (वही, पृ. 26) पुनः ई.एच. कार कहते हैं, "इतिहास से शिक्षा ग्रहण करना एकमुखी प्रक्रिया नहीं है । वर्तमान को अतीत की रोशनी में देखने का अर्थ है अतीत को वर्तमान की रोशनी में देखना । इतिहास का कार्य है वर्तमान और अतीत के पारस्परिक सम्बन्ध के माध्यम से दोनों की ओर गहरी समझ प्रस्तुत करना ।" (वही, पृ. 71) इस प्रक्रिया में अतीत-अतीत ही रहता है, किन्तु वर्तमान और भविष्य क्रमशः अतीत की स्थिति को ग्रहण करते हैं और योगपदीय रूप में इतिहास की विषय-वस्तु बनते रहते हैं ।

ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ ही इतिहास के विकास का सवाल भी जुड़ा हुआ है । ऐतिहासिक विकास मानव-जीवन के समस्त प्रगति का विकास है या कि मानव का बौद्धिक विकास है या कि मानव का बौद्धिक विकास है । मानव मस्तिष्क विकास-प्रक्रिया में संश्लिष्ट है, जो अपनी विकास पद्धति में स्वतन्त्रता की अवधारणा की ओर गतिशील होता है । मानव-मस्तिष्क अपनी चिन्तन-प्रक्रिया में काफी स्वतन्त्र होता है । वस्तुतः स्वतन्त्रता और तर्क दो अलग वस्तुएँ नहीं है और तर्क मानव-मस्तिष्क के बाहर की वस्तु नहीं । हीगेल के अनुसार 'इतिहास में विकास का अर्थ है स्वाधीनता की धारणा की दिशा में विकास। (वही, पृ. 71)

1.1.03. इतिहास दर्शन

मानव बौद्धिक चिन्तन से युक्त प्राणी है इसीलिए वह रचनात्मक भी है । प्रत्येक मनुष्य अपनी रचनात्मकता से समाज को रचनात्मक शक्ति देता रहा है और समाज के सम्पूर्ण प्रगति के आवर्त्तन में योगदान देता रहा है। मानव, इस रचनात्मकता और बौद्धिक विकास की शाश्वत गतिशीलता के कारण मूल्यों की खोज में लगा रहा है। समय के साथ मूल्यों की स्थापना में मानव ने चमत्कारी विकास भी किया । अतः मूल्यों के संयोजन की आवश्यकता इतिहास-लेखन की मूल आवश्यकता है । मानविकी इतिहास मूल्यों के संयोजन के साथ मानव-जीवन का बौद्धिक विकास है । मानव की बौद्धिक रचनात्मकता ने बौद्धिक विकास या कि भाषा के विकास के साथ मूल्यों का सतत् विकास किया, जो कभी राजनैतिक, कभी धार्मिक कभी आध्यात्मिक और कभी दार्शनिक तथा कभी सांस्कृतिक कलात्मक और आर्थिक मूल्यों से भी जुड़ा रहा । प्रत्येक युग, मूल्यों की स्थापना की चेष्टा में

गतिशील होता है। जब वह पूरे व्यक्ति समाज में मूल्यों की स्थापना करने में अपने को असफल पाता है, तो वह महापुरुष या महामानव की कल्पना करता है, जो मूल्यों का काल्पनिक चरम बिन्दु होता है। यही आगे के युग में मूल्यों का संरक्षक बनता जाता है। मानव सृजनशीलता और मूल्यों की सतत् खोज के प्रयास में अपने व्यक्तित्व का विस्तार और परिष्कार करता है।

इतिहास बुद्धि की उपज के साथ इतिहासचेता युग ने इतिहास के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण को जन्म दिया। इस ऐतिहासिक दृष्टि ने 18वीं शताब्दी में इतिहास के साथ दर्शन शब्द जोड़ा। हिगेल, एक्टन, ओकशाट, ट्यावनवी, ई.एच. वाय एवं आर.जी कालिंगउड ने इतिहास-दर्शन पर चिन्तन प्रस्तुत किया और इतिहास को मानव-जीवन का आवश्यक अध्ययन बना दिया। 'इतिहास-दर्शन' शब्द को सर्वप्रथम वोल्तेयर ने 18वीं शताब्दी में खोजा। लेकिन वे इसका अर्थ आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक इतिहास से अधिक नहीं समझते थे। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तर में, यही नाम हीगेल एवं अन्य लेखकों के द्वारा प्रयोग किया गया। आचार्य जी. कालिंगउड ने अपनी पुस्तक 'द आइडिया ऑफ हिस्ट्री' में इस उपवाक्य को अत्यन्त भिन्न स्तर पर लिया है और उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने दर्शन मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और समाजशास्त्र की चर्चा की और इतिहासकार को इस सभी अनुशासनों से सम्पन्न बताया है।

इतिहास को विज्ञान और कला मानने की परम्परा चली। इतिहास को विज्ञान से भी आगे की चीज मानने की बात उठी। फलतः जीवन के अध्ययन के साथ उसकी उपयोगिता को समझा गया। भारतीय इतिहास-रचना संश्लेषणात्मक एवं भावात्मक रही है और आध्यात्मिकता में उसने इतिहास को कला के रूप में प्रस्तुत किया।

1.1.03.1. इतिहास के विकासात्मक मूल्य

इतिहास लेखन के सन्दर्भ में दो धाराएँ थीं। एक तथ्यवादी और दूसरी तथ्य पर आधारित इतिहास लेखन का विरोधी। कहा गया कि केवल तथ्य ही सत्य नहीं। इस स्थिति में इतिहास घटनाओं का संग्रह मात्र बनकर रह जाएगा। जहाँ प्रत्यक्षवादियों ने 'तथ्य सम्प्रदाय' का समर्थन किया वहीं इसके विरोधी पक्ष ने तथ्य को गुण नहीं माना। एक्टन का विचार है 'इतिहास के तथ्य, समुद्र में तैरती मछली की भाँति हैं, न जाने कब कौन मछली हाथ लग जाए। यही नहीं, तथ्यों की निर्जीविता पर भी ध्यान दिया गया और कहा जाने लगा कि ऐतिहासिक तथ्य स्वयं नहीं बोलते, बल्कि उन्हें बोलने के लिए विवश किया जाता है। (इतिहास क्या है, पृ. 12) हाउसमैन के कथन को उद्धृत करते हुए ई.एच. कार ने कहा जिसके आधार पर तथ्य को अनुभव का आँकड़ा समझा जा सकता है। "अनुभव के वे आँकड़े जो निष्कर्ष से भिन्न होते हैं।" (वही, पृ. 5) वे मानते हैं कि "तथ्य बोरे की तरह होते हैं, जब तक उसमें कुछ भरा न जाए वे खड़े नहीं होते।" (वही, पृ. 7)

आधुनिक इतिहास विषयक विवेचन का जो मूल मुद्दा रहा है, वह था – 'इतिहास को इतिहासकार की पूर्ति और विश्लेषण से जोड़ना।' वर्तमान को अतीत की आँखों से देखना ही इतिहास है। इतिहास को इतिहासकार के साथ जोड़कर वर्तमान से अतीत का सम्बन्ध एक बड़ी ही परिपूर्ण विचारधारा रही है। वर्तमान की आँखों से

देखा गया इतिहास अपने गतिशील प्रवाह में उपयोगितावादी दृष्टि से बन्धता गया। नीत्शे को कहना पड़ा, "किसी मंतव्य के गलत होने से हमें कोई शिकायत नहीं है – प्रश्न यह है कि यह मन्तव्य जीवन को कितना आगे बढ़ाता है, कितनी उसकी रक्षा करता है और जीव-रक्षण तथा जीव-निर्माण में कितना सहायक होता है। (वही, 24) इतिहासकार इतिहास का उत्पाद्य भी होते हैं। अतः उसे अपनी या कि अपने युग के प्रयोजनार्थ ही इतिहास का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि इतिहास का यह धर्म है कि वह अतीत की मद्धिम किरणों में, अपने वर्तमान को उत्कर्ष एवं व्यवस्था देते हुए, भविष्य में अग्रगामी कर सके। उसे यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वर्तमान किसी रूप में अतीत का विकास है। इतिहासकार एक सीमा तक ही स्वतन्त्र होता है। इसके साथ ही इतिहास का प्रयोजन यह देखना है कि व्यापक प्रयोजन एवं अर्थवत्ता की दृष्टि से मनुष्य का इतिहास में क्या और कहाँ स्थान है ?

वस्तुतः इतिहास एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया सांस्कृतिक प्रक्रिया है। अतः ऐतिहासिक विकास को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं आर्थिक मूल्यों के सन्दर्भ में देखा जाना अपेक्षित है। किसी भी क्षेत्र में अवस्था से ज्यादा मूल्य की तलाश ही इतिहास को सांस्कृतिक प्रक्रिया बनाता है।

यदि इतिहास की अजस्रता की ओर ध्यान दे तो ज्ञात होगा कि उसमें एक प्रकार की अविच्छिन्नता है, और सापेक्षिकता भी। इसलिए इतिहास पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करने वाले को अपने अनुसार मूल्य की प्राप्ति होती ही है। चूँकि आज जो मूल्यों के प्रति अवधारणा है, इतिहास की ही देन है, अतः आज की मूल्यवादी विचारधारा से इतिहास को देखना अनुचित नहीं है। इतिहास की दृष्टि-विभिन्नता के सन्दर्भ में ई.एच. कार का विचार उल्लेखनीय है, "समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और इतिहासकार को मानव-व्यवहार के उन स्वरूपों के भीतर प्रविष्ट होना पड़ता है, जिनमें मानव-इच्छा शक्ति सक्रिय होती है; उन्हें उस क्रिया को करने की इच्छा क्यों हुई, जो उन्होंने की।" (वही, पृ. 73) वस्तुतः इतिहास में विभिन्न मूल्यों को प्राप्त करने की परम्परा रही है। मूल्य बदलते भी हैं और उनका आपसी संक्रमण भी होता रहता है, क्योंकि इतिहास में एक मूल्य दूसरे मूल्य को उत्पन्न करता है और उसके साथ-साथ उसकी अवस्थिति भी होती है। सभी मूल्य मानव-जीवन के अपरिहार्य मूल्य हैं, जो मानव-जीवन की ओर इतिहास को गतिशील प्रवाह देने में समर्थ होते हैं। इनसे और इन्हीं मूल्यों में पर्यवसित होकर, मानव की वैयक्तिक रचनात्मकता इतिहास को व्यवस्थित और परिष्कृत भी करती रही है। इसी के साथ मानव-जीवन और अनुभूति का गुणात्मक विकास परिलक्षित होता है। सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में ही संस्कृति (मूल्य विश्व) वर्धमान और ऐतिहासिक होते हैं, जिनका प्रयोजनसम्मत निदर्शन ही इतिहास की अर्थवत्ता है।

1.1.03.1.1. सामाजिक मूल्य

इतिहास की गति में समाज के मूल्य को स्वीकार किए बिना इतिहास का वास्तविक निरूपण नहीं हो सकता। व्यक्ति जो कुछ करता है या उसकी पूरी सर्जनात्मकता समाज में ही परिणमित होकर मानवता के अतीत के अपरिमित विस्तार में मानव के कार्य-कलाप को सज्जित करती है। वस्तुतः व्यक्ति और समष्टि के बीच सामंजस्य की अन्तर्धारा ही सामाजिकता है, जो इतिहास-पुरुष की विशिष्टता कही जा सकती है। मनुष्य रचनात्मक है, इसलिए वह सामाजिक भी है, क्योंकि वह अपनी बुद्धि का प्रयोग समाज में उतर कर ही करता है। समाज में ही

संस्कृतियों का विकास होता है। डान का मत है कि "कोई व्यक्ति अपने आप में अलग-अलग द्वीप जैसा नहीं होता। हर व्यक्ति महाद्वीप का एक अंश पूर्ण का एक अंग होता है।" (वही, पृ. 31) वस्तुतः व्यक्ति समाज के साथ-साथ ही विकास करता है, जिसमें पूरा दायित्व व्यक्ति-चेतना का ही होता है। अतः समाज और व्यक्ति अपनी ऐतिहासिक गति में अन्योन्याश्रित हैं। कारण कि व्यक्ति अपनी सर्जनात्मकता का समर्पण समाज के प्रति करता है तो समाज उसे ग्रहण कर परम्परा के लिए छोड़ देता है। ई.एच. कार के अनुसार "जो संघर्ष होते हैं वे व्यक्ति तथा समाज के बीच नहीं होते, बल्कि समाज के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों के समूहों के बीच होते हैं।" (वही, पृ. 34) इस प्रकार समाज का मूल्य इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है और उसी के भीतर सारे मानव-जीवन की घटनाएँ गतिशील रही हैं। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रगति के दौरान, एक ओर मनुष्य के आन्तरिक या आत्मिक मूल्यों का विस्तार होता है तो दूसरी ओर उसके बोध और सम्वेदना का क्रमशः परिष्कार होता है, जो समाज या परम्परा में घटित होता है इसीलिए ऐतिहासिक होता है।

मानव के द्वारा मूल्यों की ओर अपसर्पण ही वास्तविक प्रगति अथवा विकास है, जिसमें संस्कृति उपक्रम है। मनुष्य अपनी रचनात्मकता में जो कुछ मूल्यों की उपलब्धि करता गया, वह उसका 'मूल्य-विश्व' कहा गया अथवा संस्कृति के रूप में रूपायित हुआ। मानवीय जीवन का यह 'मूल्य-विश्व' या कि संस्कृति मानव के आत्मबोध की सापेक्षता पर निर्भर करती है। मनुष्य ने अपने आपको जिस रूप में बनाया और जो कुछ बन सका, वही संस्कृति है। गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार 'समाज के प्रवाहात्मक स्तर के ऊपर संस्कृति का सृजनात्मक स्तर आरोपित रहता है। इन दोनों के संश्लेषण से ऐतिहासिक प्रक्रिया का अधिष्ठान एक विशिष्ट संस्कृति से अनुप्राणित समाज होता है।'(गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, सं. : इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त, जयपुर, राजस्थान ग्रन्थ एकेडेमी, 1973, पृ. 208) संस्कृति के बाह्य और आन्तरिक, दो पक्ष स्वीकार किए गए हैं, जिसका बाह्य पक्ष सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक मूल्य माना गया और उसका आन्तरिक मूल्य दार्शनिक, आध्यात्मिक और धार्मिक तथा कलात्मक माना गया है।

1.1.03.1.2. सांस्कृतिक मूल्य

यदि इतिहास सांस्कृतिक उपलब्धि का विकास है या कि समस्त अनुशासनगत चेतना का बौद्धिक विकास है तो, ये विभिन्न अनुशासनगत विचार कहीं हमारे बौद्धिक चिन्तन साध्य और साधन दोनों हैं। इन्हीं अनुशासनों की चेतना से मनुष्य अपने वैयक्तिक चिन्तन को निर्वैयक्तिक स्तर पर परम्परा से जोड़ देता है, क्योंकि इस बीच उसे सामान्यीकरण की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। फलतः मनुष्य अपने आत्मिक चिन्तन को 'सार्वभौमिकता' प्रदान करता है। साथ ही, उपने बौद्धिक चिन्तन में इस चेतन-सार्वभौमिकता का एक नए सिरे से प्रयोग करता है एवं परम्परा में भी चेतना के स्तर पर बौद्धिक सर्जनात्मकता के बढ़ावा देता चलता है। यही मानवीय ज्ञान के विकास की ऐतिहासिकता में परम्परा के निर्वहन का प्रतिफल है जो व्यक्ति की बौद्धिकता के सोच में निर्मित होता चलता है। मनोदशाओं को किसी भी मनुष्य की इच्छा, सम्वेदना एवं विचारों से जोड़ता गया और चेतना के स्तर पर मानवीय इतिहास का अंग बनता गया। अतः इन मूल्यों तथा व्यक्तिगत सर्जनात्मकता को छोड़कर मानव-इतिहास विषयक विभावन की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य का अनुकरणशील होना एक

गुण है और यह अनुकरण समाज के भीतर से संस्कृति का अनुकरण होता है। अनुकरणपरक शिक्षा के आधार पर ही परम्परा का निर्माण होता है।

इतिहास न केवल संस्कृति की उपलब्धि की ओर विकास है, बल्कि वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है मानव की सृर्जनात्मकता एवं मानव-चेतना के परिष्कार का विकास है। इतिहास मनुष्य के आदिम स्वरूप का ही विकास है उद्‌भव नहीं । विकास की निरन्तरता का अर्थ है उसकी क्रमबद्धता या कि मानव-चेतना के विकास की क्रमबद्धता यदि जीवन-मूल्यों के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण की प्रबल आवश्यकता की जा सकती है तो संस्कृति का आन्तरिक पक्ष उस भावात्मकता का परिणाम है। इसी भावात्मकता के कारण मनुष्य बाह्य परिवेश को अपनी आवश्यकता के अनुकूल ढालता रहता है और इतिहासकार उससे भी ज्यादा अनुकूलन की क्रिया का शिकार होता है।

1.1.03.1.3. कलात्मक मूल्य

कला में व्यक्ति की रुचि सापेक्ष से उसके सौन्दर्यबोध का समावेश होता है। किसी भी युग-विशेष में रुचि-विशेष की प्रधानता रहती है और इस युगीन रुचि का स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला एवं साहित्य कला पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। सौन्दर्य-चेतना एक मिश्र वृत्ति है। उसमें प्रीति या आनन्द और विस्मय के तत्त्वों का समावेश होता है। अतः प्रीति या आनन्द के साथ सम्बद्ध होने के कारण उसका या कि ललित कलाओं का मनुष्य के आत्म विस्तार पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। सांस्कृतिक युगों का नाम कलात्मक प्रवृत्तियों पर निर्भर करने लगता है। नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार, 'युग-विशेष में रुचि विशेष का प्राधान्य रहता है। ललित कलाओं के विषय में यह अपेक्षा अधिक सत्य है (नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ. 284) मनुष्य रुचि-भेद का संवाहक है और युग सापेक्ष उसकी सौन्दर्य दृष्टि भी बदलती रहती है। उसका यह रुचिभेद वस्तु-विन्यास के अन्तर का कारण बनता है। कलात्मक अभिव्यक्ति में आया हुआ वस्तु-जगत् व्यक्ति के दृष्टिभेद के साथ अपनी सत्यता से ज्यादा वस्तु-विन्यास में दिखाई देता है। अतः कला के सन्दर्भ में वस्तु और रूप का संघर्ष हमेशा चलता रहा है। यह संघर्ष कला के क्षेत्र में प्रवृत्तियों का संघर्ष होता है। परिणामतः अतीत तथा वर्तमान की कलात्मक रुचि में स्पष्ट भेद मिलते हैं। मनुष्य सांस्कृतिक प्राणी है। अतः वह बौद्धिक जिज्ञासा तथा सौन्दर्य की भूख का शिकार होता रहता है। मनुष्य की कलात्मक उपलब्धि उसके सौन्दर्य की भूख का ही परिणाम है। वह इस सौन्दर्य-दृष्टि से इस हद तक प्रभावित होता है कि मनुष्य अपनी सारी रचनाओं में उपयोगिता का प्रयोग करता है तो साथ ही उसमें सौन्दर्य का भी समावेश करता है। मनुष्य विषय-वस्तु को सौन्दर्यबोधीय दृष्टि के साथ अपने संवेग एवं अनुभूति के रूप में ही रूप देता है। इस रूप देने की प्रक्रिया में वस्तु अलग हो जाती है और विषय-वस्तु विन्यास ही कला के स्थायी तत्त्व के रूप में प्रस्तुत होता है। इसका कारण यह है कि विषय-वस्तु इतिहास के साथ बदलती रहती हैं, किन्तु इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि विषय-वस्तु एक निष्क्रिय तत्त्व है और विषय-विन्यास कलाकार का भावन होने के कारण सक्रिय तत्त्व है। यह सत्य है कि विषय-विन्यास के प्रस्तुत होने के कारण युग-बोध और बदलती सौन्दर्य-दृष्टि की विषय-वस्तु में काफी परिवर्तन आ जाता है, किन्तु विषय-वस्तु और विषय-विन्यास की उभय आश्रितता को इनकार नहीं किया जा सकता।

मनुष्य की कलात्मक अभिव्यक्ति ऐतिहासिक विकास में सूक्ष्म होती जाती है। परिणामतः कला की अभिव्यक्ति का माध्यम स्थूल होता जाता है। इस सूक्ष्मता में जीवन की जटिलता का हाथ होता है। वास्तुकला से मूर्तिकला और मूर्तिकला से चित्रकला तथा चित्रकला से संगीतकला का विकास मानव-चेतना की जटिलता और माध्यम की सूक्ष्मता का ही प्रतिफल है। मनुष्यत अपनी सौन्दर्य-सम्वेदना को अनेक रूपों में अभिव्यक्ति दे सकता है। देवराज का विचार है कि "वे विषय या वस्तु पक्ष जो हम में सौन्दर्य-सम्वेदना जगाते हैं, अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे ध्वनियों के समूह संगति में, रेखाकृतियाँ तथा अन्य आकार सरल चित्रांकन में जटिल कर्मों, मनोभावों अथवा विचारों के संगठन आदि।" (देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ. 17) निश्चय ही कला द्वारा हमारी जीवन सम्वेदनाओं को समृद्धि और प्रसार मिलता है। हम अपनी जीवन-चेतना को उन कृतियों द्वारा निर्धारित जीवन की नई सम्भावनाओं में विस्तृत कर लेते हैं। अतः कला मानव-जीवन के इतिहास में या कि मानव की अनुभूति एवं कल्पना के गुणात्मक विकास में उपादान बनकर आती है, जिससे मनुष्य अपनी सांस्कृतिक उपलब्धि में अग्रसर्पण कर सकता है। मनुष्य की विभिन्न सांस्कृतिक क्रियाएँ एक दूसरे से एकदम विच्छिन्न नहीं मानी जा सकती। अतः उनकी उपलब्धि की अविच्छिन्नता को ध्यान में रखते हुए कला की परीक्षा मूल्यानुप्राणित होनी चाहिए।

1.1.03.1.4. साहित्यिक मूल्य

साहित्य मानव-जीवन का अनुभव जगत् है। रचनाकार अपनी समग्र जीवनानुभूति को प्रत्यक्ष और अवधारणा के साथ अनुभव के स्तर पर जिसे ग्रहण करता है, उसी को अभिव्यक्त करता है और अभिव्यंजित भी करता है। रचनाकार एक प्रतिभाशील व्यक्ति होने के बावजूद वह स्वयं इतिहास का उत्पाद्य भी होता है। अतः साहित्य में समसामयिक परिप्रेक्ष्य का प्रश्न भी जुड़ा होता है। इस प्रकार साहित्य में जीवन अपने अनुभव की समग्रता में परिलक्षित होता है। यही कारण है कि साहित्य एक संश्लिष्ट रचना है। संश्लिष्ट इसलिए कि साहित्य जीवन की समग्र अनुभूतियों की रचना है। रामस्वरूप चतुर्वेदी मानते हैं, "अनुभव के संश्लिष्ट रूप को संप्रेषित करना रचना की कृतकृत्यता और इस संप्रेषण की प्रक्रिया को प्रशस्त और समृद्ध बनाना समीक्षा का कार्य है, जो निश्चय ही एक अर्थ में बहुत बड़ी चुनौती है। अतः साहित्य की संश्लिष्टता, उसके समग्र अनुभव-जगत् का संश्लेष है और इस प्रक्रिया में वह अभिव्यक्ति नहीं रचना है, क्योंकि साहित्य के द्वारा रचनाकार जीवन को रचता है।" (रामस्वरूप चतुर्वेदी, कामायनी का पुनर्मूल्यांकन, पृ. 9-10) साहित्य में मानव-जीवन के समसामयिक सन्दर्भों की बात उठाते हुए रघुवंश ने कहा है – "हर युग के साहित्य में सामयिक परिवेश अर्थात् युग का जीवन अपनी पद्धतियों, संस्कारों, संस्थाओं, मूल्यों, चरित्रों, आचरणों और परिस्थितियों में परिलक्षित होता है।" (रघुवंश, समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता, प्र. सं. 1970, पृ. 1) साहित्य की जीवनाभिव्यक्ति शाश्वत और सार्वभौम न होकर युगीन एवं परिवेशगत सरलता एवं जटिलता के अनुरूप सरल से जटिल होती चलती है। साहित्य एक स्तर पर मानव-जीवन की रचना है। अतः साहित्य अपने आप में मूल्य है, मूल्यों की उपलब्धि में एक उपादान मात्र नहीं। साहित्य साहित्यकार की वह संश्लिष्ट जीवन-अनुभव की रचना है, जो अपने विविध भावों को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द एवं भाषा को रूप के स्तर पर ग्रहण करता है। मनुष्य के जीवन में शब्द एक प्रतीक

मात्र ही नहीं है अपितु भाषा के रूप में शब्द जीवन चेतना के रूप बन जाते हैं, क्योंकि मनुष्य का विकास सच्चे अर्थों में भाषा का विकास है। मनुष्य भाषा के द्वारा विचार विनिमय ही नहीं करता अपितु वह भाषा में जीता है। चूँकि भाषा के साथ ही इतिहास गतिमान है, अतः साहित्य की अभिव्यक्ति क्षणिक प्रभाव के दोष से हमेशा बची रही है। भाषा के स्तर पर पहुँचकर साहित्य चेतना विकासात्मक एवं प्रवाहमान हो जाती है, जिसमें परम्परा का संवहन भी होता है और नवीनता का समावेश भी।

रचना के स्तर पर रचनाकार के अनुभव के उतर जाने पर साहित्य तीन आयामों में नियन्त्रित हो जाता है। उसका पहला आयाम रचनाकार का युगीन जीवन होता है जो यथार्थ के रूप में स्वीकारा जा सकता है। दूसरा आयाम वह है, जब रचनाकार ने अपने भाव जगत् में समस्त अनुभव को रखा और यथार्थ में अनुभूति और प्रत्यय का प्रयोग करके अभिव्यंजित किया। पुनः साहित्य का तीसरा आयाम वह है जो पाठक के मानस पटल पर जीवन-अनुभव हो सकता है। इन तीन आयामों पर आधारित होने के कारण ही उसमें परम्परा और सम्भवनाएँ बराबर बनी रहती हैं। इसीलिए साहित्य और मानव-जीवन के इतिहास का सम्यक् सम्बन्ध है। यही कारण है कि साहित्य का अनुभव साहित्यकार का ही अनुभव नहीं रह जाता अपितु वह सबका अनुभव हो जाता है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य यथार्थ से जुड़ता है और उसकी माप बुद्धि द्वारा करता है। मनुष्य साहित्यकार के रूप में यथार्थ की जीवन घटनाओं से प्रभावित एवं प्रतिक्रियान्वित होकर चिन्तन करता है और उसका अनुभूति के द्वारा भावन करके मूल्यों के रूप में अभिव्यंजित करता है जिन मूल्यों का और सर्जन-प्रक्रिया का मापक मनुष्य की बुद्धि ही होती है। मानव अपने सांस्कृतिक विकास-क्रम में सृजनशील मानव का ही अनुकरण करता है या कि उसकी रचना का अनुकरण करता हुआ सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि की ओर गतिशील होता है। साहित्य का उद्देश्य मानव की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों को संश्लेषित करना या उसको चरम मूल्यों की ओर ले जाने का प्रयास करना या जिन मूल्यों तक मानव पहुँच चुका है उससे आगे तक उसे ले जाना है।

संप्रेषण की प्रक्रिया में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह निश्चय ही आद्यांत सामाजिक वस्तु होती है। भाषा ही एक ऐसा समर्थ माध्यम है जो अतीत को अपने में समेटे भी रहता है साथ ही वह वर्तमान को आगे बढ़ाता है तथा भविष्य की तमाम सम्भावनाओं को उद्घाटित करता है। मूल्यों एवं रचनात्मक विशिष्टता के रूप में साहित्य को व्यक्ति के समकक्ष सिद्ध करते हुए सुमन राजे ने कहा है – "रचनात्मक, क्रियात्मक एवं अभिनयात्मक शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण साहित्य को एक सामाजिक संस्था होने का गुण प्राप्त है। जिस प्रकार संस्थाओं की कुछ निर्धारित संरचना होती है उसके कुछ मूल्य और आदर्श होते हैं और उसके सदस्य उसी के अनुसार भूमिका अदा करते हैं, भूमिकाओं के प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करने का प्रयास करते हैं। उसी प्रकार साहित्य-संस्था की भी निर्धारित संरचना रहती है, सीमाएँ होती हैं।" (सुमन राजे, साहित्येतिहास संरचना और स्वरूप, पृ. 56-57) वस्तुतः साहित्य समस्त सांस्कृतिक मूल्यों की परिणति है तो समस्त सांस्कृतिक मूल्यों की परिणति मानव-जीवन की संश्लिष्टता में साहित्य में ही हो सकी है। साहित्य तक पहुँचकर समस्त सांस्कृतिक मूल्य अपनी अवयवपरकता से मुक्त होकर एकनिष्ठ विकास के लिए स्वतन्त्र हो जाते हैं।

1.1.04. इतिहास-प्रक्रिया में साहित्य का मूल्य-बोध

मानव-जीवन का इतिहास सम्पूर्ण मानव की समस्त उपलब्धियों का इतिहास है जो अपनी व्याख्या और परम्परा के संवहन में सक्रिय है, क्योंकि इतिहासकार, जो इतिहास का विश्लेषण करता है, स्वयं इतिहास का उत्पाद्य होता है। अतः इतिहास को एक प्रवाहमान प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करके चला गया है। इतिहास अनेक घटित घटनाओं का प्रक्रियाक्रम होते हुए भी मानव की सांस्कृतिक उपलब्धि को परिणति भी देता चलता है। साहित्य भी इन घटित घटनाओं या यथार्थ की सम्वेदना तथा अनुभूति का अनुभव के स्तर पर निर्माण ही है। मानव-इतिहास के साथ उसके चिन्तन तथा ज्ञानार्जन का इतिहास जुड़ा हुआ है। इस प्रविधि में कुछ जानना या जानने का प्रयास करना ही इतिहास नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त मानव ज्ञान का जब तक निर्वैयक्तीकरण नहीं होता तब तक उस ज्ञान की कोई परम्परा भी नहीं बन पाती। मनुष्य हमेशा अपने विचार को सबका विचार बना देने की कोशिश करता रहा है, ताकि वह विभिन्न वस्तुओं एवं जीवन-प्रकृति के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया को समस्त मानव समाज की प्रतिक्रिया होने की स्थिति तक ला सके। अतः व्यक्ति चेतना की सार्वभौमता के लिए अन्वेषण एवं प्रयास के परिणाम स्वरूप मनुष्य भाषा की खोज कर सका। अतः भाषा के विकास तक पहुँचकर वह एक समर्थ साधन तक पहुँच सका जिससे वह अपने विचार एवं भावों का विनिमय करने में समर्थ हुआ। मनुष्य जो कुछ चिन्तन करता है, उस चिन्तन और अनुभूति का संप्रेषण भी भाषा में ही करता है। अतः भाषा उसका साधन और साध्य दोनों है और साहित्य में भाषा को रूप के स्तर पर ग्रहण किया जाता है। वह साहित्य का माध्यम नहीं है। भाषा एक व्यक्ति की चीज भी नहीं अपितु प्रतीकात्मक स्तर पर आद्यन्त रूप में सामाजिक चीज है। अतः भाषा में परम्परा का संवहन करने की अन्तिम शक्ति होती है।

वस्तुतः मानव-जीवन का इतिहास आत्यंतिक रूप में उसकी भाषा या अभिव्यक्ति की क्षमता का विकास है। भाषा में यह शक्ति भी है कि वह परम्परा का संवहन कर सके साथ ही वह नवीन सम्वेदनों को ग्रहण करके परम्परा में परिवर्तन कर सकने की सामर्थ्य रखती है। विज्ञान, दर्शन, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं समस्त मानव की विद्याओं की अभिव्यक्ति भाषा में ही सम्भव हुई। साहित्य भाषा की संप्रेषणीयता का अन्तिम परिणाम है। देवराज के अनुसार – "मानवीय विधाएँ मुख्यतः मनुष्यों के न कर्मों और कर्मों के प्रभावों को अध्ययन करती हैं, जिनका स्वयं कर्म करने वाली तथा दूसरे मनुष्यों पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु वे विधाएँ कतिपय ऐसी मानवीय स्थितियों का भी विचार करती हैं, जो किसी मनुष्य या मानव-समूह के सचेत संकल्प का परिणाम न होते हुए भी विभिन्न मनुष्यों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती हैं और मनुष्यों को प्रभावित करती हैं (देवराज, संस्कृत का दार्शनिक विवेचन, पृ. 81)

साहित्य भी एक विद्या है, फिर भी मानव-जीवन की रचना होने के कारण स्वयं मूल्य भी है। इसमें परम्परा को समाहित करके जीवन को परिष्कृत करने की अपार शक्ति होती है तथा साहित्य के माध्यम से ही समाज में मूल्यों की स्थापना भी होती है और कभी-कभी या प्रायः प्राचीन मूल्य तोड़े भी जाते हैं। समाज में विभिन्न मूल्यों का संश्लिष्ट साहित्य के माध्यम से ही होता रहा है। साहित्य में समस्त सांस्कृतिक मूल्य-समाहित होकर संश्लिष्ट

रूप में आते हैं। साहित्य के स्तर तक पहुँच कर भाषा अत्यन्त समर्थ रूप ग्रहण कर लेती है, जिसमें लालित्य-बोधीय मूल्य के साथ समस्त मानव-मूल्यों का समाहार होता है।

रचनाकार मूल्यों को पकड़ता है, उन्हें मानव-जीवन के वर्तमान से जोड़ता है और उनमें उन अपेक्षाओं को भी भरता चलता है, जिनकी-समाज की गति और उत्कर्ष एवं परिष्कार हेतु आवश्यकता होती है। साहित्यकार का कार्य मूल्यों को ढोना नहीं अपितु मानव-सृष्टि के साथ मूल्यों की ओर बढ़ना है, जिस प्रविधि में कुछ को छोड़ना भी आवश्यक होता है और नए को आत्मसात् करना। अतः साहित्य अपने अंदर युग-युग का इतिहास समेटे हुए है, उसमें मानव-जीवन की समस्त उपलब्धियों का संगम है और सम्भावनाएँ भी। साहित्य अपने सर्जनात्मक सातत्य में सांस्कृतिक मूल्यों का विकास और संश्लेषण भी है। साहित्य में चेतना के स्तर पर समस्त युग समाहित होता है तो साहित्य युग-निरपेक्ष मूल्यों का संवहन भी करता चलता है इस सन्दर्भ में कि साहित्य का विस्तार मानव-मन के साथ गतिशील होता है। साहित्य समाज से सम्बद्ध है, किन्तु परम्परा निहित होने पर भी नया होने की प्रक्रिया को आत्मसात् करता चलता है। अतः इतिहास की भाँति साहित्य भी गतिशील और लोचदार संस्था है।

1.1.04.1. लोक चेतना और साहित्यिक चेतना

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से साहित्य का सर्वेक्षण किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि प्रत्येक युग की लोकचेतना एवं साहित्यिक चेतना अपने ऐतिहासिक क्रम में एक दूसरे के समानान्तर गतिशील होती है। लोक-चेतना, साहित्यिक चेतना की आधार पीठिका और उपादान होती है और पश्चात् साहित्यिक चेतना के द्वारा लोक-चेतना परिष्कृत होती है। इतिहास लोक-चेतना का अपने नवीन सन्दर्भों में पुनर्लोकन करता है तो साहित्य-इतिहास, साहित्यिक चेतना का पुनर्लोकन करता है, जहाँ लोक-चेतना का भावनोपरान्त एक विशिष्ट रूप सांस्कृति मूल्यों के साथ झलकता है। वस्तुतः लोकचेतना और साहित्यिक चेतना में समानान्तरता अवश्य होती है, लेकिन एकात्मकता नहीं हो सकती है। दोनों चेतनाओं की पार्थक्यहीनता में देखने के कारण उनकी अन्तर्संबद्धता होती है। साहित्य मनुष्यों के युग से ज्यादा परिवेश से सम्बद्ध होता है और वह मनुष्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओं का विश्लेषण और निर्माण प्रस्तुत करता है। एक मनुष्य एक युग के भीतर आ सकता है किन्तु वह एक परिवेश में जीवनयापन नहीं कर सकता। यही कारण है कि मानव-जीवन विविध जटिलताओं का संवाहक होता है। साहित्य में इन जटिलताओं की सर्जना होती है। अतः साहित्य में सर्जक की रचनाधर्मिता का महत्त्व यथार्थ या तथ्य से ज्यादा हो जाता है।

मनुष्य अपने जीवन-विकास में एक मूल्य को ग्रहण भी करता है और अनेक मूल्यों की टक्कर भी सहता चलता है। एक ही साथ अनेक मूल्यों को स्वीकार करके चलना भी मानव का विशेष गुण है। साहित्य अपने समकालीन मानव के जीवन-मूल्यों को स्वीकार करता चलता है। वह एक साथ ही धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक मूल्यों के साथ ही गतिशील रहता है। तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानव-जीवन एवं साहित्य समस्त सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि की ओर विकसनशील रहे हैं। मानव-जीवन

और साहित्य समानान्तर रूप में अजस्र धारा में गतिशील रहा है। यहाँ पहुँचकर साहित्य सांस्कृतिक मूल्यों का उपादान नहीं अपितु मानव-जीवन के लिए स्वयं मूल्य होता है, जहाँ मानव-जीवन को पहुँचना होता है।

1.1.04.2. साहित्येतिहास की दृष्टि

साहित्येतिहास की दार्शनिक व्याख्या तक पहुँचने के लिए मानविकी इतिहास को मूल्यों के क्रम में पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करके ही चलने का आद्यन्त प्रयास किया गया। यद्यपि साहित्य को कला के रूप में मानने वाले साहित्य को पूर्णतः स्वायत्त तथा उसके कलात्मक सौन्दर्यबोधीय मूल्य को शाश्वत और सार्वभौम मानते हैं। अतः शाश्वतता का इतिहास कैसा ? उनकी दृष्टि में साहित्य में मानव के विकास की जटिलता एवं परिवर्तनशीलता का अस्तित्व नहीं है। सच बात यह है कि साहित्य की रचना में विधेयवादी दृष्टि को उसकी रचनात्मकता में स्वीकार करना ही होगा। साथ ही उन खतरों के प्रति भी सचेष्ट रहने की आवश्यकता है जिसके कारण साहित्य का इतिहास विधेयवादी इतिहास या कि सामाजिक इतिहास ही न हो जाए। साहित्य का इतिहास, इतिहास भी है और रचना भी। मानव की सामाजिक प्रवृत्ति, उसकी परम्परा निर्माण की क्षमता, सांस्कृतिक उपलब्धि के सन्दर्भ में प्रगमन और की ओर अपसरण के सन्दर्भ में ही साहित्य के इतिहास लेखन की आवश्यकता को महसूस किया जा सकता है। मनुष्य अपनी चेतना का सामान्यीकरण करने की अपूर्व शक्ति रखता है। वह अपनी वैयक्तिकता का निर्वैक्तिकरण प्रस्तुत करने की स्थिति में हमेशा हो सकता है। अतः मनुष्य अपनी सृजनात्मकता में सापेक्षवाद का शिकार होता चलता है। फलतः वह परम्परा को छोड़ता चलता है। इसी परम्परा के रूप में वह मूल्यों की स्थापना भी करता चलता है। अपनी सम्पूर्ण उपलब्धि में मनुष्य सृजनशील है और उसकी रचनाशीलता संस्कृति के साथ साहित्य में प्रतिफलित होती है। मनुष्य रचना के निर्माण में परिवेश एवं परम्परा के परिवर्तन का प्रभाव ग्रहण करता चलता है। अतः साहित्यिक रूप, चेतना और अभिव्यक्ति आदि में परिवर्तन के साथ-ही-साथ सांस्कृतिक मूल्योंके अन्तर्गत ही गुणात्मक विकास या कि परिवर्तन होता चलता है। अतः मानव की रचनाधर्मिता, परम्परा एवं सांस्कृतिक रचनाशीलता आदि के क्रम में ही साहित्येतिहास की आवश्यकता है और इसी क्रम में साहित्येतिहास-दर्शन का विवेचन अपेक्षित ही नहीं आवश्यक है।

मानव-जीवन की धारावाहिकता या अजस्रता उसकी ऐतिहासिकता का ही बोधक है, क्योंकि मनुष्य ने जीवन और अनुभूति के स्तर पर जो गुणात्मक विकास किया, वह सामाजिक के रूप में ही किया। समस्त मानव कर्तृत्त्व प्रयोजन तथा सापेक्षवाद के स्तर पर इतिहास की चीज बन जाता है। इसी परम्परावादिता के स्तर पर ही मानव-जीवन अजस्र प्रवाह में प्रगामी होती है। इस रूप में व्यक्ति समाज के साथ अटूट सम्बन्ध के कारण ही परम्परा का वहन करता है और परम्परा में बहुत कुछ जोड़ता भी चलता है उसकी सृजनशीलता का दौर चलता है और विशिष्ट होता हुआ भी सामान्यीकरण का शिकार होता चलता है। यशदेव शल्य ने इस बात की ओर संकेत किया है – "मनुष्य को उसकी जो विशेषता पशु से पृथक् करती है वह यह है कि वह प्रदत्तों के विश्व में नहीं रहकर व्यवस्थात्मक या संरचनात्मक विश्व में रहता है।" (यशदेव शल्य, संस्कृति मानव कर्तृत्त्व की व्याख्या, पृ. 1)

1.1.04.3. मानव की सृजनशीलता

मनुष्य अपने जीवन के प्रवाह में विषय और अर्थ का आनुषांगिक प्रयोग करता चलता है न कि क्रिया के क्षण में मात्र संवेदित होता है। अर्थवत्ता के साथ जुड़कर ही मानव-व्यवहार एक सामाजिक व्यवस्था का अंग बनता है। यह अर्थवत्ता भी समाज सापेक्ष होने के कारण होती है। इसीलिए वह संरचनात्मक होता चलता है। इस बीच वह कारण की शृंखला से अपने को मुक्त पाता है। लेकिन उसकी स्वतन्त्रता निश्चय ही समाज के बन्धन में ही हो सकती है, क्योंकि उस दौरान अपनी बौद्धिकता के कारण ऐसा करने के लिए बाध्य होता है। इस प्रक्रिया में वह भोक्ता न होकर कर्त्ता होता है, क्योंकि वह अपनी बौद्धिकता एवं अवधारणा तथा संवेगों का निर्वैयक्तीकरण करता है। उस समय मनुष्य संरचनात्मक वृत्ति में जीता है और वह व्यक्ति रूप से हटकर संस्कृति मानव होता है तथा वह व्यक्तित्व से आगे चलकर व्यक्तित्व के धरातल पर पहुँच जाता है। अगर वह सांस्कृतिक अस्तित्व में अपनी चेतना का लय करता होता है। यशदेव शल्य का विचार उल्लेखनीय है – "यह स्वतन्त्रता मानव की केवल संस्कृति-मानव के रूप में ही उपलब्ध होती है, व्यक्ति इसमें पूर्ण परतन्त्र है, सांस्कृतिक प्राणी के रूप में उसका स्वअधिष्ठित नहीं है, वह सांस्कृतिक स्व में अधिष्ठित है।'(यशदेव शल्य, संस्कृति मानव कर्तृत्त्व की व्याख्या, पृ. 3)

समाज की रचना को परमाणुकीय रचना के रूप में देखा जा सकता है। यह समस्त व्यक्तियों का केन्द्रक है। इन व्यक्तियों का आपस में आवेगात्मक सम्बन्ध होता है। देवराज ने मनुष्य की सृजनशीलता को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया है, (पृ. 14-15) –

(क) मनुष्य प्रकृति के वस्तुक्रम में अपने उपयोगात्मक तथा सौन्दर्यमूलक प्रयोजनों के अनुसार परिवर्तन और नए संगठन उत्पन्न करके अपनी सृजनशीलता को प्रमाणित करता है।

(ख) मनुष्य अपने परिवेश को एक सार्थक क्रम या व्यवस्था (Meaningfull Order) के रूप में जानता या ग्रहण करता है।

(ग) मनुष्य लगातार अपनी प्रतिक्रियाओं की सीमा में विस्तार करता रहता है; जिस यथार्थ के प्रति ये प्रतिक्रियाएँ की जाती हैं, वह भी निरन्तर विस्तृत होता रहता है।

(घ) मनुष्य की सृजनशील प्रकृति का सबसे स्पष्ट प्रकाशन उसकी प्रतीकबद्ध कल्पनामूलक निर्मितियों में होता है।

(ङ) सृजनशील कल्पना का सबसे प्रमुख कार्य यह है कि वह ज्ञात के आधार पर उच्चतर का भावन और प्रस्तुति करें – इस उच्चतर का सम्बन्ध हमारी नैतिक, सौन्दर्यपरक अनुभूतियों से होता है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत उच्चतर को यथार्थ बनाने का प्रयत्न ही मनुष्य जाति को प्रगतिशील बनाता है।

1.1.05. युगीन मूल्यों की प्रक्रिया और साहित्य

काल एक निरन्तर प्रवाहमान, सूक्ष्म, मनुष्य की गोचरता से परे उसकी पकड़ के बाहर की चीज है। मनुष्य निरन्तर प्रवहणशील की धारा में अपनी सृजनात्मकता का प्रयोग करता चलता है और जो उसने समग्र विकास में

सांस्कृतिक उपलब्धि की है, उसे जानना-समझना भी चाहता है। इस जानने के क्रम में वह अतीत का वर्तमान की आँखों से वर्तमान की समृद्धि एवं भविष्य की सम्भावनाओं के क्रम में ही देखता है। उसकी दृष्टि या कि देखने-परखने की अपनी सीमा है। अतः वह अनन्त कालखण्डों में ही रुचि विशेष के साथ एक काल सीमा के अंदर प्रवृत्ति विशेष की प्रधानता को देखता और समझता है और उसे विशेष नाम भी दे डालता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक युग सटे ईंट की भाँति हैं अपितु वे तरंगों की भाँति अजस्र रूप में प्रवाहित हैं जिसे अवरुद्ध करके मापा नहीं जा सकता है और न उसे परिवर्तित होने से रोका ही जा सकता है। अतः देश-काल के भीतर जब युग का निर्धारण किया जाता है तो निश्चिय ही उसमें मूल्यों का विशेष ध्यान दिया जाता है। समय के साथ मानव-कर्तृत्त्व के अन्तर्गत मूल्यों में अन्तर आता रहता है। अतः मूल्यों की प्रधानता के आधार पर ही युग का निर्धारण होता है, क्योंकि युगीन क्रम में मूल्य परिवर्तित होते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि मूल्य समाप्त हो जाते हैं अपितु उनके औचित्य का दृष्टिकोण बदलता रहता है जो मूल्य आज अत्यन्त आवश्यक एवं चरम मूल्य स्वीकार किए जाते हैं वे ही कल नितान्त रूप से हीन समझे जाते हैं। अतः मूल्य एक द्रव्य या गुण नहीं है अपितु वह एक अवस्था है, जिसकी स्थिति में है या नहीं है का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तो मात्र औचित्य का सवाल अर्थात् उसे ऐसा होना चाहिए है। मूल्य के स्तर पर नैतिकता का प्रश्न समाहित हो जाता है। यदि सुन्दर शब्द मूल्य के स्तर पर आता है तो वह संज्ञा न होकर सौन्दर्यात्मक मूल्य बन जाता है और तब इसका अर्थ होता है कि सौन्दर्य चरितार्थ है। मानव का कर्तृत्त्वाभिमान सौन्दर्य को ही कलाओं के माध्यम से चरितार्थ करता है। अतः यह होने की प्रक्रिया औचित्य अनौचित्य का सम्बन्ध है और उसी के अनुसार युग का निर्धारण भी हो जाता है। युग के साथ मूल्यों का और मूल्यों के साथ मानव की सृजनशीलता और धारावाहिकता का अभिन्न सम्बन्ध है।

किसी भी युग के अनुसार उस युग का साहित्य भी होता है या यों कहा जाए कि साहित्य के द्वारा ही विशेषतः किसी युग की चेतना का निर्धारण किया जा सकता है। किसी युग-विशेष में प्रवृत्ति-विशेष के इतिहास को निर्धारित करने में निरन्तरता और पृथकता की समस्या बनी रहती है। नलिन विलोचन शर्मा का मानना है, "एक तो तत्त्ववादी दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार युग ऐसी इकाई है जिसकी प्रकृति का उद्भावन करना आवश्यक है और दूसरा सर्वथा भिन्न नामवादी दृष्टिकोण जो मानता है कि कोई भी विचारणीय कालखण्ड, विवरण देने के निमित्त शाब्दिक व्यपदेश मात्र है। नामवादी दृष्टिकोण मान लेता है कि युग ऐसी वस्तु पर स्वेच्छा कृत बाह्यरोपण है जो अविच्छिन्न, दिशा-रहित वपर्यस्तता है। इसका अर्थ है कि हमारे सामने एक तरफ तो निश्चित घटनाओं की असम्बद्ध शृंखला रहती है और दूसरी तरफ विशुद्ध रूप से अन्तर्निष्ठ व्यपदेश रहते हैं। किसी भी युग में पीढ़ियों, सामाजिक, बौद्धिक और अन्य सांस्कृतिक संस्थानों का धारावाहिक समावेश होता है जिनके सामूहिक परिवर्तन का प्रभाव साहित्यिक परिवर्तन पर पड़ता है।" (नलिन विलोचन शर्मा, वही पृ. 42) युग और उसकी परिवर्तन की प्रक्रिया के सन्दर्भ में नलिन विलोचन शर्मा का विचार निम्नवत है, "युग सार्वभौम परिणमन का उपखण्ड मात्र है। उसका इतिहास मूल्यों की परिवर्तनीय योजना के प्रसंग में लिखा जा सकता है और यह भी सत्य है कि मूल्यों की ऐसी योजना को इतिहास से ही पाया जा सकता है। इस प्रकार युग एक कालखण्ड है, जिसमें साहित्यिक स्वरूपों, प्रतिमानों और रूढ़ियों के ऐसे पद्धति विशेष का प्राधान्य हो, जिसके आविर्भाव, विस्तार वैविध्य, समन्वय और तिरोभाव निर्धारित किए जा सकें। ... युग प्रकार का वर्ग नहीं है, बल्कि ऐसे स्वरूपों की एक विशेष प्रणाली से

परिभाषित कालखण्ड है, जो ऐतिहासिक प्रक्रिया में कीलित होते हैं और उससे अलग नहीं किए जा सकते। ... यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि कोई युग आदर्श प्रकार अथवा अमूर्त संस्थान अथवा वर्ग विभाजन की श्रेणी नहीं है, बल्कि एक ऐसा कालखण्ड है, जिसमें स्वरूपों की एक पूरी पद्धति की प्रधानता रहती है, जिसे कोई भी कलाकृति उसकी सम्पूर्णता में प्राप्त नहीं कर सकती।" (वही, पृ. 45-46) कोई युग ऐतिहासिक तभी हो सकता है जब प्रत्येक घटना समस्त पूर्ववर्ती अतीत की परिणति मानी जाए और उसके प्रभाव समस्त भविष्य में प्रलेखित हो सके।

सुमन राजे ने युग और धारा की प्रक्रिया एवं अध्ययन पद्धति पर विचार करने की बात उठाई है और उसको संक्षेप में नौ भागों में बाँटा है, साथ ही उन तत्त्वों की ओर भी संकेत किया है, जो युग के अस्तित्व में पृथक् होते हैं। युग के अध्ययन की पद्धति इस प्रकार है –

i. युग की मूल चेतना किस प्रकार निर्धारित की जाए ? प्रत्येक युग में धाराओं की द्वन्द्वात्मक स्थिति होती है। ... एक धारा ह्रासमान होती है, दूसरी विकासमान, जो चेतना आगे चलकर विकसित होती है। वही युग की मूल चेतना है। इतिहास के निर्माण में इसी का योग होता है।
ii. एक समस्या जीवित और जड़ भाषा की है। क्या केवल जीवित भाषा पर ही युग चेतना का प्रभाव पड़ता है या अन्य पर भी ? इसका अध्ययन आवश्यक है। ... तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् जीवित भाषा को काल का प्रतिनिधि माना जा सकता है।
iii. युग के प्रमुख कवियों ने अपने काव्यादर्श को किस रूप में परिभाषित किया है। इससे भी युग की मूल चेतना समझने में सहायता मिल सकती है।
iv. किसी युग विशेष में, किसी कृति में जो परिवर्तन होते हैं, उसका प्रकार युग निर्धारण में सहायता देता है।
v. उस युग के आदर्श एवं अनुकरणार्थ कवि कौन-कौन हैं ?
vi. उन आचार्यों का परिचय प्राप्त करना होगा जिनके बताए कायदे कानून विधि-निषेध और आदर्श इस काल में स्वीकार किए गए।
vii. उन लोकप्रिय किंवदन्तियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है जो श्रेष्ठ समझे जाने वाले कवियों और साहित्यकोश में प्रचलित हो गई थीं।
viii. उस युग में लिखित पूर्ववर्ती रचनाओं की टीका-टिप्पणियों का अध्ययन।
ix. सृजनात्मक समीक्षा के दिशाबोध करने में सहायक हो सकता है। (सुमन राजे, पृ. 157)

उन्होंने आगे युग के पृथक् अस्तित्व के प्रमुख घटकों को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है –

i. थोड़ा बहुत प्रभाव प्रायः सभी समकालीन धाराओं पर।
ii. भाषा के परिवर्तन की इकाई।
iii. वस्तु और रूप दोनों में परिवर्तन।
iv. मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन का अस्तित्व।

v. सांस्कृतिक युग की दृष्टि से उसकी स्थिति। क्या सांस्कृतिक दृष्टि से भी पृथक् सत्ता है ?
vi. अन्य ललित कलाओं के आधार पर उस युग की स्थिति का निर्धारण।
vii. अन्य समकालीन भाषाओं में उस युग की स्थिति ।
viii. युग-चेतना का केन्द्र कहाँ स्थित है ?
ix. उस युग का शैली वैज्ञानिक अध्ययन।

इसके साथ ही देखा जाना अपेक्षित है कि एक समकालीन रचनाकार कितनी दूर तक दूसरे समका लीन रचनाकार का साझीदार है और कितनी दूर तक वह पृथक् भी है। इस समानता और पृथकता के आधार पर कृति का मूल्य निर्धारित करने में सहायता मिलती है। दूसरी स्थिति यह भी देखी जानी चाहिए कि कोई विशेषता सम्पूर्ण खण्डों में पाई जा रही है या रूपान्तर के रूप में भिन्न होती जा रही है।

1.1.06. साहित्येतिहास की रचनात्मक दृष्टि

साहित्येतिहास प्रक्रिया को एक द्विधा प्रक्रिया बताते हुए डॉ॰ सुमन राजे ने कहा है कि 'साहित्य-इतिहास' मूलतः साहित्य है। अस्तु, साहित्य के तत्त्व उसके मूल निर्देशक है। उसका विधान इतिहास-विज्ञान का है, और जन्म तथा पल्लवन समाज विज्ञान का।" (सुमन राजे, पृ. 220) इसी के साथ उन्होंने सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में इतिहास लेखन के लिए पद्धति शास्त्र का भी जिक्र किया है। साहित्य एक रचना है जिसमें धर्म, दर्शन, समाज और संस्कृति का अजस्र प्रवाह अपने इतिहास एवं समसामयिक सन्दर्भ के साथ एक रचनात्मक संश्लेष हो। आवश्यक है एक सृजनशीलता को उसके विकासपरक प्रवाह के साथ पूरे प्रभाव एवं समग्रता में वर्तमान की सृजन शक्ति और प्रगामी सम्भावना को विकसित करने के लिए मानव-जीवन के समक्ष प्रस्तुत किया जाए। अतः उसके लिए (साहित्येतिहास के लिए) आवश्यक है कि उसमें भी रचनात्मक संश्लेष हो। साहित्येतिहासकार में युग-बोध इतिहास एवं समाजशास्त्रीय इतिहास, संस्कृति, दर्शन और धर्म के साथ समसामयिक परिप्रेक्ष्य का भी बोध होना चाहिए, साथ ही उसे साहित्य की रचनाधर्मिता का भी बोध होना चाहिए क्योंकि उसे साहित्य-बोध को प्रस्तुत करना है और उसके अनुभव संश्लेष में। चूँकि अन्य इतिहास की भाँति साहित्येतिहास वर्तमान की आँखों से अतीत की घटनाओं एवं तथ्यों का विश्लेषण-विवेचन नहीं अपितु युग-चेतना एवं साहित्य-चेतना के प्रवाह में समसामयिक सृजनशीलता को दिशा एवं शक्ति प्रदान करना है। इसके लिए जिस भाषा का वह प्रयोग करता है या उसे करना चाहिए वह निश्चय ही इतिहास की वस्तुनिष्ठ एवं वर्णनात्मक भाषा नहीं होती अपितु उसकी भाषा में उसकी सृजनशीलता का भी समावेश होता है। वह इतिहासकार तो है ही, एक सच्चे अर्थों में सृजनशील भी होता है या उसे होना चाहिए। नलिन विलोचन शर्मा का विचार है कि "साहित्य का इतिहास अधिक व्यंजक रूप होगा। साहित्यिक इतिहास जरूरी है कि साहित्य भी हो और इतिहास भी।" (नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 34)

साहित्येतिहासकार के लिए आवश्यक है कि वह अपने परम्परित विकास में स्व-संस्कृति या आत्म-स्व को सांस्कृतिक समाज में अधिष्ठित करके साहित्य के युगीन विकास को देखे और इसी समग्रता में प्रस्तुत कर दे। इसके लिए उसमें एक साथ ही मनोविज्ञान, समाजशास्त्रीय, साहित्यिक एवं आलोचनात्मक शक्ति एवं क्षमता का

होना आवश्यक है। नलिन विलोचन शर्मा का विचार है कि "साहित्यिक इतिहासकार के पास पर्याप्त रूप से समृद्ध अन्वीक्षिकी रहनी चाहिए। तभी वह इन विभिन्न कारणभूत तत्त्वों का विचारणीय प्रत्येक प्रवृत्ति और लेखक के प्रसंग में उपयोग कर सकता है और कभी एक प्रकार के कारण और कभी दूसरे पर बल दे सकता है, पर यह भूले बिना कि सरलतम सांस्कृतिक तत्त्वों में भी कारणत्व की जटिलता वर्तमान रहती है।" (वही, पृ. 31)

वस्तुतः साहित्येतिहास संरचना एक वस्तुनिष्ठ रचना प्रक्रिया है। अतः उसकी रचनात्मक दृष्टि पर विचार कर लेने के बाद उसके उन सिद्धान्तों का विवेचन कर लेना चाहिए जिनको आधार बनाकर प्रतिभाशील व्यक्त साहित्य के इतिहास को स्थापित कर सकता है। शिवकुमार ने नलिन विलोचन शर्मा के साहित्येतिहास लेखन सम्बन्धी नियमों का संक्षेप में आठ भागों में उल्लेख किया है (शिवकुमार मिश्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास-दर्शन , पृ. 80) –

1) ऐतिहासिक प्रक्रिया को किसी मूल्य या आदर्श से सम्बद्ध किया जाए। केवल तभी घटनाओं की ऊपर से निरर्थक लगने वाली श्रेणी अपने तत्त्वभूत उपकरणों में विभक्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में ही हम ऐसे ऐतिहासिक विकास की बात कर सकते हैं जो घटना विशेष की वैयक्तिकता को अक्षुण्ण रहने दे।
2) साहित्येतिहास में भिन्न प्रकार की कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट किए जाएँ और उनके प्रेरणा स्रोतों का विवेचन किया जाए।
3) युग विशेष की रचनाओं की समानताओं का विश्लेषण किया जाए।
4) लेखकों के साहित्यिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला जाए अर्थात् यह स्पष्ट किया जाए कि किस लेखक ने किस अन्य लेखक से प्रेरणा ली है।
5) परम्परा विशेष में प्रत्येक कृति का सही-सही स्थान निर्धारित किया जाए।
6) साहित्यिक इतिहास में साहित्यालोचन और ऐतिहासिक बोध का सम्यक् समन्वय परमावश्यक है। ऐतिहासिक बोध साहित्य के विकास से सम्बन्धित होना चाहिए।
7) साहित्यिक इतिहास में प्रत्येक प्रमुख कृति की विशिष्टता और मौलिकता साहित्येतिहास के प्रवाह में विलीन नहीं होनी चाहिए, उसकी अलग संज्ञा बनी रहनी चाहिए।
8) साहित्य के इतिहासकार को दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के क्षेत्र में दखल नहीं देना चाहिए, क्योंकि साहित्य का इतिहास-लेखन एक विशिष्ट ज्ञान है और उसकी विशिष्ट पद्धति है।

साहित्येतिहास की रचना-प्रक्रिया में पद्धतिशास्त्र का महत्त्व स्वीकार करते हुए सुमन राजे ने साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया है –

1) सामग्री संकलन सम्बन्धी (सुमन राजे, पृ. 220)
2) प्रामाणिकता निर्धारण सम्बन्धी
3) सम्बन्ध निर्धारण सम्बन्धी
4) कार्य-कारण निर्धारण सम्बन्धी

5) मूल्यांकन सम्बन्धी
6) प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी

साहित्येतिहास केवल कृति का सौन्दर्य प्रदर्शन मात्र नहीं करता और न उसका सम्बन्ध रचनाकारों से ही होता है जो आलोचना के आधार होते हैं। साहित्येतिहास में उन गौण कवियों को भी समाहित किया जाना चाहिए जो काल-विशेष में युग-विशेष का बोध देते हैं।

अतः साहित्येतिहास में प्रतिदर्श ग्रहण करने का प्रश्न भी उठता है कि यह प्रतिदर्शन किन आधारों पर किया जाना चाहिए। डॉ॰ सुमन राजे ने निम्नलिखित भागों में उसका संकेत किया है (वही पृ. 233 – 234) –

01. किस रचना से हमें बदलाव की दिशा का बोध होता है ?
02. परवर्ती धारा पर उसका प्रभाव किस सीमा तक पड़ा ?
03. भाषा के इतिहास के अध्ययन में वह कहाँ तक सहायक है ?
04. युग का प्रतिनिधित्व उसमें कहाँ तक हुआ है ?
05. किस कृति की कितनी प्रतियाँ मिलती हैं ? अथवा उसके कितने संस्करण हुए हैं ? उसकी लोकप्रियता की मात्रा कितनी है ?
06. किस कृति पर कितनी टीकाएँ लिखी गईं ?
07. परवर्ती कवियों द्वारा उसका उल्लेख किस मात्रा में किया गया।
08. कितने समय तक उस पर आलोचना होती रही ?
09. यदि कृति विकासशील है तो उसके मौखिक रूप से प्रचलित रहने की अवधि कितनी रही ? अर्थात् कृति में जीवन्तता किस मात्रा में है ?
10. उसकी प्रतियाँ किन-किन स्थानों में उपलब्ध हुई ? अर्थात् उसका भौगोलिक क्षेत्र क्या है ?
11. उसका कलात्मक मूल्य क्या है ?

1.1.07. साहित्येतिहास की अवधारणा

वस्तुतः साहित्य का इतिहास जैविकीय इतिहास से भिन्न इतिहास है। 19वीं शताब्दी के पहले साहित्य का इतिहास हो सकता है, नहीं सोचा जा सकता था और उससे भी ज्यादा उसके दर्शन के प्रति वैज्ञानिक विकास के साथ साहित्यिक अध्ययन में विज्ञान की परिमाणमूलक प्रणालियों को भी समाहित करने की कोशिश की गई। नलिन विलोचन शर्मा का विचार है, "साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास ही हो सकता है। इस पर सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्रों में गुँथी आलोचनाओं का रूप ग्रहण करता रहा है।" (पृ. 1) इस कथन में यह भाव है कि साहित्य इतिहास पूर्णतः इतिहास नहीं है, किन्तु फिर भी साहित्य के इतिहास का होना सम्भव है। साहित्य में रचनात्मकता और मनुष्य की रचनाधर्मिता तथा अनुभव एवं चेतना का गुणात्म क विकास होता है। अतः वह मात्र

घटनात्मक और तथ्यात्मक नहीं हो सकता। साहित्येतिहास मानव की सर्जना शक्ति और क्षमता का इतिहास के साथ विकास है जो युग के सन्दर्भ में युगीन क्रिया को नई शक्ति और विकास देता है। साहित्येतिहास में इतिहासकार की अन्वीक्षिकी शक्ति की अपेक्षा और समस्त शिक्षा अनुशासनों के बोध के साथ रचनात्मक दृष्टि होनी चाहिए। युग-सन्दर्भ में युग मानव के विविध मूल्यों का मूल्यांकन साहित्येतिहास में होता है। इसके बिना साहित्य-रचना का कोई औचित्य एवं अर्थवत्ता तथा सार्थकता नहीं है। अतः साहित्येतिहास में आलोचनात्मकता का समावेश एवं आवश्यक तत्त्व है।

डॉ॰ शिवकुमार मिश्र का मानना है कि "साहित्येतिहास साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित सैद्धान्तिक तथा विश्लेषणात्मतक चिन्तन है। यदि इतिहास दर्शन अनेक रूपी मानवेतिहास एवं मानव संस्कृति के मूलभूत सत्य, उसके विकास उसके लक्ष्य तथा उसके रचना विधान को समझने का तथ्याधारित ज्ञान है, तो साहित्येतिहास दर्शन अथवा साहित्येतिहास-लेखन का दर्शन शास्त्र साहित्येतिहास के मूल स्वरूप उसकी प्रेरक शक्तियों उसकी विकास-प्रक्रिया, उसकी गतिशीलता सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों तथा उसके लेखन से सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन है। ... साहित्य के इतिहास से तात्पर्य देश-काल के आयाम में विकसित साहित्य की समग्रता से भी है तथा भाषा द्वारा उसके व्याख्यात्मक विवरण से भी। साहित्येतिहास-दर्शन उसके दोनों दोनों पक्षों पर विचार करता है। इसलिए इसके भी दो प्रमुख पक्ष है : (1) सैद्धान्तिक तथा (2) व्यवहारिक।" (शिवकुमार मिश्र, पृ. 14) इसकी मूल धुरी साहित्येतिहास की गत्यात्मकता है, क्योंकि किसी भी युग में अन्तिम इतिहास नहीं लिखा जा सकता। समय-सापेक्ष इतिहास बढ़ता और विकसित होता रहता है। सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास से सम्बद्ध होने के कारण साहित्येतिहास का विकास और निश्चित हो जाता है। अपनी विकासमान स्थिति में यह दर्शन यह देखने की कोशिश करता है कि एक रूढ़ि क्यों बदलती है और उसका स्थान दूसरी रूढ़ि क्यों ले लेती है ? साथ ही, एक विशेष क्षण में परिवर्तन के कारण खोजना भी साहित्येतिहास-दर्शन का कार्य है। इतिहास-दर्शन साहित्य के विकास में जैविकीय विकास से ज्यादा गुणात्मक विकास को ही स्वीकार करके चलता है। साहित्येतिहास की इस संश्लिष्ट समग्रता को प्रस्तुत करते हुए नलिन विलोचन शर्मा ने कहा है कि "ऐतिहासिक बोध, राष्ट्रीय अथवा भाषागत विशेषताओं का विचार फिर पार्थक्य में अन्तर्निहित सम्पृक्तता का अभिज्ञान तथा युग की प्रवृत्तियों और विकास की चेतना जब प्रत्नतत्त्वानुसंधान वृत्ति से समन्वित होते हैं और शताब्दियों से एकत्र होती सामग्री का वे तत्त्वानुसंधान वृत्ति से समन्वित होते हैं और शताब्दियों से एकत्र होती हुई सामग्री का वे अपने युग की द्वन्द्वान्तता की दृष्टि से उपयोग करते हैं, तब साहित्येतिहास का निर्माण होता है।" (नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 3) साहित्य के इतिहासकार को सार्वभौम साहित्य के अन्तर्गत समस्त कलाकृतियों के विकास को निर्धारित करने के साथ उसे सम्पूर्णता में विभावना देना पड़ता है। इस प्रविधि में उसे कृतियों के संचयन के कारण वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में होने वाले परिवर्तन का भी निर्धारण करना पड़ता है।

साहित्येतिहास को सम्भावना के साथ प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उसमें सत्य, यथार्थ की कोई महत्ता नहीं; परन्तु वस्तुयथार्थ की सत्ता का विश्लेषण होता है। साहित्येतिहास में राजनैतिक, सामाजिक, कला तथा शास्त्र सम्बन्धी निष्कर्षों का समन्वय हो सकता है किन्तु उनका आरोप नहीं हो सकता। साहित्येतिहास में युग विभाजन

के महत्त्व को स्वीकार किया गया हैं, किन्तु युग एवं सामाजिक वर्गों के परिवर्तन मात्र से इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यह बहुत कुछ आन्तरिक प्रक्रिया है जो परिवर्तन की कामना तथा सामाजिक, बौद्धिक और अन्य सांस्कृतिक परिवर्तनों पर निर्भर करती है। साहित्येतिहास को ललित कलाओं के साथ रखकर देखने की आवश्यता है साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसे भौतिकतावादी एवं विधेयवादी दृष्टि से भी देखा परखा जाए।

साहित्येतिहास मानव मन की अभिव्यक्ति से जुड़ता चलता है और इस रूप में इसका क्षेत्र काफी विस्तृत एवं जटिल हो जाता है। सुमन राजे के अनुसार "जीवन के मूल्यों का युगानुकूल रूप मानव की अनुभूति चिन्ता और कह सकें तो साधना से सम्बन्धित विविध क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान नवीनतम प्रगति के संधात द्वारा निर्धारित होता है। अतः इतिहासकार के लिए इस प्रगति एवं निहितार्थ की समझना आवश्यक है।"

अतः साहित्येतिहास लेखन में समस्त सामाजिक अनुशासनों का मूल्य के स्तर पर निर्धारण, युग, वर्ग, समसामयिक परिवेश, अतीत से वर्तमान का सम्बन्ध, भाविष्यगत सम्भावनाएँ वस्तु एवं रूप का सम्बन्ध निरूपण, भाषिक परम्परा एवं युग के इतिहास का बोध तथा उसकी आलोचना का रचनात्मकता के साथ सम्यक् बोध की आवश्यकता हेाती है जिसमें आलोचक की प्रतिभा एवं अन्वीक्षिकी शक्ति से इतिहास का सम्बन्ध होता है। यह सिद्धान्त एवं व्यवहार दो रूपों में पूरा हो सकता है।

1.1.08. पाठ-सार

साहित्य का इतिहास दर्शन इतिहास दर्शन के साथ अन्तर्सम्बन्धित है। साहित्य दर्शन को विश्लेषित करने से पूर्व इतिहास दर्शन का विश्लेषण किया गया। सबसे पहले अट्ठारहवीं शताब्दी में इस बात पर विचार किया गया कि इतिहास क्या है ? हेगेल, स्पेंगलर, आर.जी. कालिंगउड, ओकशाट एवं इ.एच. कार के विचारों को इसमें प्रस्तुत किया गया। यह पहली बार देखा गया कि इतिहास केवल तथ्य व आँकड़े से नहीं लिखा जा सकता। यह विचार आया कि तथ्य और आँकड़े निर्जीव होते हैं वे स्वयं नहीं बोलते अपितु उनकी मौनता में उन्हें बोलने के लिए बाध्य किया जाता है। चूँकि इतिहासकार एक जीवित प्राणी होता है, इसलिए वह जीवन जीता हुआ इतिहास लेखन का कार्य करता है। इसीलिए इतिहास एक जैविक प्रक्रिया है। इस पूरी प्रक्रिया में इतिहासकार युगीन आवश्यकता एवं अपेक्षा के सन्दर्भ में इतिहास को रचता है। वस्तुतः इतिहास अतीत की घटनाओं को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में सृष्ट करता है। सच तो यह है कि किसी युग में अन्तिम इतिहास नहीं लिखा जा सकता किन्तु किसी इतिहास को रद्द किया जा सकता है। इस पूरी प्रविधि में इतिहास मृत नहीं एक जैविक प्रक्रिया बन जाता है।

मनुष्य का विकास जीवन के समग्र मूल्यों का विकास होता है। यह केवल जैवकीय विकास नहीं होता अपितु मानसिक विकास होता है। मनुष्य का सारा विकास सांस्कृतिक मूल्यों का विकास होता है जिसका अधिष्ठान सामाजिक अधिष्ठान होता है, क्योंकि मनुष्य का सारा विकास समाज में ही होता है। उसकी सारी उपलब्धियाँ समाज को समर्पित होकर ही परम्परा या कि इतिहास की चीज बनता है। मनुष्य अपने सांस्कृतिक उपलब्धि के क्षण में व्यक्ति मन को मानव मन बनाता रहता है। इस पूरी प्रक्रिया में उसका व्यक्ति स्व सामाजिक स्व

बन जाता है। उस समय उसका अभिकेन्द्र व्यक्ति मन न होकर सामाजिक मन हो जाता है। मनुष्य जीवन का विकास उसके सामाजिक मूल्यों का विकास है जिसमें सामाजिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, धार्मिक और दार्शनिक मूल्य तथा कलात्मक मूल्य विकसित होते रहते हैं। इस पूरी प्रविधि में मनुष्य अपना बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक विकास करता है। इन्हीं आयामों में मूल्यात्मक विकास को विश्लेषित करने की चेष्टा की गई है।

मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है इसीलिए वह रचनात्मक है। रचनात्मक इस सन्दर्भ में कि वह अपनी समस्त उपलब्धियों को सबकी उपलब्धि बनाता चलता है। वह जो कुछ भी सोचता है अपनी बौद्धिक प्रक्रिया में उसे नया करता जाता है। मनुष्य का रचनात्मक धर्म परम्परा के निर्वाह में नहीं, बल्कि परम्परा को तोड़ने में है और वह एक नई परम्परा को जन्म भी देता है। इस रूप में मनुष्य की रचनाधर्मिता को उसके विकास से जोड़ा गया है। रचनात्मक होने के कारण ही मनुष्य तमाम मनुष्यों को एक साथ विकसित करता है और एक युग का निर्माण भी करता है। युग निर्माण की पूरी प्रविधि में उसका सामाजिक मन अग्रसर होता रहता है और युग के सन्दर्भ में एक इतिहासपुरुष को निर्मित करता चलता है। यही इतिहास की निर्मिति उसे वैज्ञानिक बोध की तरफ ले जाती है। इसी वैज्ञानिकता के कारण मनुष्य आत्मचेत्ता या इतिहास चेत्ता होता है। इस पूरी ज्ञानात्मक उपलब्धि की प्रक्रिया में अपनी अनुभूत एवं कल्पना का गुणात्मक विकास कर रहा होता है। इस अनुभूत एवं गुणात्मक विकास के क्रम में ही मानव ऐतिहासिक विकास करता है। अब इतिहास दर्शन मनुष्य के समग्र मूल्यात्मक विकास को निर्धारित करता है। अपनी अनुभूत एवं गुणात्मक विकास के क्रम में मनुष्य अपने को अभिव्यक्त भी करता चलता है।

मनुष्य बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक है इसीलिए वह रचनात्मक है। उसका सबसे बड़ा गुण है कि वह अपनी स्वायत्तता की रक्षा करते हुए अपने अनुभव जगत् को अभिव्यक्त करता रहता है। यह उसकी सबसे बड़ी शक्ति है कि अपने अनुभव जगत् को विकसित करते हुए सबके अनुभव जगत् को विस्तार देता रहता है। इस पूरी प्रक्रिया में अपने सौन्दर्यबोध का युग सापेक्ष अभिव्यंजन करता चलता है। उसका यह सौन्दर्य बोध केवल सुन्दरता का निर्माण नहीं होता अपितु मानव-जीवन की तरह वह भी अपने आप में मूल्य होता है। युग सापेक्ष सौन्दर्यपरक मूल्यों का सतत् विकास होता चलता है। अपने इसी सौन्दर्यबोधीय मूल्य प्रक्रिया में मनुष्य ललित कलाओं का विकास करता चलता है और अपने विधेयवादी दृष्टि के कारण उसे भी युग सापेक्ष परिवर्तित करते चलता है। इस प्रकार युग सन्दर्भ में परिवर्तन के साथ उसके कलात्मक अभिव्यक्ति का इतिहास होता चलता है जो मानवीकि विकास के साथ अग्रसर होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने ऐतिहासिक विकास में ललित कलाओं का विकास करता चलता है। ये ललित कलाएँ वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत, नृत्य और साहित्य कला के रूप में विकसित होती रहती हैं। चूँकि साहित्य भी एक कला है जो माध्यम के कारण अन्य कलाओं से भिन्न भी होता है, क्योंकि कलाओं का माध्यम स्थूल से सूक्ष्म होता है और माध्यम की प्रक्रिया में वह साहित्य से भिन्न भी होता है।

साहित्य अपने सौन्दर्यबोधीय अभिव्यंजना में जीवन की पुनर्रचना होता है। रचनाकार अपने यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में अपने अनुभव जगत् में जीवन को रचता है। इस प्रक्रिया में उसकी भाषिक अभिव्यंजना अन्य कलाओं की तरह माध्यम नहीं होती अपितु वह चिन्तन स्वरूप है कारण कि मनुष्य का चिन्तन उसका भाषिक चिन्तक होता है या यो कहें कि साहित्य चिन्तन की भाषा है। इस रूप में साहित्य अपने आप में मूल्य है। मानविकी विकास के

सन्दर्भ में ही साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस रूप में मनुष्य एक साथ अपने सभी सांस्कृतिक मूल्यों में संश्लिष्ट विकास करता है जिसे प्रमाणित करने के लिए उस युग की कलाओं का विश्लेषण आवश्यक होता है। चूँकि साहित्य रचनाकार मानव का भाषिक चिन्तन है जो स्वयं इतिहास का उत्पाद्य होता है इस दौरान दो विचारधाराओं पर विचार किया गया – एक विचारधारा साहित्य और कला को वैयक्तिक उत्पाद्य मानती है और युगनिरपेक्ष मानते हुए उसका इतिहास होता है इस बात को नहीं मानती। जबकि दूसरी विचारधारा उसको विधेयवादी या वस्तुवादी मानते हुए युगसापेक्ष विकास को निर्धारित करती है और यह मानती है कि समस्त कलाओं का और साहित्य का इतिहास होता है। इस बात को मान कर ही साहित्य के इतिहास पर और इतिहास दर्शन पर विचार किया गया। इतिहास दर्शन के सन्दर्भ में अनेक विचारों का विश्लेषण करते हुए उसमें वस्तु एवं रूप के अन्तर्द्वन्द्व को विश्लेषित किया गया। युग निर्धारण आदि के सिद्धान्तों की चर्चा की गई तथा साहित्येइतिहास दर्शन के अवधारणा को व्यक्त किया गया। इस दौरान विभिन्न विचारों को उद्धृत करते हुए साहित्य इतिहास दर्शन की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की गई। साहित्य के मूल्यांकन के साथ साहित्य इतिहासकार की अन्वीक्षिकी शक्ति की आवश्यकता को व्यक्त करने की चेष्टा की गई। इस रूप में विधेयवादी इतिहास को युगीन सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्त करने की बात को उठाया गया।

1.1.09. आधारभूत सामग्री

इतिहास दर्शन के सम्यक् बोध के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है, उनको निम्नवत प्रस्तुत किया जा सकता है –

01. सर्वप्रथम मानविकी इतिहास का समकालीन इतिहास दर्शन की दृष्टि से निर्धारण।
02. सामाजिक मनोवैज्ञानिक बोध की आवश्यकता।
03. सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्यमें युग निर्धारण की प्रक्रिया।
04. युगीन ललित कलाओं का सम्यक् बोध।
05. साहित्य का कला के रूप में तथा जीवन की पुनर्रचना के रूप में मूल्यांकन।
06. मानवीय अभिव्यक्ति के स्वरूप का निर्धारण।
07. विज्ञान एवं वैज्ञानिक विकास का निर्धारण।
08. विकासवादी दृष्टियों का मूल्यांकन।
09. विज्ञान दर्शन एवं साहित्य का अन्तरनिर्धारण।
10. साहित्य आलोचना के विविध स्वरूप का निर्धारण।
11. कला और साहित्य के विकास का बुनियादी तथ्य।
12. साहित्य का संचय तथा युगीन कलाओं का समीक्षात्मक प्रयोग।
13. किसी भी युग की तमाम रचनाओं का अध्ययन।
14. तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य।
15. भाषा का विकास और उसकी सृजनात्मकता का अध्ययन।

16. काल निर्धारण और नामकरण की प्रक्रिया का वैज्ञानिकीकरण।
17. पाठ सम्पादन एवं पाठ अनुसंधान।
18. भाषा वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता।
19. इतिहास दर्शन एवं साहित्य दर्शन का सम्यक् बोध।
20. साहित्य इतिहास की रचनात्मकता।
21. युगीन लोकचेतना एवं लोक साहित्य का मूल्यांकन।
22. प्रत्नतत्त्वानुसंधान।
23. पुरातात्विके खोजों का आश्रय।
24. साहित्य इतिहास दार्शनिकों के विचारों का अनुशीलन।
25. युगीन मूल्यों का निर्धारण।
26. विभिन्न इतिहासकारों के इतिहास लेखन का पुनर्मूल्यांकन।
27. समस्त इतिहासकारों के साहित्य इतिहास सम्बन्धी दर्शन पर पुनर्विचार।
28. साहित्य इतिहास लेखन की रचनात्मकता।

1.1.10. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. गार्सा द-तासी के साहित्येतिहास ग्रन्थ के अनुवादक हैं –

(क) रामचन्द्र शुक्ल
(ख) ग्रियर्सन
(ग) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
(घ) किशोरीलाल गुप्त

2. साहित्येतिहास-दर्शन के बारे में हिन्दी में सर्वप्रथम पुस्तक किसने लिखी ?

(क) सुमन राजे
(ख) शिवकुमार
(ग) मिश्र बन्धु
(घ) नलिन विलोचन शर्मा

3. इ.एच. कार की पुस्तक का नाम है –

(क) आइडिया ऑफ द हिस्ट्री
(ख) कैपिटल
(ग) उपनिषद्

(घ) द क्रिटिसिज्म

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय साहित्य-इतिहास-दर्शन को स्पष्ट कीजिए।
2. पाश्चात्य इतिहास-दर्शन की वैज्ञानिकता स्पष्ट कीजिए।
3. भारतीय इतिहास-दृष्टि एवं पाश्चात्य इतिहास दृष्टि का अन्तस्सम्बन्ध विश्लेषित कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ऐतिहासिक विकास से समाज का क्या सम्बन्ध है ?
2. सांस्कृतिक मूल्य को स्पष्ट कीजिए।
3. इतिहास में युग निर्धारण कैसे किया जाए ? स्पष्ट कीजिए।
4. मानवीय चेतना के विकास में लोकचेतना की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

1.1.11. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. कार, इ.एच. (1976). इतिहास क्या है. दिल्ली : मैकमिलन एंड कंपनी.
2. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र (1973). इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त. जयपुर : राजस्थान ग्रन्थ अकादमी.
3. देवराज (1972). संस्कृति का दार्शनिक विवेचन. लखनऊ : हिन्दी ग्रन्थ समिति. सूचना विभाग.
4. शुक्ल, विजय (1978). साहित्येतिहास सिद्धान्त एवं स्वरूप. इलाहाबाद : स्मृति प्रकाशन.
5. शर्मा, शिवकुमार (1975). साहित्य का इतिहास-दर्शन. दिल्ली : द मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया.
6. शर्मा, नलिन विलोचन (1997). साहित्य का इतिहास-दर्शन. पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्.
7. राजे, सुमन (1975). साहित्येतिहास संरचना और स्वरूप. कानपुर : ग्रन्थम.
8. रघुवंश (1972). समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता. आगरा : केन्द्रीय हिन्दी संस्थान.
9. मिश्र, हरिश्चन्द्र (1998). साहित्येतिहास-दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया. इलाहाबाद : श्यामा प्रकाशन संस्थान.
10. गुप्त, किशोरीलाल (1978). हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास.
11. वार्ष्णेय, लक्ष्मी सागर(अनु.)(1839). हिन्दुई साहित्य का इतिहास. इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडेमी.
12. सेंगर, शिवसिंह (1878). सरोज शिवसिंह. लखनऊ : नवल किशोर प्रेस.
13. ग्रियर्सन, (अनु.) गुप्त किशोरीलाल(1957). हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास. बंगाल : रॉयल एशियाटिक सोसाइटी.
14. मिश्र, पण्डित गणेश बिहारी, मिश्र श्याम बिहारी, मिश्र शुकदेव बिहारी(1913 ई 1934 ई). मिश्रबन्धु विनोद. खण्डवा व प्रयाग: हिन्दी-ग्रन्थ प्रसारक मण्डली.
15. शुक्ल, रामचन्द्र (1929). हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाराणसी : काशी नागरी प्रचारिणी सभा.

16. दास, श्यामसुन्दर(1930). हिन्दी भाषा और साहित्य. इलाहाबाद : इंडियन प्रेस.
17. शुक्ल, रमाशंकर 'रसाल' (1931). हिन्दी साहित्य का इतिहास. इलाहाबाद : एम साहब रामदयाल अगरवाला.
18. शास्त्री, सूर्यकान्त(1930). हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास. लाहौर : मेहर चन्द्र, लक्ष्मणदास अध्यक्ष, संस्कृत पुस्तकालय.
19. उपाध्याय, अयोध्यासिंह 'हरिऔध'(1997). हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास. पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय.
20. वर्मा, रामकुमार (1938). हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : रामनारायण लाल प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता.
21. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (2009). हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास. दिल्ली : यू. सी. कपूर एंड सन्स.
22. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1952). हिन्दी साहित्य का आदिकाल. पटना : राष्ट्रभाषा परिषद्.
23. शास्त्री, आचार्य चतुरसेन (1949). हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास. दिल्ली : गौतम बुक डिपो प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता.
24. चौहान, शिवदान सिंह (1954). हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष. दिल्ली : रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स
25. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद (2015). हिन्दी साहित्य का अतीत. वाराणसी : वाणी वितान प्रकाशन.
26. गुप्त, गणपतिचन्द्र (1965). हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास. चण्डीगढ़ : प्रकाशक भारतेन्दु भवन.
27. पाण्डेय, रामखेलावन (1969). हिन्दी साहित्य का नया इतिहास. पटना : अनुपम.
28. चतुर्वेदी, रामस्वरूप (1970). कामायनी का पुनर्मूल्यांकन. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.
29. कलिंगउड, आर.जी. द आइडिया ऑफ हिस्ट्री.
30. विश्वेश्वरय्या, जी. (1977). समाज, हिन्दी अनुवाद : संशोधित संस्करण.
31. शल्य, यशदेव (1967). संस्कृति मानव कर्तृत्त्व की व्याख्या. जयपुर : राजस्थान विश्वविद्यालय.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1: हिन्दी साहित्य : इतिहास-लेखन

इकाई – 2 : हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा, इतिहास-लेखन की विभिन्न पद्धतियाँ, प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा
1.2.2.01. गार्सा द-तासी का 'इस्तवार द ल लितेरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐंदूस्तानी '
1.2.2.02. मौलवी करीमुद्दीन का 'तबकातुशुआस या तजकिरा-ई-शुअरा-ई-हिन्दी'
1.2.2.03. महेशदत्त शुक्ल का 'भाषा काव्य-संग्रह'
1.2.2.04. शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज'
1.2.2.05. सर अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन का 'मॉडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान'
1.2.2.06. बाबू श्यामसुन्दरदास बी.ए. का 'हिन्दी कोविद रत्नमाला'
1.2.2.07. मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न'
1.2.2.08. मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धु विनोद'
1.2.2.09. पण्डित रामनरेश त्रिपाठी का 'कविता कौमुदी'
1.2.2.10. एडविन ग्रीव्स का 'ए स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर'
1.2.2.11. एफ.ई.के. का 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर'
1.2.2.12. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'हिन्दी साहित्य विमर्श'
1.2.2.13. रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'
1.2.2.14. डॉ॰ रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'
1.2.2.15. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'
1.2.2.16. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'
1.2.2.17. कृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'
1.2.2.18. नन्ददुलारे वाजपेयी का 'हिन्दी साहित्य – बीसवीं शताब्दी'
1.2.2.19. माताप्रसाद गुप्त का 'हिन्दी पुस्तक साहित्य'
1.2.2.20. गणपतिचन्द्र का 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'
1.2.2.21. डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य'
1.2.2.22. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'
1.2.2.23. डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'
1.2.2.24. डॉ॰ बच्चन सिंह का 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास'
1.2.2.25. डॉ॰ रामप्रसाद मिश्र का 'हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास'
1.2.3. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की प्रमुख पद्धतियाँ
1.2.3.1. वर्णानुक्रम पद्धति

1.2.3.2. कालानुक्रमी पद्धति
1.2.3.3. वैज्ञानिक पद्धति
1.2.3.4. विधेयवादी पद्धति
1.2.4. हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रमुख ग्रन्थ
1.2.5. पाठ-सार
1.2.6. बोध प्रश्न
1.2.7. उपयोगी ग्रन्थ
1.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा को समझ सकेंगे।
ii. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की विविध पद्धतियों को जान सकेंगे।
iii. हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रमुख ग्रन्थों से परिचित हो सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का वास्तविक आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से माना जाता है। हालांकि सोलहवीं, सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में कुछ ऐसे ग्रन्थ रचे गए थे, जिनसे तत्कालीन अनेक कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में पता चलता है, लेकिन ये ग्रन्थ साहित्य इतिहास लेखन की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

1.2.2. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा

मध्यकाल में रचे गए वार्ता साहित्य – गोकुलनाथ रचित 'चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' एवं कुछ अन्य ग्रन्थों – नाभादास का 'भक्तमाल', गुरु अर्जुनदेव द्वारा संगृहीत 'श्री गुरु ग्रन्थ साहब', बेणी माधो दास का 'मूल गोसाईं चरित', ध्रुवदास की 'भक्तनामावली', तुलसी द्वारा संगृहीत 'कविमाला', कालिदास त्रिवेदी रचित 'कालिदास हजारा', भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय', बलदेव का 'सत्कवि गिरा विलास', सूदन की 'कवि नामावली' आदि से तत्कालीन अनेक कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में पता चलता है, लेकिन इन ग्रन्थों में कवियों का वर्णन कालक्रमानुसार नहीं है। इसलिए इन ग्रन्थों को साहित्य के इतिहास ग्रन्थ के रूप में नहीं देखा जाता। ये ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की आधार सामग्री के लिए उपयोगी हैं। वास्तविक रूप से उन्नीसवीं शताब्दी से शुरू हुई हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की एक लम्बी परम्परा मौजूद है। इसका क्रमवत् विवरण अग्रलिखित है –

1.2.2.01. गार्सा द-तासी का 'इस्तवार द ल लितेरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐंदूस्तानी'

इस ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा का पहला ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है। इतिहास का आभास देने वाला यह ग्रन्थ वस्तुतः कवियों के नामों का संग्रह है। यह ग्रन्थ फ्रेंच भाषा में लिखा गया है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा के शब्दों में, "यह ग्रन्थ ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंडी की प्राच्य साहित्य अनुवादक समिति की और से पेरिस में मुद्रित किया गया। ग्रन्थकार ने महारानी विक्टोरिया को सुल्ताना रजिया के समान योग्य शासिका मानते हुए उन्हीं को यह ग्रन्थ समर्पित किया।"[1] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सातवाँ संस्करण/ 2007) इस ग्रन्थ के दो संस्करण प्रकाशित हुए। पहला संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ। पहले संस्करण का पहला भाग सन् 1839 (संवत् 1896) में तथा दूसरा भाग सन् 1846 (संवत् 1903) में प्रकाशित हुआ। दूसरे संस्करण में इस ग्रन्थ के तीन भाग हो गए, जिसका प्रकाशन सन् 1871 (संवत् 1928) में हुआ। उर्दू के प्रोफेसर गार्सा द-तासी ने इस ग्रन्थ में अंग्रेजी वर्णक्रम से हिन्दी और उर्दू के कवियों एवं कवयित्रियों की जीवनी और उनके ग्रन्थों का नाम-निर्देश दिया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में चौदह पृष्ठों की भूमिका है। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए गए हैं। इस ग्रन्थ में कुल 738 साहित्यकार शामिल किए गए थे, जिनमें हिन्दी के केवल 72 थे। डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने गार्सा द-तासी के ग्रन्थ में उल्लिखित कवियों एवं लेखकों से सम्बन्धित विवरण का हिन्दी में अनुवाद किया जो सन् 1952 में 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इसमें 358 रचनाकारों का विवरण दिया गया है। इनमें 100 प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस ग्रन्थ के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है, "इस ग्रन्थ का महत्त्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिन्दी काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा कवियों के रचना-काल का भी निर्देश दिया गया है। अन्यथा कवियों को काल-क्रम के स्थान पर अंग्रेजी वर्णक्रम से प्रस्तुत करना, काल विभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना, हिन्दी के कवियों में इतर भाषाओं के कवियों को घुला-मिला देना आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण इसे 'इतिहास' मानने में संकोच होता है। फिर भी, भारत से दूर बैठकर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।"[2] (हिन्दी साहित्य का इतिहास/ डॉ॰ नगेन्द्र (सं.)/ सजिल्द संस्करण/ 2001) वास्तव में इस ग्रन्थ में हिन्दी का सर्वाधिक प्राचीन विवरण विद्यमान है, जो साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

1.2.2.02. मौलवी करीमुद्दीन का 'तबकातुशुआस या तजकिरा-ई-शुअरा-ई-हिन्दी'

सन् 1848 में दिल्ली कॉलेज द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ में बहुत कुछ गार्सा द-तासी के ग्रन्थ का अनुवाद किया गया है और कुछ नया अंश भी जोड़ा गया है। कुल कवियों की संख्या 1004 है, जिनमें से 62 हिन्दी के हैं। गार्सा द-तासी ने अपने ग्रन्थ 'इस्तवार द ल लितेरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐंदूस्तानी' के दूसरे संस्करण में इस ग्रन्थ की कुछ सामग्री का उपयोग किया है। करीमुद्दीन ने कवियों के जन्म-मरण के संवत्, उनके वैयक्तिक जीवन की झलक तथा उनके काव्य संग्रहों के नाम देने का प्रयास किया है, परन्तु उन्हें आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई है। करीमुद्दीन ने चन्द, खुसरो, कबीर, जायसी, तुलसी आदि कुछ प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण कवियों के कालक्रम का भी चिन्तन किया

है। अधिकांश विद्वान् इस ग्रन्थ को एक अभारतीय द्वारा लिखित हिन्दी और उर्दू साहित्य का प्रथम इतिहास मानते हैं।

1.2.2.03. महेशदत्त शुक्ल का 'भाषा काव्य-संग्रह'

भाषा काव्य-संग्रह में लेखक ने कवियों का जीवन, समय तथा काव्य-संग्रह का उल्लेख किया है। "इसमें संग्रहकर्ता ने पहले कुछ प्राचीन कविताएँ संग्रह की हैं फिर उन्हीं कवियों का जीवन चरित्र तथा समय आदि संक्षेप में दिया है। अन्त में कठिन शब्दों का कोश भी है। यह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से संवत् 1930 (1873 ई.) में प्रकाशित हुआ।"[3] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007)

1.2.2.04. शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज'

इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् 1883 (संवत् 1940) है। " 'सरोज' में भाषा कवियों की संख्या उनके जीवन-चरित्र और उनकी कविताओं के उदाहरणों के सहित 'एक सहस्र' हो गई है।"[4] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007) इस ग्रन्थ में 1003 कवियों के जीवन चरित्र अकारादि क्रम से दिए गए हैं और 687 कवियों की तिथियाँ दी हुई हैं, शेष की तिथियाँ नहीं दी गई हैं। इस ग्रन्थ में तत्कालीन हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिल जाती है, इसलिए हिन्दी के प्राचीन कवियों पर शोधकार्य करते समय इस ग्रन्थ को देखना आवश्यक होता है। बाद में लिखे गए हिन्दी साहित्य के इतिहासों में इस ग्रन्थ की सामग्री का उपयोग किया गया है। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रस्थान बिन्दु माना जाता है।

1.2.2.05. सर अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन का 'मॉडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान'

सन् 1889 (संवत् 1946) में जार्ज ग्रियर्सन ने यह ग्रन्थ लिखा जो एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। कई विद्वान् इस ग्रन्थ को सही अर्थों में हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास मानते हैं। इसमें कालक्रमानुसार 952 कवियों का परिचय दिया गया है। कुछ का विस्तृत परिचय है, जबकि कुछ का नाममात्र का उल्लेख है। काव्य-प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है। पूरा ग्रन्थ अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक अध्याय एक काल का सूचक है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में छोटे अक्षरों में परिशिष्ट दिया गया है, जिसमें उस युग अथवा उस वर्ग के छोटे कवियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ में मारवाड़ी, हिन्दी और बिहारी भाषाओं के लिखित साहित्य का उल्लेख किया गया है, ग्राम साहित्य की चर्चा नहीं की गई है। ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभक्त माना जा सकता है – 1) प्रस्तावना, 2) ग्रन्थ और 3) अनुक्रमणिका। ग्रियर्सन ने ही सबसे पहले अपने ग्रन्थ में भक्तिकाल को महत्त्वपूर्ण बताया। डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में, "हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम का निर्धारण चारण-काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेमकाव्य, दरबारी-काव्य के रूप में करना तथा 16वीं-17वीं शताब्दी के युग (भक्तिकाल) को हिन्दी काव्य का स्वर्णयुग मानना ग्रियर्सन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।"[5] (हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास/ डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त/ 2007)

लेखक ने अपने इतिहास में अट्ठारह ग्रन्थों की सहायता लेने का उल्लेख भूमिका में किया है, ये हैं – 'भक्तमाल', 'गोसाईंचरित', 'कविमाला', 'हजारा', 'काव्य निर्णय', 'सत्कवि गिरा विलास', सूदन द्वारा प्रशंसित कवि सूची, 'विद्वन्मोपद तरंगिणी', 'राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम', 'शृंगार संग्रह', भक्तमाल का उर्दू अनुवाद, 'रसचन्द्रोदय', 'दिग्विजय भूषण', 'सुन्दरी तिलक', 'काव्य-संग्रह', 'कवित्त रत्नाकर', 'शिवसिंह सरोज' तथा 'विचित्रोपदेश'. कालक्रमानुसार कवियों का परिचय तथा इतिहास की काल अवधि का विभाजन किए जाने के कारण इसी ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास होने का गौरव प्राप्त है। इस ग्रन्थ का प्रणयन वस्तुतः विदेशी विद्वानों के उपयोग के लिए किया गया था। डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अनुसार, "वस्तुतः उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में, जबकि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आलोचना एवं अनुसंधान की परम्पराओं का श्रीगणेश भी न हुआ था, हिन्दी भाषा एवं उसके काव्य की ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की अद्‌भुत प्रतिभा-शक्ति एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है; यह दूसरी बात है कि उनका ग्रन्थ अंग्रेजी में रचित होने के कारण हिन्दी के अध्येताओं की दृष्टि का केन्द्र नहीं बन सका, जिससे परवर्ती युग के अनेक इतिहासकार, जो उनकी धारणाओं व स्थापनाओं को पल्लवित करके हिन्दी माध्यम में प्रस्तुत कर सके, उस यश के भागी बने जो वस्तुतः ग्रियर्सन का दाय था।"[6] (हिन्दी साहित्य का इतिहास/ डॉ॰ नगेन्द्र (सं.)/ सजिल्द संस्करण/ 2001) परवर्ती हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इतिहास लेखन के लिए इस ग्रन्थ की सामग्री का भरपूर उपयोग किया।

1.2.2.06. बाबू श्यामसुन्दरदास बी.ए. का 'हिन्दी कोविद रत्नमाला'

बाबू श्यामसुन्दर बी.ए. ने 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' शीर्षक से एक पुस्तक सम्पादित की, जिसके दो भाग प्रकाशित हुए। पहला भाग सन् 1909 और दूसरा सन् 1914 (क्रमशः संवत् 1966 एवं 1971) में प्रकाशित हुआ। इनमें अस्सी आधुनिक लेखकों के जीवन चरित्र और उनकी कृतियों के साहित्यिक महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

1.2.2.07. मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न'

मिश्रबन्धुओं (गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र, सुखदेवबिहारी मिश्र) ने सन् 1910 (संवत् 1967) में नौ कवियों (तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, त्रिपाठी बन्धु-भूषण एवं मतिराम, केशव, कबीर, चन्द और हरिश्चन्द्र) की विस्तृत समालोचना की। इस ग्रन्थ का चौथा सचित्र संशोधित एवं संवर्धितसंस्करण 1934 में प्रकाशित हुआ।

1.2.2.08. मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धु विनोद'

'मिश्रबन्धु विनोद' भी परवर्ती इतिहासकारों के लिए आधार ग्रन्थ के रूप में मान्य रहा है। मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ को इतिहास का नाम नहीं दिया, किन्तु इसे एक आदर्श इतिहास बनाने का उन्होंने भरसक प्रयास किया। निस्सन्देह उन्हें इस दिशा में अपने पूर्ववर्ती इतिहास लेखकों से अधिक सफलता मिली। आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल ने मिश्रबन्धुओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है, "कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्रबन्धु विनोद से ही लिए हैं।"[7] (हिन्दी साहित्य का इतिहास/ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल/ संस्करण 2002) मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन भी किया तथा प्रमुख कवियों के नाम पर चौदह उपकालों की स्थापना की। इतने अधिक कवियों का समावेश करने वाला यह प्रथम इतिहास है। "इतिहास का इतिवृत्तात्मक लेखन सबसे प्रथम मिश्रबन्धुओं के 'विनोद' में पाया जाता है। 'विनोद' चार भागों में लिखा गया है, जिसके प्रथम तीन भाग सन् 1913 (संवत् 1970) में प्रकाशित हुए और चतुर्थ भाग, जो साहित्य के वर्तमान काल से सम्बन्ध रखता है, सन् 1934 (संवत् 1991) में प्रकाशित हुआ। अतः मिश्रबन्धुओं ने साहित्य का अध्ययन कर लगभग 2250 पृष्ठों में अपना 'विनोद' लिखा है। इसमें कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। अनेक कवि जो अज्ञात थे, प्रकाश में लाए गए हैं और उनके साहित्यिक महत्त्व का मूल्य आँका गया है। कवियों की श्रेणियों बनाई गई हैं और उन श्रेणियों में कवियों का वर्गीकरण किया गया है। 'विनोद' के चारों भागों में 4511 कवियों का वर्णन है, किन्तु बीच में अन्य कवियों का पता मिलने पर उनके नंबर 'बटे' से कर दिए गए हैं। इस प्रकार 'मिश्रबन्धु विनोद' में 5000 से अधिक कवियों का विवरण मिलता है। यद्यपि कवियों के काव्य की समीक्षा प्राचीन काल के आदर्शों के आधार पर की गई है, पर उनकी विवेचना में हम आधुनिक दृष्टिकोण नहीं पाते। जीवन की आलोचना, कवि का सन्देश, लेखक की अन्तर्दृष्टि और भावों की अनुभूति आदि के आधार पर उसमें कवियों और लेखकों की आलोचना नहीं है। भाषा भी आलोचना के ढंग की नहीं है, किन्तु साहित्य के प्रथम इतिहास को विस्तारपूर्वक लिखने का श्रेय मिश्रबन्धुओं को अवश्य है।"[8] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007) इस तरह कवि संख्या की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

1.2.2.09. पण्डित रामनरेश त्रिपाठी का 'कविता कौमुदी'

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी द्वारा लिखित कवियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ 'कविता कौमुदी' शीर्षक से सन् 1917 (संवत् 1974) में प्रकाशित हुआ। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक के 89 कवियों का जीवन विवरण, उनकी कविता के साथ दिया गया है। इसका दूसरा भाग सन् 1926 (संवत् 1983) में प्रकाशित हुआ, जिसमें 49 आधुनिक लेखकों और कवियों का विवरण है।

1.2.2.10. एडविन ग्रीव्स का 'ए स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर'

सन् 1917 में एडविन ग्रीव्स ने 'ए स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर' नाम से हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखा। यह एक छोटा ग्रन्थ है। इसमें "हिन्दी साहित्य के इतिहास के पाँच विभाग किए हैं। धार्मिक काल को दो भागों में विभाजित कर दिया है और हिन्दी के भविष्य पर एक सुन्दर अध्याय लिखा है। पुस्तक बहुत ही संक्षिप्त है। इसमें साहित्य की गतिविधि का परिचय मात्र है।"[9] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007)

1.2.2.11. एफ.ई.के. का 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर'

यह भी बहुत छोटे आकार में लिखा गया हिन्दी साहित्य का इतिहास है। इस ग्रन्थ में काल विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर करते हुए आदिकाल से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक के साहित्य का विवेचन किया गया है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा के शब्दों में, "संवत् 1977 में एफ.ई.के. ने 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' नाम से एक इतिहास लिखा। यह भी एक सौ सोलह (116) पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसमें साहित्य के प्रगतियों के दृष्टिकोण से इतिहास की रूपरेखा निर्धारित की गई है। यह ग्रीव्स महाशय की पुस्तक से अधिक वैज्ञानिक ढंग की पुस्तक है, किन्तु इसमें भी साहित्य का परिचय मात्र है।"[10] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007)

1.2.2.12. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'हिन्दी साहित्य विमर्श'

सन् 1923 में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य विमर्श' प्रकाश में आया। इस ग्रन्थ का मूल्यांकन करते हुए डॉ॰ रामकुमार वर्मा लिखते हैं, "हिन्दी साहित्य के इतिहास को आलोचनात्मक ढंग से समझाने का श्रेय श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को है, जिन्होंने संवत् 1980 में 'हिन्दी साहित्य विमर्श' नामक 196 पृष्ठ की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक वस्तुतः उनके हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में लिखे गए कुछ निबन्धों का संग्रह है। इन निबन्धों में साहित्य की विविध प्रवृत्तियों का पाण्डित्यपूर्ण विभाजन और मूल्यांकन किया गया है तथा कवियों और लेखकों के साहित्यगत व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार का आलोचनात्मक विवेचन एक क्रम में पहली बार किया गया।"[11] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007)

1.2.2.13. रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ अद्वितीय सिद्ध हुआ। आगे के सभी इतिहास इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखे गए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मूल रूप से नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका में 'हिन्दी का विकास' नाम से लिखा गया था। सन् 1929 में इसे स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता है, "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है।"[12] (हिन्दी साहित्य का इतिहास/ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल/ संस्करण 2002) उन्होंने अपनी इसी मान्यता के अनुसार इतिहास लेखन किया। आचार्य शुक्ल ने इतिहास के साथ-साथ कवियों की आलोचना तथा आधुनिक

दृष्टिकोण से कवियों को विवेचन किया गया है। उन्होंने कवियों की संख्या की अपेक्षा कवियों के साहित्यिक मूल्यांकन को अधिक महत्त्व दिया। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालखण्डों – वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिककाल में विभक्त कर उनके दोहरे नाम भी दिए। भक्ति, रीति और आधुनिककाल को नाना शाखाओं, धाराओं और उपविभागों में विभक्त किया। आचार्य शुक्ल को जिस कालखण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की अधिकता दिखाई दी, उसे उन्होंने अलग काल माना और उस काल का नामकरण उन्हीं रचनाओं के अनुसार किया। काल की प्रवृत्तियों के निर्धारण के लिए उन्होंने प्रसिद्ध ग्रन्थों को आधार माना। शुक्लजी का उक्त काल विभाजन सरल और स्पष्ट होने के कारण बहुत समय तक प्रचलित और मान्य रहा। "अभी तक के लिखे हुए इतिहासों में इस इतिहास को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिए। ... संवत् 1997 में इसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। आधुनिककाल की सामग्री इसमें विशेष रूप से जोड़ी गई, जो अध्ययन के साथ एकत्रित की गई है।"[13] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007) वस्तुतः हिन्दी साहित्येतिहास परम्परा में शुक्लजी का इतिहास मील के पत्थर के समान है। यह अपने विषय का सर्वप्रथम इतिहास है, जिसमें अत्यन्त व्यापक सूक्ष्म दृष्टि, विकासवादी दृष्टिकोण, विशद् विवेचन व विश्लेषण तथा तर्कों के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कहा गया है, "हिन्दी साहित्य लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनका इतिहास भी कदाचित् अपने विषय का पहला ग्रन्थ है, जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि, विकसित दृष्टिकोण, स्पष्ट विवेचन-विश्लेषण व प्रामाणिक निष्कर्षों का सन्निवेश मिलता है।"[14] (हिन्दी साहित्य का इतिहास/ डॉ॰ नगेन्द्र (सं.)/ सजिल्द संस्करण/ 2001)

1.2.2.14. डॉ॰ रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'

डॉ॰ रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' सन् 1938 में प्रकाशित हुआ। मूल रूप में यह ग्रन्थ नागपुर विश्वविद्यालय में पी-एच.डी. की उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप मे प्रस्तुत किया गया था। इस ग्रन्थ में 693 ई. से 1693 ई. तक के कालखण्ड का विवेचन किया गया है, अर्थात् यह भक्तिकाल तक सीमित है। अपने इतिहास ग्रन्थ में डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वर्गीकरण का अनुकरण किया है। युगों एवं धाराओं के नामकरण में कुछ परिवर्तन भी किया है। जैसे डॉ॰ वर्मा ने वीरगाथाकाल को चारणकाल की संज्ञा दी। चारणकाल से पहले सन्धिकाल को रखा और इसके अन्तर्गत अपभ्रंश भाषा के प्रायः सारे कवियों को रखा है। उन्होंने अपभ्रंश के प्रथम कवि स्वयंभू को हिन्दी साहित्य का आदिकवि घोषित किया। इसी प्रकार काव्य-धाराओं के नामकरण में डॉ॰ वर्मा ने ज्ञानमार्गी शाखा के लिए 'सन्त काव्य' और प्रेममार्गी शाखा के लिए 'प्रेम काव्य' आदि शीर्षकों का प्रयोग किया। इस ग्रन्थ में बहुत ही सरल और रोचक शैली में साहित्यकारों का मूल्यांकन किया गया है।

1.2.2.15. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मूलतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा दिए गए व्याख्यानों का संशोधित और परिवर्द्धित संकलन है। यह पुस्तक सन् 1940 में प्रकाशित हुई। "यह पुस्तक साहित्यिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से लिखी गई है। लेखक ने हिन्दी साहित्य को अखिल भारतीय साहित्य से सम्बद्ध कर देने की चेष्टा की है और इसीलिए इस पुस्तक के परिशिष्ट में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय कराया गया है। पुस्तक अपने दृष्टिकोण में अत्यन्त मौलिक है। इसमें विद्वान् लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन और गम्भीर पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए जिस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता हुआ करती है, वही अन्तर्दृष्टि हमें पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण में प्राप्त होती है।"[15] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007) 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के बाद आचार्य द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' तथा 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' प्रकाश में आया। इन ग्रन्थों में उनके विचार अधिक व्यवस्थित तथा पुष्ट रूप में देखने को मिलते हैं। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में, "निश्चय ही आचार्य द्विवेदी हिन्दी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं। पूर्ववर्ती सांस्कृतिक धाराओं, सरणियों और पद्धतियों का जैसा गम्भीर अनुशीलन उन्होंने किया तथा मध्यकालीन जनमानस की भाव-धाराओं में जैसी गहरी डुबकी उन्होंने लगाई है, वह किसी और के लिए सम्भव नहीं।"[16] (हिन्दी साहित्य का इतिहास/ डॉ॰ नगेन्द्र (सं.)/ सजिल्द संस्करण/ 2001)

1.2.2.16. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'

मूल रूप से लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' उनकी अंग्रेजी में लिखी हुई मूल थीसिस का हिन्दी में संक्षिप्त रूपान्तर है। यह शोध-कार्य प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा एम.ए., डी.लिट. (पेरिस) के निर्देशन में पूरा किया गया है। सन् 1941 में प्रकाशित इस ग्रन्थ में डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने सन् 1850 से 1900 ई. तक के हिन्दी साहित्य विकास पर प्रकाश डाला है।

1.2.2.17. कृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'

कृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' सन् 1942 में प्रकाशित हुआ। मूल रूप में यह ग्रन्थ डी.फिल. के लिए स्वीकृत उनकी थीसिस 'दि डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दी लिटरेचर इन दि फर्स्ट क्वार्टर आफ दि ट्वेंटिएथ सेंचुरी' का किञ्चित् परिवर्तित और परिवर्द्धित रूपान्तरण है। यह शोध-कार्य प्रयाग विश्वाविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में किया गया है। इस इतिहास ग्रन्थ में सन् 1900 से 1925 ई. तक के साहित्य के विकास पर अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ की विशेषता है कि विश्लेषणात्मक शैली में लेखक ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

1.2.2.18. नन्ददुलारे वाजपेयी का 'हिन्दी साहित्य – बीसवीं शताब्दी'

सन् 1942 में नन्ददुलारे वाजपेयी का 'हिन्दी साहित्य – बीसवीं शताब्दी' प्रकाश में आया। इसमें लेखक ने आधुनिक साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। मूल रूप से यह पुस्तक विभिन्न समयों पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह है। पुस्तक में शामिल किए गए लेख गहन चिन्तन-मनन से लिखे गए हैं।

1.2.2.19. माताप्रसाद गुप्त का 'हिन्दी पुस्तक साहित्य'

सन् 1945 में डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त का इतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस इतिहास ग्रन्थ में सन् 1867 से सन् 1942 ई. तक के हिन्दी साहित्य की चर्चा हुई है। उपर्युक्त कालखण्ड के हिन्दी साहित्य को लेखक ने दो युगों में विभाजित किया है। पहला युग सन् 1867-1909 ई. तक है, जिसको उन्होंने विगत युग की संज्ञा दी है। दूसरे युग का समय सन् 1909-1942 ई. तक है, जिसे वर्तमान युग कहा गया है। ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका अध्ययनपूर्वक लिखी गई है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा के शब्दों में, "यह ग्रन्थ हमारी आधुनिक साहित्य सम्पत्ति का बीजक कहा जा सकता है।"[17] (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/ डॉ॰ रामकुमार वर्मा/ सप्तम संस्करण/ 2007)

1.2.2.20. गणपतिचन्द्र का 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'

गणपतिचन्द्र का 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' सन् 1965 में प्रकाशित हुआ। लेखक ने इस ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य के इतिहास को नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लेखक का मानना है, "विगत तीस-पैंतीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान कार्य हुआ है, जिनमें बहुत सी ऐसी नई सामग्री, नए तथ्य और नए निष्कर्ष प्रकाश में आए हैं जो आचार्य शुक्ल के वर्गीकरण-विश्लेषण आदि के सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं।"[18] (हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास/ डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त/ 2007) गणपतिचन्द्र गुप्त ने आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं का तार्किक ढंग से खण्डन किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया – 1) प्रारम्भिक काल, 2) मध्यकाल और 3) आधुनिककाल। प्रारम्भिक और मध्यकाल के अन्तर्गत उन्होंने अनेक प्रकार के काव्य एवं काव्य-परम्पराओं का वर्णन किया है। आधुनिककाल में किसी काव्य-परम्परा का उल्लेख नहीं है। पुरानी मान्यताओं के खण्डन के कारण 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

1.2.2.21. डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य'

डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य' विभिन्न विद्वानों के सहयोग से तैयार किया गया है। इस ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य के पूरे कालखण्ड को तीन भागों में बाँटा गया है – 1) आदिकाल, 2) मध्यकाल एवं 3) आधुनिककाल। प्रत्येक काल की काव्य-परम्पराओं का वर्णन भी किया गया है।

1.2.2.22. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सन् 1953 में सोलह भागों में 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' प्रकाशित किया गया। इस विशाल ग्रन्थ को अनेक लेखकों ने लिखा है, इसी कारण शैली में एकरूपता नहीं है। कुछ सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर इसका प्रत्येक खण्ड अलग-अलग विद्वानों के सम्पादन में तैयार किया गया है। 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' का काल-विभाजन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वर्गीकरण पर ही आधारित है। इस ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य की सामग्री को शृंखलाबद्ध तरीके से प्रस्तुत किया गया है। एक सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में यह अत्यन्त उपयोगी है।

1.2.2.23. डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'

सन् 1974 में डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के काल विभाजन एवं नामकरण में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा का अनुकरण किया गया है। डॉ॰ नगेन्द्र ने आदिकाल की सीमा का प्रारम्भ सातवीं शती से न मानकर दसवीं शताब्दी से माना है।

1.2.2.24. डॉ॰ बच्चन सिंह का 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास'

सन् 1996 में डॉ॰ बच्चन सिंह का 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' प्रकाशित हुआ। माना जाता है कि यह ग्रन्थ परम्परागत और नए तरीके से लिखे हुए ग्रन्थों के मध्य एक कड़ी है। लेखक ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में ही इतिहास लेखन के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ऋण को स्वीकार किया है। भक्तिकाल की प्रारम्भिक सीमा तथा रीतिकाल की अन्तिम सीमा निर्धारण के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है।

1.2.2.25. डॉ॰ रामप्रसाद मिश्र का 'हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास'

सन् 1998 में डॉ॰ रामप्रसाद मिश्र का 'हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास' दो खण्डों में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में लेखक ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत हिन्दी की विभाषाओं के साहित्य को भी शामिल करने पर बल दिया है। काल विभाजन एवं नामकरण की दृष्टि से डॉ॰ रामप्रसाद मिश्र द्वारा किया गया काल विभाजन एवं नामकरण परम्परागत होते हुए भी नवीन है।

उपर्युक्त इतिहास ग्रन्थों के अलावा कुछ विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के किसी एक पक्ष को लेकर भी इतिहास लेखन किया है। उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार निम्नलिखित हैं –

01. ब्रजरत्नदास का 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास'
02. मोतीलाल मेनारिया का 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' तथा 'राजस्थानी पिंगल साहित्य'
03. डॉ॰ भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास'
04. डॉ॰ नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका'

05. परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा'
06. प्रभुदयाल मीतल का 'चैतन्य सम्प्रदाय और उसका साहित्य'
07. डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक का 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य'
08. विश्वनाथ मिश्र का 'हिन्दी साहित्य का अतीत'
09. चन्द्रकान्त बाली का 'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास'
10. डॉ॰ टीकमसिंह तोमर का 'हिन्दी वीरकाव्य'
11. डॉ॰ नलिन विलोचन शर्मा का 'साहित्य का इतिहास दर्शन'
12. डॉ॰ सियाराम तिवारी का 'मध्यकालीन खण्डकाव्य'
13. डॉ॰ भगवती प्रसाद सिंह का 'रामभक्ति रसिक सम्प्रदाय'
14. डॉ॰ इन्द्रपाल सिंह का 'रीतिकालीन प्रबन्ध काव्य'

हिन्दी साहित्य के इतिहास के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर लिखे गए उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं –

1. डॉ॰ सुमन राजे का 'साहित्येहास : संरचना और स्वरूप'
2. डॉ॰ राममूर्ति त्रिपाठी का 'आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि'
3. डॉ॰ शिवकुमार मिश्र का 'हिन्दी साहित्येहास के सिद्धान्त'
4. डॉ॰ शम्भुनाथ सिंह का 'हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि'
5. डॉ॰ वासुदेव सिंह का 'हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि गार्सा द-तासी से शुरू हुई हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा निरन्तर जारी है। इस परम्परा में बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य का भण्डार समृद्ध हुआ है।

1.2.3. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की प्रमुख पद्धतियाँ

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की निम्नलिखित चार पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं –

1.2.3.1. वर्णानुक्रम पद्धति

वर्णानुक्रम पद्धति का एक अन्य नाम वर्णमाला पद्धति भी है। वर्णानुक्रम पद्धति से लिखे गए इतिहास में साहित्यकारों का परिचयात्मक विवरण उनके नामों के वर्णानुक्रम के अनुसार किया जाता है। उदाहरण के लिए इस पद्धति से लिखे गए इतिहास में केशवदास और केदारनाथ अग्रवाल का विवरण एक साथ प्रस्तुत किया जाएगा, क्योंकि दोनों कवियों के नाम का प्रारम्भ एक ही अक्षर 'क' से होता है। यही इस पद्धति का दोष भी है। कालक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो केशवदास रीतिकाल के कवि हैं और केदारनाथ अग्रवाल आधुनिककाल के कवि हैं। हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा के प्रथम विद्वान् लेखक गार्सा द-तासी ने अपना इतिहास ग्रन्थ 'इस्तवार

द ल लितेरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐंदूस्तानी' तथा शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' वर्णानुक्रम पद्धति के आधार पर लिखे हैं।

1.2.3.2. कालानुक्रमी पद्धति

कालानुक्रमी पद्धति से लिखे गए इतिहास ग्रन्थों में साहित्यकारों का विवरण ऐतिहासिक कालक्रमानुसार दिया जाता है। इतिहास ग्रन्थ में प्रायः साहित्यकार की जन्मतिथि को आधार मानकर उनका क्रम निश्चित किया जाता है। जार्ज ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' तथा मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धु विनोद' कालानुक्रमी पद्धति से लिखे गए इतिहास ग्रन्थ हैं। युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में साहित्यकारों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण न किए जाने के कारण यह पद्धति भी दोषपूर्ण मानी जाती है।

1.2.3.3. वैज्ञानिक पद्धति

इस पद्धति के अन्तर्गत इतिहास लेखक निरपेक्ष और तटस्थ रहते हुए इतिहास लेखन से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करता है और उन्हें क्रमिक एवं तार्किक रूप से व्यवस्थित कर देता है। तथ्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण के अभाव के कारण यह पद्धति भी दोषपूर्ण मानी जाती है।

1.2.3.4. विधेयवादी पद्धति

विधेयवादी पद्धति साहित्य के इतिहास लेखन के लिए सबसे अधिक उपयोगी मानी जाती है। इस पद्धति के जन्मदाता 'बेन' माने जाते हैं। हिन्दी में साहित्य इतिहास लेखन के लिए विधेयवादी पद्धति का प्रयोग सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। ..... आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य बिठाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"[19] (हिन्दी साहित्य का इतिहास/ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल/ संस्करण 2002) (पृ. 01) इसलिए उन्होंने अपने इतिहास लेखन में तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में साहित्यकारों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया।

1.2.4. हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रमुख ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रमुख ग्रन्थ अग्रलिखित हैं –

01. गार्सा द-तासी – 'इस्तवार द ल लितेरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐंदूस्तानी'
02. शिवसिंह सेंगर – शिवसिंह सरोज
03. जार्ज ग्रियसन – द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान
04. मिश्रबन्धु – मिश्रबन्धु विनोद
05. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास

06. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास
07. डॉ॰ रामकुमार वर्मा – हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
08. डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा (सं.) – हिन्दी साहित्य
09. डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
10. डॉ॰ नगेन्द्र (सं.) – हिन्दी साहित्य का इतिहास
11. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत
12. डॉ॰ नलिन विलोचन शर्मा – हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन
13. बाबू श्यामसुन्दरदास – हिन्दी भाषा और साहित्य
14. सूर्यकान्त शास्त्री – हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
15. कृपाशंकर शुक्ल – आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास
16. नागरी प्रचारिणी सभा काशी – हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (18 खण्डों में)
17. डॉ॰ बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
18. डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास

1.2.5. पाठ-सार

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का वास्तविक आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से माना जाता है। हालांकि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में कुछ ऐसे ग्रन्थ रचे गए थे, जिनसे तत्कालीन अनेक कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में पता चलता है, लेकिन ये ग्रन्थ साहित्य इतिहास लेखन की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। मध्यकाल में रचे गए वार्ता साहित्य और कुछ अन्य ग्रन्थों से तत्कालीन अनेक कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में पता चलता है, लेकिन इन ग्रन्थों में कवियों का वर्णन कालक्रमानुसार नहीं है। वास्तविक रूप से उन्नीसवीं शताब्दी में गार्सा द-तासी से शुरू हुई हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त आदि से होती हुई आज भी जारी है। इस परम्परा में बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य का भण्डार समृद्ध हुआ है। इतिहास ग्रन्थों के अलावा कुछ विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के किसी एक पक्ष को लेकर भी इतिहास लेखन किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की चार पद्धतियाँ – वर्णानुक्रम पद्धति, कालानुक्रमी पद्धति, वैज्ञानिक पद्धति और विधेयवादी पद्धति प्रचलित रही हैं।

1.2.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत किसने की ?

(क) जार्ज ग्रियर्सन
(ख) गार्सा द-तासी
(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(घ) मिश्रबन्धु

2. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की कितनी पद्धतियाँ चलन में रही हैं ?

(क) चार
(ख) पाँच
(ग) तीन
(घ) छह

3. नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास के कितने खण्ड हैं –

(क) 15
(ख) 16
(ग) 17
(घ) 18

लघूत्तरीय प्रश्न

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का परिचय दीजिए।
2. वर्णानुक्रम पद्धति से आप क्या समझते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की विविध पद्धतियों पर प्रकाश डालिए।

1.2.7. उपयोगी ग्रन्थ

1. गुप्त, रमेशचन्द (2002). हिन्दी साहित्य का इतिहास, दिल्ली. निर्मल बुक एजेंसी.
2. पाण्डेय, डॉ॰ शम्भुनाथ (1970). आदिकालीन हिन्दी साहित्य, वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन.

1.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

01. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 01-02
02. नगेन्द्र (2001). हिन्दी साहित्य का इतिहास, दिल्ली : मयूर पैपरबैक्स. पृष्ठ संख्या 29
03. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 02
04. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 03
05. गुप्त, गणपतिचन्द्र (2007). हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्र. पृष्ठ सं 31
06. नगेन्द्र (2001). हिन्दी साहित्य का इतिहास. दिल्ली : मयूर पैपरबैक्स. पृष्ठ संख्या 30
07. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (2002). हिन्दी साहित्य का इतिहास. जयपुर : श्याम प्रकाशन. पृष्ठ संख्या iv (प्रथम संस्करण का वक्तव्य से)
08. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 03-04
09. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 04
10. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 04
11. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 05
12. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (2002). हिन्दी साहित्य का इतिहास, जयपुर. श्याम प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 01
13. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 06-07
14. नगेन्द्र (2001). हिन्दी साहित्य का इतिहास, दिल्ली. मयूर पैपरबैक्स. पृष्ठ संख्या 32
15. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 10
16. नगेन्द्र (2001). हिन्दी साहित्य का इतिहास, दिल्ली. मयूर पैपरबैक्स. पृष्ठ संख्या 33-34
17. वर्मा, रामकुमार (2007). हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 13
18. गुप्त, गणपतिचन्द्र (2007). हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या v-vi (प्राक्कथन, प्रथम संस्करण की भूमिका से)
19. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (2002). हिन्दी साहित्य का इतिहास. जयपुर : श्याम प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 01

खण्ड – 1: हिन्दी साहित्य : इतिहास-लेखन

इकाई – 3 : हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. इतिहास लेखन की भारतीय दृष्टि : महत्त्वपूर्ण बिन्दु
1.3.3. ललित कलाएँ और साहित्येतिहास
1.3.4. कालखण्डों की तिथियों और नामकरण की समस्या
1.3.5. साहित्येतिहास लेखन की आधार सामग्री
  1.3.5.01. शिवसिंह सेंगर का इतिहास लेखन
  1.3.5.02. डॉ॰ ग्रियर्सन का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.03. मिश्रबन्धुओं का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.04. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास-दर्शन
  1.3.5.05. श्यामसुन्दरदास का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.06. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.07. सूर्यकान्त शास्त्री का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.08. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.09. डॉ॰ रामकुमार वर्मा का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्येतिहास लेखन
    1.3.5.10.1. आचार्य हजारीप्रसाद का इतिहास दर्शन
  1.3.5.11. आचार्य चतुरसेन शास्त्री का इतिहास लेखन
  1.3.5.12. शिवदान सिंह चौहान का साहित्येतिहास लेखन
  1.3.5.13. विश्वनाथ प्रसाद का इतिहास-लेखन
  1.3.5.14. गणपतिचन्द्र गुप्त का इतिहास लेखन
  1.3.5.15. रामखेलावन पाण्डेय का साहित्येतिहास लेखन
1.3.6. हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की अन्य दिशाएँ
1.3.7. पाठ-सार
1.3.8. बोध प्रश्न
1.3.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.3.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. इतिहास लेखन की भारतीय दृष्टि से परिचित हो सकेंगे।

ii. हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओं का विवेचन कर सकेंगे।

iii. साहित्येतिहास की आधार सामग्री पर चर्चा कर सकेंगे।

1.3.1. प्रस्तावना

साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन का मूल उद्देश्य है कि साहित्य का इतिहास नए अनुसंधान एवं मूल्यांकन की नई दृष्टि के क्रम में लिखा जाए। आज हमारा सम्बन्ध पश्चिम से ज्यादा हुआ है; अतः साहित्य के इतिहास-लेखन का आधार या कि साहित्य-इतिहास-दर्शन में बदलाव आया है। इस अपेक्षित बदलाव के अनुकूल साहित्य का संश्लिष्ट सांस्कृतिक मूल्यात्मक विकास निर्धारित किया जाना आवश्यक है। आज आवश्यक माना गया कि साहित्य-इतिहास निर्धारण से पूर्व मानविकी इतिहास का दार्शनिक विवेचन किया जाए। हिन्दी साहित्य को उसके राष्ट्रीय स्तर पर मूल्यांकित किया जाए और राष्ट्रीय समग्रता में उसके विकास को निर्दिष्ट किया जाए। साहित्य के विकास को मानवीय सांस्कृतिक मूल्यों के संश्लिष्ट विकास में देखने का आवश्यकता ही इस समस्या निदर्शन का उद्देश्य है। वस्तुतः मानवीय इतिहास उसकी सांकृतिक मूल्यों के विकास की प्रक्रिया है। युग निर्धारण तथा कालक्रम में नामकरण आदि की समस्या का निराकरण भी अति आवश्यक है। अब लोक साहित्य का बोध बढ़ा है। लोकचेतना से हम भिन्न हुए हैं। तमाम ललित कलाओं का ऐतिहासिक विकास काफी कुछ परिज्ञात हुआ है। अतः साहित्य के सम्यक् एवं समुचित विकास के मूल्यांकन हेतु साहित्यलेखन की समस्या का उद्घाटन समीचीन है। हिन्दी साहित्य के राष्ट्रव्यापी साहित्य एवं विश्वव्यापी साहित्य का उल्लेख भी आवश्यक है जो इतिहास के पुनर्लेखन की समस्या है। समकालीन इतिहास-दर्शन और साहित्य-इतिहास-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में साहित्येतिहास का लेखन आवश्यक है। मानव मात्र रचनात्मकता को उसकी अनुभूति एवं कल्पना के गुणात्मक विकास में मूल्यांकन इस पाठचर्या का उद्देश्य है। इसके पूर्व के इतिहासों का पुनर्मल्यांकन तथा उसके परिप्रेक्ष्य में नए साहित्यिक विकास की पुनर्स्थापना इस विवेचन का उद्देश्य है।

भारतीय इतिहास दर्शन और पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उसके समवेत प्रयोग से साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया को समझना जरूरी है। भारतीय पुराणों की ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में पश्चिमी इतिहास दृष्टि को निर्दिष्ट करते हुए साहित्य इतिहास लेखन की प्रक्रिया को मूल्यांकित करना समीचीन होगा। युग और युग चेतना का वैज्ञानिक निर्धारण अपेक्षित, ताकि इतिहास लेखन के पुनर्लेखन में पूर्व के दोष का निवारण किया जा सके। साहित्येतिहास लेखन में सबसे बड़ी समस्या काल विभाजन और नामकरण की समस्या को उठाया जाए और उसके निवारण की वैज्ञानिक विधि को निर्धारित किया जाए।

साहित्य की युगीन चेतना की संश्लिष्ट प्रविधि का मूल्यांकन समस्त ललित कलाओं की चेतनात्मक प्रक्रिया में निर्धारित किया जाए। यद्यपि समस्त ललित कलाओं के परिप्रेक्ष्य में युग चेतना का निर्धारण कैसा और कितना हो पाया है ! इस समस्या का भी उल्लेख होना चाहिए। ललित कलाओं में भी युगीन मूल्य प्रतिपादित होते चलते हैं। उनका वास्ताविक मूल्यांकन कहाँ तक हुआ है यह भी एक पुनर्लेखन की समस्या है। साहित्यिक युगीन चेतना को प्रमाणित करने के लिए उस युग विशेष की वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और

नृत्यकला सम्बन्धी चेतना को परखा जाए। कारण कि ये कलाएँ भी अपने माध्यम की सीमा में युगीन मूल्यों को उजागर करती है।

विभिन्न प्रमुख साहित्येतिहास लेखकों के दार्शनिक आधारों का विवेचन आवश्यक है और उसका मूल्यांकन किया जाए कि वे समसामयिक साहित्य-इतिहास-दर्शन के सापेक्ष कितने परिपूर्ण हैं। साहित्य-इतिहास-लेखकों ने साहित्यिक विकास को किस आधार पर निर्धारित किया है। इसके साथ हिन्दी साहित्य के इतिहास की युग सापेक्ष अवधारणा को निर्धारित करना अपेक्षित है। इस प्रकार साहित्येतिहास के अद्यतन लेखन की समीक्षा की जा सकती है। साहित्यालोचन की सही दिशा की पहचान आवश्यक है। युग विशेष की समस्त रचनाओं का समवेत चेतनात्मक मूल्यांकन साहित्येतिहास के पुनर्लेखन के लिए आवश्यक है और न हो पाने तक यह बड़ी समस्या भी है। इसी के साथ किसी भी रचनाकार की रचनात्मक प्रवृत्ति का मूल्यांकन अति आवश्यक है। प्रवृति साहित्यिक विधा नहीं, अपितु वह एक दार्शनिक विचारधारा है, जिसके द्वारा रचनाकार ने युगजीवन को देखा है या वह उस युग का सामूहिक जीवन-दर्शन है, जिसके द्वारा युग का मूल्यात्मक सृजन किया जा सकता है। यही नहीं वह वही जीवन-दर्शन है जो रचनाकार की दृष्टि में युग-दर्शन हो सकता है या होना चाहिए। चूँकि साहित्य का इतिहास सृजनशील रचना का इतिहास है, अतः उसे भी रचनात्मक होना चाहिए। भाषिक सृजनशीलता के क्रम में साहित्यिक तत्त्वों का संश्लेष अपेक्षित है। साहित्यिक रचना के निर्धारण हेतु भाषा का भाषा वैज्ञानिक ज्ञान आवश्यक है। रचना की शुद्धता तथा वास्तविकता का मूल्यांकन आवश्यक है। अतः पाठ सम्पादन भी पुनर्लेखन की आवश्यकता है। साहित्य भाषिक अभिव्यक्ति है। अतः उसका विकास भाषिक सृजनात्मकता के अन्तर्गत ही होगा। ये तमाम बातें साहित्येतिहास लेखन की समस्या के मूल बिन्दु हैं।

1.3.2. इतिहास लेखन की भारतीय दृष्टि : महत्त्वपूर्ण बिन्दु

भारतीय इतिहास दृष्टि के बारे में पश्चिम के लोगों की धारणा भिन्न रही हैं। वे मानते हैं कि भारतीयों को इतिहास-बुद्धि का पता नहीं। अल्वरूनी ने कहा था कि जब भारतीयों से इतिहास पूछिए तो वे कथा कहते हैं। पार्जिटर और स्पेंगलर ने भी भारतीय पुराणों एवं इतिहास को अविश्वस्थ घोषित करके उन्हीं पुराणों के आधार पर भारतीय इतिहास लिखने का प्रयास किया। वस्तुतः पुराण इतिहास नहीं हैं, परन्तु उनमें ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है। पुराणों के इतिहास ग्रन्थ न होने का कारण भारतीयों की व्यापक दृष्टि है। भारतीय इतिहास दृष्टि अत्यन्त उदात्त रही है और उसमें मानव-जीवन के समस्त पुरुषार्थ चतुष्टय को समेटने की कोशिश की गई, जिसमें समग्र मानव-जीवन की कर्तव्याकर्तव्य की भावना का समाहार किया गया। पुराण तिथियों, नामों और घटनाओं का संकलन मात्र नहीं हैं। इस सन्दर्भ में नलिन विलोचन शर्मा का विचार है, "वस्तुतः प्राचीन भारतीयों द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्यों के भ्रान्ति का कारण है, भारतीयों का इतिहास-विषयक विभावन; 119वीं शताब्दी में इतिहास लेखन की जो प्रणाली प्रचलित थी, उससे भारतीय प्रणाली सर्वथा भिन्न थी। पश्चिम के तत्कालीन स्वीकृत प्रतिमानों के सहारे पाश्चात्य विद्वान्, न तो भारतीय इतिहास और कलाओं के साथ न्याय कर सके, न यहाँ की प्राचीन इतिहास लेखन प्रणाली की विशेषता समझ पाए।" (साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ. 2)

भारतीय इतिहास का विषय बड़ा ही विस्तृत रहा है। इसके लिए श्लोक उद्धृत है –

आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवर्षि चरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याभ्दुत्तधर्मयुक्॥

(वही, पृ. 2)

और उसका आदर्श भी अत्यन्त उदात्त और असीमित रहा है। यथा –

धर्मार्थकाममोक्षणाभुपदेशसमन्वितम्।
पूर्वयुक्त काव्ययुक्तमितिहासं प्रचक्षेत॥

अधिकांशतः भारतीय ऐतिहासिक परम्परा मौखिक रही है। गाथा, नाराशंसी, व्याख्यान और पुराण का प्रारम्भिक रूप संश्लिष्ट हो रहा है। इन पुराण कथाओं पर विश्वास व्यक्त करते हुए सुमन राजे ने कहा है, "आदि मानव की पुराण कथाएँ चाहे कोरी कल्पनाएँ ही क्यों न हों, किन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य निहित है और जगत् का जो प्रतिबिम्ब संघर्षशील आदिम मानव के ऊपर पड़ा उसकी चेतना से उसने विश्व का एक सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक विवरण देने का प्रथम प्रयास किया था। सभी देशों की पुराण कथाओं में भगवान को ही सृष्टि का कर्त्ता माना गया है। लेकिन आदि मनुष्य की छवि में ढाला है। (साहित्येतिहास संरचना और स्वरूप, पृ. 8)

भारतीय इतिहास रचना संश्लेषणात्मक एवं भावात्मक रही है और आध्यात्मिकता में उसने इतिहास को कला के रूप में प्रस्तुत किया। उसमें मानव की चारित्रिक महान्ता के आधार पर व्याख्या की गई। सुमन राजे ने भारतीय इतिहास की आध्यात्मिक दृष्टि की ओर संकेत किया है, "इस प्रकार इतिहास की भारतीय अवधारणा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों द्वारा नियन्त्रित होती रहती हैं। तथ्य संकलन मात्र पर बहुत कम ध्यान दिया गया है, मुख्य ध्यान ऐतिहासिक घटनाओं के व्यापक प्रभाव की ओर है। ऐतिहासिक चरित्र पौराणिक एवं अतिमानवीय व्यक्तियों में रूपान्तरित हो गए हैं, इसलिए ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णनात्मक हो गई हैं, क्योंकि ये कहानियाँ घटनाओं से अधिक आकर्षक थी, घटनाओं के प्रति कलात्मक एवं कल्पनात्मक दृष्टिकोण विकसित हो गया।" (वही, पृ. 85)

इतिहास विषयक विभावन के विकास क्रम में विश्व-इतिहास के प्रति जितने सिद्धान्त व्यवहृत किए गए वे अत्यन्त व्यापक स्तर पर व्यवहृत किए गए। इतिहास की दृष्टि के सम्बन्ध में कालक्रमों के साथ भिन्न-भिन्न मूल्यों को महत्त्व दिया गया और यह देखा जाने लगा कि इतिहास दृष्टि के परिवर्तन का कारण युगबोध का परिवर्तन रहा है। इसके साथ ही यह भी धारणा पनपी कि इतिहास को केवल युद्ध आदि के वर्णन से सम्बद्ध तथ्यों से छुटकारा दे दिया जाए और इसी क्रम में चौकस ही होने को कर्तव्य के अन्तर्गत लिया गया, लेकिन यह माना गया कि वह इतिहासकार का गुण नहीं हो सकता।

आधुनिककाल में इतिहास विषयक दृष्टिकोण के विकास में तथ्य, सम्प्रदाय से लेकर तथ्यों की निर्जीविता की चर्चा की गई। इतिहासकारों का एक वर्ग ऐसा था, जिसने वास्तविकता को आवश्यक समझा और तथ्यवादी

रहा, उसके प्रतिनिधित्व में तथ्यों के संकलन की प्रक्रिया चली और कहा जाने लगा, "मुझे तथ्य चाहिए। ... जीवन में सिर्फ तथ्यों की आवश्यकता है।" (इतिहास क्या है, पृ. 5) इतिहास को एक विज्ञान के रूप में लेने वाले प्रत्यक्षवादियों ने इस 'तथ्य सम्प्रदाय' को समर्थन दिया। उनका कहना था कि पहले तथ्यों की जाँच करें और फिर अपने नतीजे निकालें इस तरह के तथ्य के प्रति आस्था का घोर विरोध भी किया गया और यह भी कहा गया कि मात्र तथ्य ही सत्य नहीं है और इस प्रकार इतिहास को घटनाओं के संग्रह मात्र होने से बचाने की सिफारिश भी की गई। इस सन्दर्भ में एक्टन का विचार है, "इतिहास के तथ्य, समुद्र में तैरती मछली की भाँति हैं, न जाने कब कौन मछली हाथ लग जाए। यही नहीं, तथ्यों की निर्जीविता पर भी ध्यान दिया गया और कहा जाने लगा कि ऐतिहासिक तथ्य स्वयं नहीं बोलते, बल्कि उन्हें बोलने के लिए विवश किया जाता है।" (वही, पृ. 12) ई.एच. कार ने हाउसमैन का एक कथन उद्धृत किया, "अनुभव के वे आँकड़े जो निष्कर्ष से भिन्न होते हैं। ... यथातथ्य होना एक दायित्व है गुण नहीं।" (वही, पृ. 5,7) आगे इ.एच.कार कहते हैं, "तथ्य बोरे की तरह होते हैं, जब तक कुछ भरा न जाए वे खड़े नहीं होते।" (वही, पृ. 7)

वस्तुतः इतिहास विषयक विभावन को लेकर बहुत सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन विश्लेषण हुआ। इतिहास को अतीत न मानकर वर्तमान का एवं भविष्य की सम्भावनाओं से जोड़ा गया। अब माना गया कि इतिहास इतिकार की अन्वीक्षिकी शक्ति की देन है जो सचेतन एवं बौद्धिक प्राणी होता है। अतः इतिहास को मृत न मानकर एक जैविक प्रक्रिया माना गया। चूँकि मनुष्य का विकास उसके समग्र जीवन-मूल्यों का विकास होता है। अतः मानव का विकास उसके सांस्कृतिक मूल्यों का सतत् विकास है। मनुष्य बौद्धिक प्राणी है। अतः वह रचनात्मक होता है। वह अपना सारा विकास समाज के बीच करता है और मानव-मात्र के अनुभूति और कल्पना का गुणात्मक विकास करता चलता है। इस प्रकार हर युग का समेकित इतिहास पुरुष अपनी परम्परा में निर्मित होता हैं और बदलता रहता है। सांस्कृतिक मूल्यों के क्रम मे मानव संश्लिष्ट विकास करता रहता है और अपनी बौद्धिकता तथा रचनात्मकता में विकसित होता, बदलता चलता है। सामाजिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, और आध्यात्मिक मूल्य का संश्लिष्ट विकास ही मानव का वास्तविक विकास होता है। इसी क्रम में वह अपनी रचनात्मकता का सतत् विकास करता चलता है। इसी युग-चेतना के साथ उसकी कलात्मक एवं साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ रूप ग्रहण करती चलती हैं और मूल्यों के संघर्ष में खुद को प्रगामी बनाती चलती हैं। इस प्रकार भारतीय उदात्त, आदर्श एवं पश्चिमी वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि के समन्वित रूप में कला और साहित्य के विकास का निर्धारण साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्या भी है। कारण सिद्धान्त और व्यवहार की अड़चन होती रहती हैं।

युग विशेष में तमाम मनुष्य का जैविक एवं मानसिक विकास युग के इतिहास-पुरुष के रूप में होता है। इस दौरान तमाम लोगों का व्यक्ति स्व सामाजिक स्व बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति-मन मानव-मन हो जाता है। सामाजिक मूल्य की प्रक्रिया में सांस्कृतिक मानव का अधिष्ठान मानव-मन ही होता है। यही उसकी सार्वभौमिक एवं निवैयक्तिकता प्रतिवादित होती है और रचनात्मक होता है। अब वह संस्कृति पुरुष होता है तथा समग्र मूल्यों की ओर अपसर्पण करता रहता है। उसका अतीत भी उर्बरक की भाँति वर्तमान का पोषक होता है तथा भविष्य की सम्भावनाओं को प्रक्षेपित करता है। अब साहित्येतिहास पुनर्लेखन के लिए आवश्यक है कि युग बोध, युगचेतना,

युगीन मूल्यों का सही मूल्यांकन किया जाए और उसके आधार पर साहित्य के विकास को निर्दिष्ट किया जाए तथा साहित्य से उसे भी पुष्ट किया जाए। किसी भी युगीन रचना के विकास के आधार का सम्यक् निर्धारण पुनर्लेखन की अनिवार्यता है। कारण कि साहित्येतिहास लेखन में विधेयवादी तत्त्वों को किस प्रकार रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित एवं मूल्यांकित किया जाए।

वस्तुतः साहित्य का सामाजिक उत्पाद्य होने के बावजूद भी विकास गुणात्मक होता है जो विशिष्ट युग की देन होती है। उसमें अतीत का चिन्तन भी होता है फिर भी साहित्य की व्याख्या युग की अपेक्षाओं के अनुकू ल ही की जाती है। भारतीय दर्शन में काल को विराट् रूप में माना गया है। उसके अन्तर्गत भूत, वर्तमान और भविष्य सापेक्ष्य व्यंजनाएँ हैं। इस प्रकार काल्पनिक स्तर पर नहीं, बल्कि मूल्यों की अपेक्षाओं के आधार पर ही युगों, कल्पों की कल्पना की गई थी। इसी कल्पना के साथ भारतीय इतिहास मनुष्य के आरम्भ और चरम अवस्था तक जाकर विनाश की कहानी के रूप में ही कालखण्डों की कल्पना करता चलता है। इतिहास रचना में युग की कल्पना एक साधन मात्र है, क्योंकि युग को प्रवाह में देखे बिना इतिहास की अजस्रता सम्भव नहीं है। युग और धारा को मानव मस्तिष्क की चीज मानते हुए सुमन राजे ने कहा है कि 'युग और धारा एक साथ मस्तिष्क में उदित होते हैं और प्रायः भ्रम उत्पन्न करते हैं। 'धारा' वस्तुतः एक रूपात्मक शब्द है। धारा एक विशिष्ट प्रकार की सतत् गतिशील प्रक्रिया है जो कम या अधिक रूप से प्रगति की अवधारणा से जुड़ी रहती है। (सुमन राजे, पृ. 151) विज्ञान में भी निरपेक्ष गति एवं निरपेक्ष स्थिरता की कल्पना नहीं की जाती है। अतः गति और स्थिरता सापेक्ष हैं। युगीन गति को मूल्य के सापेक्ष ही मापा जा सकता है, वह भी कि जो छूट चुका उसके सापेक्ष/युग को समझ लेना मूल्यों की धारावाहिकता में विभिन्न ठोस धरातलों पर मनुष्य के सापेक्ष विकास को समझना है जो स्थायी नहीं अपितु प्रक्रिया के स्तर पर ही प्रवाहमान है। अतः युग के बारे में सुव्यवस्थित विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। किसी युग-विशेष में प्रवृत्ति-विशेष के इतिहास को निर्धारित करने मे निरन्तरता और पृथकता की समस्या बनी रहती है। नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार "एक तो तत्त्ववादी दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार युग ऐसी इकाई है, जिसकी प्रकृति का उद्भावन करना आवश्यक है; और दूसरा सर्वथा भिन्न नामवादी दृष्टिकोण जो मानता है कि कोई भी विचारणीय कालखण्ड, विवरण देने के निमित्त, शाब्दिक व्यपदेश मात्र है।" (नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 42) युग और उसकी परिवतन की प्रक्रिया के सन्दर्भ में नलिन विलोचन शर्मा का विचार है कि "युग सार्वभौम परिणमन का उपखण्ड मात्र है। उसका इतिहास मूल्यों की परिवर्तनीय योजना के प्रसंग में लिखा जा सकता है और यह भी सत्य है कि मूल्यों की ऐसी योजना को इतिहास से ही पाया जा सकता है। इस प्रकार युग एक कालखण्ड है, जिसमें साहित्यिक स्वरूपों, प्रतिमानों और रूढ़ियों के ऐसे पद्धति विशेष का प्राधान्य हो, जिसके आविर्भाव, विस्तार, वैविध्य, समन्वय और तिरोभाव निर्धारित किए जा सकें।" (वही, पृ. 45-46)

सुमन राजे ने युग और धारा की प्रक्रिया एवं अध्ययन पद्धति पर विचार करने की बात उठाई और उसको संक्षेप में नौ भागों में बाँटा है, साथ ही उन तत्त्वों की ओर भी संकेत किया है, जो युग के अस्तित्व में पृथक् होते हैं। वह पद्धति निम्नवत है (वही पृ. 15) –

1. युग की मूल चेतना किस प्रकार निधारित की जाए ? प्रत्येक युग में धाराओं की द्वन्द्वात्मक स्थिति होती है। ... एक धारा ह्रासमान होती है, दूसरी विकासमान, जो चेतना आगे चलकर विकसित होती है। वही युग की मूल चेतना है। इतिहास के निर्माण में इसी का योग होता है।
2. एक समस्या जीवित और जड़ भाषा की है। क्या केवल जीवित भाषा पर ही युग चेतना का प्रभाव पड़ता है या अन्य पर भी ? इसका अध्ययन आवश्यक है। ... तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् जीवित भाषा को काल का प्रतिनिधि माना जा सकता है।
3. युग के प्रमुख कवियों ने अपने काव्यादर्श को किस रूप में परिभाषित किया है। इससे भी युग की मूल चेतना समझने में सहायता मिल सकती है।
4. किसी युग विशेष में, किसी कृति में जो परिवर्तन होते हैं, उसका प्रकार युग निर्धारण में सहायता देता है।
5. उसी युग के आदर्श एवं अनुकरणीय कवि कौन-कौन से हैं।
6. उन आचार्यों का परिचय प्राप्त करना होगा, जिनके बताए कायदे कानून विधि-निषेध और आदर्श इस काल में स्वीकार किए गए।
7. उन लोकप्रिय किंवदन्तियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है जो श्रेष्ठ समझे जाने वाले कवियों और साहित्यकारों में प्रचलित हो गई थी।
8. उस युग में लिखित पूर्ववर्ती रचनाओं की टीका-टिप्पणियों का अध्ययन।
9. सृजनात्मक समीक्षा के दिशाबोध का अध्ययन भी युग की मूल चेतना निर्धारित करने में सहायक हो सकता है।

उन्होंने आगे युग के पृथक् अस्तित्व के प्रमुख घटकों को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है –

1. थोड़ा बहुत प्रभाव प्रायः सभी समकालीन धाराओं पर।
2. भाषा के परिवर्तन की इकाई।
3. वस्तु और रूप दोनों में परिवर्तन।
4. मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन का अस्तित्व।
5. सांस्कृतिक युग की दृष्टि से उसकी स्थिति। क्या सांस्कृतिक दृष्टि से भी पृथक् सत्ता है ?
6. अन्य ललित कलाओं के आधार पर उस युग की स्थिति का निर्धारण।
7. अन्य समकालीन भाषाओं में उस युग की स्थिति।
8. युग चेतना का केन्द्र कहाँ स्थित है ?
9. उस युग का शैली वैज्ञानिक अध्ययन।

1.3.3. ललित कलाएँ और साहित्येतिहास

ललित कलाओं के विकास तथा युगीन अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में हम साहित्यिक मूल्यों को प्रमाणित कर सकते हैं। अतः ललित कलाओं को सापेक्ष बनाया जा सकता है। हिन्दी साहित्य के विकास में कला और

सौन्दर्यपरक दृष्टियों का प्रभाव पड़ता रहता है। मनुष्य की सहज वृत्ति है कि वह अपने को अभिव्यक्त करना चाहता है और साहित्य के माध्यम से वह पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है, क्योंकि वहाँ वाणी और चित्र दोनों का संश्लेष होता है। कला में वस्तु और रूप की एकता के साथ कला का व्यक्त रूप उसकी अभिव्यक्त है। कला में वस्तु और रूप की एकता के साथ वस्तु और रूप में संश्लिष्टपरिवर्तन होता रहा है। इस द्वन्द्व का अस्तित्व सार्वभौमिकता रहा है। कला जीवन की अभिव्यक्ति है; अतः कला-रचना के भीतर जब जीवन और युग की सक्रिय शक्ति को जानना होगा तो उसके वस्तु तत्त्व का ही सहारा लेना पड़ता है। एक निश्चित काल की कला-रचनाओं में युग-चेतना का अन्तस्सम्बन्ध या विकास दिखाई देता है। कलाओं के अभिव्यक्त रूप में सन्तुलन होता है और इस रूप में वह एक निश्चित समय की उपलब्धि होती है। इसी कारण कलाओं के रूप गठन में परिवर्तन होता रहता है। विषय-वस्तु के परिवर्तन के साथ नए कला रूपों की माँग होती चलती है, जो वस्तु-परिवर्तन के साथ नए कला रूपों में परिवर्तन का कारण बनता है। मनुष्य के सामने प्रकृति, जो वस्तु क्रम में स्थिति है, उसमें वह उपयोगात्मक तथा सौन्दर्यमूलक प्रयोजनों के अनुसार परिवर्तन और नया संगठन करता रहता है। इस प्रकार उसकी सृजनशीलता ही प्रमाणित होती चलती है। मनुष्य अपनी सृजनशीलता को प्रतीकबद्ध कल्पनामूलक रचनाओं में प्रस्तुत करता है। उसकी प्रतीकबद्धता रूपात्मक अभिव्यक्ति में निहित होती है। मनुष्य अपनी सृजनशील कल्पना के आधार पर प्रस्तुत को उच्चतर भावना के साथ प्रस्तुत करता है। मनुष्य इस नैतिक एवं सौन्दर्यपरक अनुभूतियों की उच्चतर से यथार्थ तक लाने के प्रयास में ही प्रगतिशील होता चलता है।

मूल्यों की संश्लिष्ट रचना होने पर भी साहित्य भी एक प्रकार की कला है। यदि कला रूपात्मक सृजन है तो काव्य में भी शब्दों के माध्यम से सौन्दर्य की रचना होती है। काव्य की अभिव्यिक्ति में दो तत्त्व काम करते हैं – एक नाद तत्त्व और दूसरा चित्र तत्त्व। इसी के साथ मानव-जीवन के समस्त मल्यों का विकास दिखाई देता है जो किसी-न-किसी रूप में अन्य कलाओं में दिखाई देता है।

प्राचीन काल से व्यावहारिक सुविधा के लिए ललित कलाओं का संख्या पाँच मानी गई है – वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्य कला। काव्य कला के सौन्दर्य-बोध एवं कलात्मक विकास हेतु इन कलाओं का ऐतिहासिक निरूपण आवश्यक है। अतः ललित कलाओं के विकास के साथ हिन्दी साहित्य का विकास देखना आवश्यक है।

1.3.4. कालखण्डों की तिथियों और नामकरण की समस्या

साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं में एक समस्या यह भी है कि कालखण्डों को किन तिथियों में विभाजित किया जाए। कोई वर्ष या दिन ऐसा नहीं हो सकता जिस वर्ष और दिन से एक काल विशेष की रचना अपनी पूरी मूल्यात्मकता एवं रचना धर्मिता में बदल जाए या कि उसे बदलने का आदेश दे दिया जाए।

दो बिन्दुओं के बीच में कालखण्डों को कैसे रखा जाए ! वस्तुतः एक कालखण्ड की रचनात्मक चेतना पूर्व से ही आरम्भ होती है और आगे तक चलती रहती है। अतः कालखण्डों का निर्धारण अंशतः अध्यारोपित अवस्था में ही हो सकते हैं।

अतः कालखण्डों का वितरण एक कठिन समस्या है। एक युग में अनेक चेतना का एक साथ विकास होता है और सम्मिलित रूप में चेतनाओं का विकास होता रहता है। अब कोई काल कहाँ तक हो ! यह एक समस्या है। कालखण्डों का विभाजन केवल किसी एक आधार पर या अनुमान पर कैसे कर दिया जाए ! एक युग कितना पहले से होने लगता है ! और कितना आगे तक जाता है ! कुछ कहा नहीं जा सकता। यह समस्या हिन्दी साहित्य के काल विभाजन में बराबर रही है। इस पर काफी सोचने की आवश्यकता है। सांस्कृतिक चेतना का विकास किस प्रकार होता है ? रेखीय, चक्रीय, आवर्त्तीय या शीर्षों एवं गर्तों में या ए.सी. कटेण्ट की गति में उसकी विकास प्रक्रिया को निर्दिष्ट किया जाए। इसके लिए अत्याधुनिक नियमों को उसकी वैज्ञानिकता में समझना उचित होगा।

इस कालखण्ड के विभाजन के साथ उस काल विशेष के नामांकन की समस्या सामने आती है। पूरे विश्व में साहित्यिक कालखण्डों का नामकरण साहित्यिक प्रवृत्ति से इतर विषयों से सम्बद्ध रहा है। वस्तुतः काल का नामकरण ऐसा होना चाहिए कि उससे उस काल विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति का आभास हो। अब तक नामकरण इतिहास की तरह आधुनिक, मध्य और आदि के रूप में होता आया है या शासकों तथा राजाओं के नाम पर या किसी युग विशेष के प्रसिद्ध रचनाकार के नाम पर या किसी महापुरुष के नाम पर या किसी विशेष घटना धार्मिक आन्दोलन आदि के आधार पर। वस्तुतः प्रत्येक रचनाकार की अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति होती है। उसकी यह प्रवृत्ति उसकी युगीन दृष्टि है, जिससे वह सम्पूर्ण जीवन को देखता है। यही नहीं वह उस दृष्टि को अपने युग की संभाव्य दृष्टि बनाता चलता है या वह उस युग की अपनी मूल्यात्मक दृष्टि बन सकती है। एक कालखण्ड में अनेक रचनाकार होते हैं और उनके पूर्व से भी जीवन-दृष्टि का आगमन होता रहता है। अतः समस्त रचनाकारों की प्रवृत्ति का समेकित रूप ही उस युग का जीवन-दर्शन या दृष्टि बन पाता है। उसके मूल्यांकन के पूर्व किसी काल का नामकरण सम्भव नहीं। रचनाकारों की उस दृष्टि की तलाश करनी होगी, जिससे उसने युगजीवन को देखा है। यही उसकी दृष्टि में उसके युग का संभाव्य जीवन-दर्शन होता है।

1.3.5. साहित्येतिहास लेखन की आधार सामग्री

अब आवश्यक है कि प्रमुख हिन्दी साहित्य के इतिहास और इतिहासकारों के चेतनात्मक आधार की चर्चा कर ली जाए। किसी भी साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए सामग्री संकलन की परम आवश्यकता पड़ती है। यह सामग्री संकलन विभिन्न स्रोतों पर आधारित होता है। मूल कृतियों के अलावा जिन अन्य स्थानों से सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, उन्हें साहित्येतिहास के स्रोत कहा जा सकता है। सुमन राजे ने हिन्दी साहित्येतिहास के लिए निम्न दस स्रोतों को प्रस्तुत किया है (सुमन राजे पृ. 266) –

01. कविवृत्त संग्रह
02. पूर्ववर्ती इतिहास
03. वार्ता साहित्य
04. भक्तमाल
05. परिचयी साहित्य
06. अन्य जीवनी साहित्य
07. अन्य ग्रन्थ में आए उद्धरण
08. दरबारी ग्रन्थ
09. अन्य साम्प्रदायिक ग्रन्थ
10. शिलालेख आदि।

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास गार्सा द-तासी का 'इस्तवार द ल लितेरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐंदूस्तानी' फ्रांसीसी भाषा में लिखित है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से किया। इसका प्रथम संस्करण 1953 ई. में हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद से प्रकाशन हुआ। यह एक बृहत् ग्रन्थ था। इसके हिन्दुई अंश का अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने प्रस्तुत किया। नलिन विलोचन शर्मा और सुमन राजे दोनों इसे इतिहास मानने के पक्ष में हैं। किशोरीलाल गुप्त इसे इतिहास ग्रन्थ मानने के पक्ष में नहीं हैं। हिन्दुई साहित्य का प्रकरण बहुत ही सामान्य स्तर पर उठाया गया है। इसका कारण था कि तासी का हिन्दी और हिन्दुओं के प्रति सही दृष्टिकोण नहीं था। इस ग्रन्थ में कुल 358 कवि और लेखक आए हैं, जिनमें से अनेक उर्दू, संस्कृत एवं मराठी के हैं। तासी के अनुसार इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में 3000 भारतीय लेखकों का विवरण है, जिनमें से 2200 मुसलमान हैं, और 800 हिन्दू। इन 800 हिन्दू लेखकों में से भी केवल 250 ने हिन्दुई में लिखा है, शेष उर्दू के लेखक हैं। तासी का ग्रन्थ कालक्रम के आधार पर नहीं लिखा गया। अतः उसमें वर्ण क्रम का आधार ग्रहण करके आकारादि क्रम में कवियों एवं उनकी रचनाओं का परिचय दिया गया है। कवियों की एवं उनके सम्बन्ध में किंवदन्तियों का भी वर्णन किया गया है। जिन कवियों की जन्म और रचना तिथि मिली है, उनको लिख दिया गया है। विशेषतः ध्यान अक्षर क्रम का ही दिया गया है।

तासी के तमाम विचारों का उल्लेख करना सम्भव नहीं। उनका पूर्वाग्रह पूर्ण विचार इतिहास लेखन के अनुकूल नहीं हो सकता। इनके ग्रन्थ में ऐतिहासिकता नहीं है। उन्होंने काल, युग और युग चेतना के क्रम में इतिहास के विकास की परवाह नहीं की। इस प्रकार के संग्रह से काल-प्रवाह के सन्दर्भ में साहित्यिक चेतना और युग-चेतना के विकास को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। कवियों के परिचय मात्र से जीवन-प्रवाह और साहित्यिक विकास का निर्धारण नहीं किया जा सकता। द-तासी का यह ग्रन्थ साहित्येतिहास के अन्तर्गत एक कविवृत्त-संग्रह है। पहला हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित ग्रन्थ होने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

1.3.5.01. शिवसिंह सेंगर का इतिहास लेखन

शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' की रचना की, जो पहली बार 1878 ई. में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ शिवसिंह पुलिस के सर्किल इन्स्पेक्टर थे और प्राचीन काव्य में रुचि रखते थे। अतः उन्होंने 838 कवियों की लगभग 2000 रचनाओं का नमूना पेश किया। कवियों की स्थापना ऐतिहासिक नहीं है, अपितु वे अकारादि क्रम में की गई है। काव्य-संग्रह के बाद ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में सेंगर ने अकारादि क्रम में ही 1003 कवियों का जीवन चरित्र दिया है। इन 1003 कवियों में 687 की तिथियाँ भी है, 53 कवि विद्यमान कहे गए हैं और 263 कवि तिथिहीन हैं। शिवसिंह सरोज में यत्किंचित् त्रुटियाँ रह गई हैं। यद्यपि सुधार किया गया है। किशोरीलाल गुप्त और पारीक ने इसे कविवृत्त संग्रह ही माना है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है "एक देशी ग्रन्थ जिस पर मैं अधिकांश में निर्भर रहा हूँ और प्रायः छोटे कवियों और अनेक प्रसिद्ध कवियों के भी प्राप्त सूचनाओं के लिए जिसका ऋणी हूँ, अत्यन्त लाभदायक 'शिवसिंह सरोज' है।" (शिवकुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ. 133)

शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' की रचना के उद्देश्य को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है, "संवत् 1933 में हमने दो-एक ग्रन्थ भाषा कवि लोगों के जीवन चरित्र विषयक ऐसे देखे, जिन्होंने मतिराम इत्यादि ब्राह्मणों को ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा था कि वे महापात्र-भाट असनी के हैं और इसी भाँति बहुत सी बातें देखि हमसे नहीं चुप रहा गया। मैंने सोचा अब कोई ग्रन्थ ऐसा बनाया जाना चाहिए, जिसमें प्राचीन और नवीन कवि लोगों के जीवन-चरित्र सहित सन्-संवत् औ जाति औ निवास स्थान औ कविताई के ग्रन्थों समेत विस्तार होव" (किशोरीलाल गुप्त, सम्पादक 'शिवसिंह सरोज, पृ. 1) आगे वे क्षमायाचना के साथ कहते हैं कि "जो कहीं एक कवि का नाम दुबारा लिखि गया होवे अथवा एक कवि का कवित्त इस्में कवि के नाम लिखा होवे तो विद्वतजन उसे सुधारि लेवे और मेरी भूल-चूक क्षमा करें।" ऐतिहासिकता के अभाव में अपनी विवशता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए शिवसिंह का विचार है, "भाषा-काव्य का मूल खोजने के लिए मैंने बड़े-बड़े ग्रन्थ यथावत् विधिपूर्वक बहुत उलटे-पुलटे, पर कुछ भी पता नहीं चला" (वही, पृ. 9-10) भाषा काव्य के प्रचार-प्रसार को शिवसिंह ने कालक्रम के साथ प्रस्तुत करते हुए लिखा है – "संवत् 1500 में भाषा-काव्य सारे हिन्दुस्तान में ऐसी फैली कि गाँव-गाँव, घर-घर कवि हो गए। इधर ब्रजभूमि में वल्लभाचार्य, विट्ठल स्वामी और हरिदासजी महात्माओं के शिष्य ऐसे कविता में निपुण हुए, जैसा न हुए घे न कभी होंगे।" (वही, पृ. 8)

शिवसिंह ने अपने ग्रन्थ की पूर्णता एवं प्रामाणिकता को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'प्रथम हमने संस्कृत अरबी, फारसी भाषा, अंग्रेजी पुस्तकालय को छह महीने तक यथावत् अवलोकन किया; तत्पश्चात एक सूचीपत्र कवि लोगों का बनाया, उनके ग्रन्थ और सन्-संवत् उनके विद्यमान होने के और उनके जीवन चरित्र जहाँ तक प्रकट हुए, सब लिखे।" (वही, पृ. 1)

शिवसिंह ने कुछ स्थलों पर ही काल का ध्यान दिया है; वह भी कोई निश्चित योजना के कारण नहीं अपितु संवतों के साथ सूचनाओं को प्रस्तुत करने में ही काल का ध्या न दिया गया है। रचनाओं की समीक्षा प्रशंसात्मक

ज्यादा हो गई है। शिवसिंह के इस कवि-वृत्त-संग्रह को देखकर ऐसा लगता है कि रचनाओं और रचनाकारों के प्रति सही सूचना से ज्यादा उनके प्रति अतिश्रद्धा दिखाई देती है। साहित्य के प्रति अतिश्रद्धा साहित्येतिहास की दृष्टि के लिए उपेक्षा से कम बाधक नहीं होती है। इस रूप में द-तासी ने हिन्दी साहित्य को विदेशी आँख से देखा तो शिवसिंह ने अति भारतीय दृष्टि से देखा। शिवसिंह सरोज साहित्येतिहास तो नहीं है, किन्तु भारतीय दृष्टि से इतिहास के लिए कवि-वृत्त-संग्रह है।

1.3.5.02. डॉ० ग्रियर्सन का साहित्येतिहास लेखन

ग्रियर्सन ने 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' नामक हिन्दी साहित्य का इतिहास अंग्रेजी में प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ सर्वप्रथम 1888 ई. के 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के जर्नल प्रथम भाग में, तदनन्तर उक्त सोसाइटी की ओर से ही 1889 ई. में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भी प्रकाशित हुआ। किशोरीलाल गुप्त ने इसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' नाम से प्रस्तुत किया, जिसका प्रथम संस्करण 1957 में प्रकाशित साहित्य का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थों में अधिकांश लेखकों का विवरण न देकर नाम मात्र दिया गया है। इस ग्रन्थ में 739 कवियों की तिथियाँ दी गई है और 992 कवि अनिश्चितकालीन कवि हैं। ग्रियर्सन ने काल विभाजन का भी प्रयास किया है जिसका प्रमाण उसका चारणकाल नाम दिया जाना है। अधिकांश रूप में कवियों एवं काव्य-प्रवृत्तियों का ही सहारा लिया गया है। ग्रियर्सन का इतिहास युग विभाजन तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि को निर्देशित करता है। इसमें प्रवृत्तियों का निरूपण और तुलनात्मक आलोचना का अधिकांश रूप में प्रयोग किया गया है। इनके वर्णन में साहित्यिकता का प्रयोग हुआ है।

ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ लेखन की सीमा की ओर स्वयं लिखा है, "विषय अत्यन्त विस्तृत है और हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति इतनी सीमित है कि ऐसे कार्य का प्रयत्न भी नहीं किया जा सकता। अतः मैं इसको एक ऐसे सामग्री संग्रह के रूप में ही भेंट कर रहा हूँ जो नींव का काम दे सके और जिस पर दूसरे लोग, जो मुझसे अधिक भाग्यशाली हैं और जिनके पास बंगाल के एक जिला कलेक्टर की अपेक्षा अधिक अवकाश है, निर्माण कर सकें।" (वही, पृ. 42) ग्रियर्सन ने आगे कहा है कि "सामग्री को यथासम्भव कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह सर्वत्र सरल नहीं रहा है और कतिपय स्थलों पर तो यह असम्भव सिद्ध हुआ है। अतएव वे कवि जिनका समय किसी प्रकार नहीं स्थिर कर सका, अन्तिम अध्याय में वर्णानुक्रम से एक साथ दे दिए गए हैं।" (वही, पृ. 48)

यदि हम ग्रियर्सन की समस्त दृष्टियों का विश्लेषण करें तो अवश्य ही साहित्येतिहास दृष्टि की यात्रा में उनकी उपलब्धि का निरूपण किया जा सकता है। ग्रियर्सन की साम्राज्यवादी दृष्टि साहित्येतिहास के लिए और किसी देश की संस्कृति के विकास के लिए घातक है। भारत परतन्त्र देश था और ग्रियर्सन एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी। वे भारतीय संस्कृति और साहित्य के प्रति उपयुक्त श्रद्धा नहीं रखते थे। ग्रियर्सन के सामने जन-चेतना एवं भारतीयता के साथ समसामयिक वातावरण था किन्तु उसे जान-बूझकर उपेक्षित करते हैं। क्योंकि उनके साथ राज्याग्रह था। आधुनिककाल में ज्ञान प्रसार के कारण रूप में भारत की परतन्त्रता को मानना इसका प्रमाण है।

ग्रियर्सन के द्वारा महारानी के भारत में पूर्णतः शान्ति की बात कह देना उस काल की युगीन परिस्थितियों को इनकार कर देना है। परिणामतः उस काल के साहित्य रचना की सही पृष्ठभूमि की निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। जब ग्रियर्सन भारतीय देशी भाषाओं के पत्रों की उपेक्षा करते हैं, तब वे युग चेतना, जन-चेतना एवं सामाजिक मूल्योंको इनकार करते हैं (या छिपाना चाहते हैं) ग्रियर्सन इन समाचार पत्रों की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करते हैं।

ग्रियर्सन काव्य-प्रवृत्तियों के निरूपण में एक क्रम रखते हैं। वे रचनाकारों को युग के साथ ही विवेचित करते हैं। केशव और चिन्तामणि के सन्दर्भ में यह बात बिल्कुल सही उतरती है। लेकिन वे किसी भी साहित्यिक युग के परिवर्तन और विकास के कारणों की खोज भी करते हैं, जिसके लिए राजनैतिक कारणों को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। निश्चय ही ग्रियर्सन ने साहित्यिक युग के लिए सर्वथा अपर्याप्त कारण प्रस्तुत किया है, क्योंकि दो राजनयिक शक्तियों का उत्थान-पतन साहित्य-सर्जना में मात्र कारण नहीं बन सकता। ग्रियर्सन जब युग परिवर्तन और नए युग के उद्‌भव की बात करते हैं तो निश्चय ही उनका विचार संकीर्ण एवं पूर्वाग्रहपूर्ण है। फिर भी ग्रियर्सन की ऐतिहासिक दृष्टि को इनकार नहीं किया जा सकता। वे कवियों के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों में भी इतिहास ढूँढ़ते हैं।

सामग्री को कालक्रम से प्रस्तुत करने एवं तुलनात्मक आलोचना के व्यवहार के साथ साहित्यिक शैली का सूत्रपात ग्रियर्सन के ग्रन्थ को साहित्येतिहास की कोटि में पहुँचा देता है। दृष्टियों की संकीर्णता एवं पूर्वाग्रह के कारण ही उसमें दोष आया है। कुछ प्रमुख कवियों के व्यक्तित्व निरूपण में उनकी साहित्यिकता को बल मिला है। उन्होंने साहित्यिक एवं सरस शैली में आलोचना प्रस्तुत की है। निश्चय ही ग्रन्थ में पूर्वाग्रह एवं संकीर्णता को समाप्त कर दिया गया होता तो यह एक उच्च कोटि का इतिहास ग्रन्थ होता। काल निधारण एवं नामकरण के सन्दर्भ में भी बहुत कुछ सोचना अभी अपेक्षित रह गया है। यह कह सकते हैं कि ग्रियर्सन का इतिहास ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों के लिए नींव का पत्थर है।

1.3.5.03. मिश्रबन्धुओं का साहित्येतिहास लेखन

'मिश्रबन्धु विनोद' तीन सगे भाइयों पण्डित गणेश बिहारी मिश्र, राव राजा (डॉ०) श्याम बिहारी मिश्र और राय बहादुर (डॉ०) शुकदेव बिहारी मिश्र की सम्मिलित रचना है। तीनों भाई 'मिश्रबन्धु' नाम से रचना कर रहे थे। 1970 वि. (1913 ई.) में इन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' नाम से हिन्दी साहित्य का इतिहास तीन भागों में प्रकाशित कराया। इसका चौथा भाग सं. 21991 वि. (1934 ई.) में प्रकाशित हुआ। चारों भागों में कुल मिलाकर 2005 पृष्ठ एवं 4591 कवियों का विवरण है। हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मण्डल खण्डवा व प्रयाग से इसका सम्पादन हुआ जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'मिश्रबन्धु-विनोद अथवा हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। यह शीर्षक मूल ग्रन्थ का ही है।

वस्तुतः मिश्रबन्धु विनोद साहित्येतिहास ग्रन्थ की योजना में लिखा गया है, किन्तु उनकी अपनी विवशता के कारण यह विधेयवादी इतिहास न बन सका। अपने ग्रन्थ-लेखन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए मिश्रबन्धुओं ने

लिखा है। 'पहले हम इस ग्रन्थ का नाम 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' रखने वाले थे, परन्तु इतिहास की गम्भीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि हम में साहित्य का इतिहास लिखने की पात्रता नहीं है। फिर इतिहास ग्रन्थ में सभी छोटे-बड़े कवियों अथवा लेखकों को स्थान नहीं मिल सका। उसमें भाषा सम्बन्धी गुणों परिवर्तनों पर तो मुख्य रूप से ध्यान देना पड़ेगा, कवियों पर गौण रूप में। इस प्रकार यह ग्रन्थ इतिहास से इतर बातों का भी कथन करता है। हमने इसमें साहित्य सम्बन्धी सभी विषयों एवं गुणों के लाने का यथासाध्य पूर्ण प्रयत्न किया है, परन्तु जिन बातों का इतिहास में होना आवश्यक है, उन्हें भी ग्रन्थ से नहीं हटाया। हमारे विचार से प्रायः सभी मुख्य एवं अमुख्य कवियों के नाम तथा उनके ग्रन्थों के कथन से एक तो इतिहास में पूर्णता आती है, दूसरे हिन्दी भण्डार का गौरव प्रकट होता है। ... इन्हीं कारणों से असाधारण कवियों एवं ग्रन्थों के नाम छोड़कर इतिहास का शुद्ध स्वरूप स्थिर करना हमें अनावश्यक समझ पड़ा है। फिर भी इतिहास को काल समयानुसार लिखा है और ग्रन्थ के आदि में एक संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया है। इन कारणों से हमने इसका नाम इतिहास न रखकर 'मिश्रबन्धु विनोद' रखा है, परन्तु इसमें इतिहास का ही क्रम एवं इतिहास-सम्बन्धी सामग्री सन्निविष्ट रहने के कारण हमने इसका उपनाम 'हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन' रखा है।" (पृ. 45) वे आगे लिखते हैं, "यदि उन्नत भाषाओं के साहित्य इतिहास वाले ग्रन्थ देखे जावें, तो प्रकट होगा कि उनके लेखक साधारण कवियों के विषय में भी दो चार विशेषण ऐसे चुस्त कर देते हैं जो उन्हीं रचयिताओं के विषय में लिखे जा सकते हैं, औरों के नहीं। हमारे यहाँ अभी कुछ दिन तक ऐसे उन्नत इतिहास ग्रन्थों का बनना कठिन है। एक तो वहाँ के भारी गद्य लेखकों की बराबरी हम लोग नहीं कर सकते और दूसरे उनको मसाला बहुत अच्छा मिलता है।" (वही, पृ. 25-26) दूसरी तरफ अपने ग्रन्थ की विशेषता को भी व्यक्त करते हैं, "अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकार वर्तमान लेखकों का हाल नहीं लिखते हैं। ... पर हम बहुत विचारान्तर वर्तमान लेखकों का कथन भी आवश्यक समझते हैं।" (वही, पृ. 22)

मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ लेखन में कई त्रुटियों का उल्लेख किया है। यही नहीं, उन्होंने वर्गीकरण के साथ श्रेणी विभाग भी किया है। काल निरूपण सम्बन्धी भूल को भी स्वीकार करते हैं। श्रेणियाँ काव्य प्रौढ़ता के आधार पर ही की गई हैं। नलिन विलोचन शर्मा इतिहास ग्रन्थ के अभाव में विनोद को इतिहास मानने के पक्षधर हैं, किन्तु विधेयवादी दृष्टि के अभाव के कारण उसे इतिहास मानने के पक्ष में नहीं हैं। (नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 85) किशोरीलाल गुप्त मिश्रबन्धु विनोद के उपनाम हिन्दी साहित्य का इतिहास अथवा कविकीर्तन नाम पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसे साहित्येतिहास ग्रन्थ घोषित करते हैं। (किशोरीलाल गुप्त, पृ. 107)

वस्तुतः मिश्रबन्धु विनोद साहित्येतिहास ग्रन्थ की योजना में लिखा गया है, किन्तु वह पूर्णतः विधेयवादी इतिहास के स्तर को प्राप्त नहीं कर सका। यह तीन भाइयों के द्वारा अलग-अलग लिखा गया ग्रन्थ है। अतः एकान्विति के प्रयास में ही 'हम' की शैली का प्रयोग किया गया है। ये लोग जो कुछ भी लिखते हैं उसमें हम और हमने का प्रयोग करते हैं। फिर भी साहित्यिक इतिहास-दर्शन पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर भी नहीं रहे थे। किन्तु अनजाने ही उन्हें जैसे उसकी एक झलक मिल गई हो।

'मिश्रबन्धु विनोद' कविवृत्त संग्रह मात्र नहीं है जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल इसे प्रकाण्ड कविवृत्त संग्रह कहकर सम्बोधित करते हैं। निश्चय ही इस ग्रन्थ में प्रचीन इतिहासों के साथ एक विकासात्मकता है। मिश्रबन्धुओं

ने अपने इतिहास में समस्त सामग्री का प्रयोग किया है। यह उनकी विशेषता है। हिन्दी में किसी भारतीय का लिखा हुआ यह पहला इतिहास है और यद्यपि शुक्लजी ने इसकी कटु आलोचना की है, तथापि वे इससे प्रभावित हुए हैं। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कारण देश में नई चेतना उमड़ पड़ी और स्वतन्त्रता संग्राम में पहली बार इतिहास के प्रयोग की आवश्यकता महसूस की गई। फलतः इतिहास रचना का प्रयास भी प्रारम्भ हुआ 'मिश्रबन्धु विनोद' उस अपेक्षा का प्रतिफल है। यह उस युग के समस्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अंग था।

1.3.5.04. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास-दर्शन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास लिखा, जिससे साहित्येतिहास लेखन में काफी परिवर्तन हुआ। इसके परिणामस्वरूप कवि-वृत्त-संग्रहों का सर्वप्रथम प्रयोग इतिहास के रूप में किया गया। पहले यह 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था; बाद में परिमार्जन के बाद सन् 1929 ई. में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। शुक्लजी के इतिहास में इतिहास-दर्शन का दृढ़ और सशक्त रूप में प्रयोग किया गया। इस इतिहास में मतों का समर्थन अत्यन्त दृढ़ता और युक्ति-युक्ति से किया गया है। रामचन्द्र शुक्ल ने जो 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा उसकी श्रेष्ठता काल-विभाजन, कालों की प्रवृत्ति निरूपण और एक-एक कवि पर की गई आलोचना में निश्चित है। शुक्लजी सामाजिक जीवन को विविध परिस्थितियों को युग-विशेष की साहित्यिक धाराओं, विचारों, धारणाओं का उद्‌भावक मानने के कारण इतिहास की गतिविधि की नियमन शक्ति को, सामाजिक शक्ति को, सामाजिक परिस्थितियों में देखते हैं। काव्य-कला के सम्बन्ध-सूत्रों को सामाजिक जीवन में ढूँढ़ते हैं। यद्यपि शुक्लजी तथ्यों की छानबीन की ओर सचेष्ट नहीं हैं। इस ग्रन्थ में बाह्य परिस्थितियों का बहुत कुछ प्रभाव साहित्यिक प्रवृत्ति पर भी दिखाई देता है और साहित्यिक प्रवृत्तियों का बाह्य परिस्थितियों के साथ अन्तस्सम्बन्ध स्थापित किया गया है। शुक्लजी ने काल-क्रम, युग-धारा और काव्य-प्रवृत्ति के आधार पर ही अपना इतिहास प्रस्तुत किया। काल निर्धारण उनकी सबसे बड़ी विशेषता रही है। कार्यकारण शृंखला के साथ ही साहित्य का विकास प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम उन्होंने किसी पुष्ट आधार पर विभाजन किया है एवं उसके कारण भी प्रस्तुत किए हैं। साहित्येतिहास में समर्थ साहित्यिक भाषा का प्रयोग प्रथम बार हुआ है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास दृष्टि के सन्दर्भ में कहा है, "जब कि किसी देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है, ... जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है। अतः कारणस्वरूप इन परिस्थितियों का किञ्चित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ है। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 1) साहित्य के विकास की लोकबद्धता के प्रति रामचन्द्र शुक्ल का विचार स्पष्ट है, "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।" (रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग-2, पृ. 122)

रामचन्द्र शुक्ल राजनैतिक एवं अन्य बाह्य परिस्थितियों का बहुत कुछ प्रभाव साहित्यिक प्रवृत्ति पर भी देखते हैं और साहित्यिक प्रवृत्तियों का बाह्य परिस्थितियों के साथ अन्तस्सम्बन्ध स्थापित करते हैं। शुक्लजी के कथन से यह बात स्पष्ट होती है, 'हर्षवर्धन के उपरान्त ही साम्राज्य भावना देश से अन्तर्हित हो गई थी और खण्ड-खण्ड होकर जो गहरवार चौहान, चंदेल और परिहार आदि राजपूत राजा पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे, वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए लड़ा करते थे। ... उस समय तो केवल वीर गाथाओं की उन्नति सम्भव थी।" वे आगे कहते हैं, "उसके बाद जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर बह चली।" (वही, पृ. 17,19,60)

साहित्यिक प्रवृत्तियों के निरूपण में परिस्थितियों के प्रभाव की बात करते हुए भी रामचन्द्र शुक्ल साहित्यिक प्रवृत्तियों में धारावाहिकता की बात उठाते हैं, "हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में रूप की जो काव्य सरिता वेग से प्रवाहित हुई, वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से चलने लगी, पर 1000 वर्षों के हिन्दी साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।" (वही, पृ. 60) शुक्लजी ने वर्गीकरण के दो आधार लिए हैं – (i) रचना की प्रचुरता और (ii) ग्रन्थों की प्रसिद्धि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास दर्शन पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने समीक्षाएँ भी की है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'पण्डित रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं। वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था।" (शिवकुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ. 137) पारीक भी कुछ इसी विचार के पोषक हैं। रामकृपाल पाण्डेय ने शुक्लजी के चिन्तन पद्धति पर अपना विचार व्यक्त किया है, "शुक्लजी की चिन्तन पद्धति द्वन्द्वात्मक और विकासवादी है। उस पर विज्ञान का गहरा प्रभाव है। वे अपने जमाने तक होने वाली वैज्ञानिक प्रगति से भली-भाँति परिचित थे। विज्ञान की जानकारी ने उनकी चिन्तन-पद्धति एवं जीवन-दृष्टि को निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उसने उनके दृष्टिकोण को वस्तुवादी और काफी हद तक भौतिकवादी बना दिया है। द्वन्द्वात्मकता उसकी मुख्य विशेषता है।" (रामकृपाल पाण्डेय, कथा अंक; 5 नवंबर, पृ. 27) राम विलास शर्मा कहते हैं, "शुक्लजी ने तटस्थ होकर डार्विन का मत उद्धृत नहीं कर दिया। वे उस पर अपनी सम्मति भी देते जाते हैं।" विकासवाद और सृष्टि रचना की पौराणिक कथाओं के द्वन्द्व में शुक्लजी पौराणिक कथाओं के विरोधी हैं।" (शिवकुमार पृ. 184) रामलाल भी इस बात को मानते हैं कि "रामचन्द्र शुक्ल जीवन और साहित्य में विकासवाद को मानने के कारण किसी घटना, किसी कवि की विशेषता एवं किसी साहित्यिक धारा तथा किसी युग के सामान्य एवं विशिष्ट लक्षणों को कारणहीन और स्वयंभूत न मानकर जीवन की विविध परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघात की उपज मानते हैं। वे हिन्दी साहित्य के इतिहास को सतत् प्रवाहमान धारा के रूप में मानते हैं।" (वही, पृ. 148) रामकृपाल पाण्डेय के अनुसार, "उनके सामाजिक चिन्तन का केन्द्रीय तत्त्व है लोकवाद। वे व्यक्ति हित को लोकहित के अधीन मानते हैं।" (रामकृपाल पाण्डेय, वही, पृ. 27)

रांगेय राघव ने जातीयता का आरोप लगाते हुए कहा है कि "आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टि से देखा है।" (शिवकुमार, पृ. 186) जयचन्द्र राय के अनुसार "शुक्लजी की शायद यही धारणा थी कि

साहित्य के रचयिता और शिक्षित पाठक मिलकर ही उसके इतिहास का निर्माण करते हैं। अतः इतिहास लेखन में उन्हीं की चित्तवृत्तियों का निरूपण होना चाहिए इतिहास के बीच में भी जहाँ कहीं निर्गुण सन्तों का प्रसंग आता है, वहाँ वे संकेत देना नहीं भूलते कि अशिक्षित जनता के ऊपर उनका बहुत अधिक प्रभाव था।" (वही, पृ. 192) नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार, "शुक्लजी के विवरणों से यह आभास मिलता है कि हमारा आधुनिक साहित्य यूरोपीय अनुकृति पर ही चल रहा है यह एक ऐसा आरोप है, जिसे हम सम्यक् प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं कर सकते।" (वही, पृ. 192)

अचार्य शुक्ल इतिहासकार के अतिरिक्त समालोचक एवं निबन्धकार हैं। इनकी विचारधारा पर भारतीयता का प्रभाव तो है ही, साथ ही पाश्चात्य समीक्षा का भी काफी प्रभाव है। वे बहुत कुछ पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करने पर भी भारतीयता के हिमायती रहे हैं। वे विचार से मर्यादावादी तथा आदर्शवादी भी रहे हैं। अपनी पूरी समीक्षा प्रणाली पर वे आगमनात्मक और निगमनात्मक दोनों प्रणालियों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। उनकी साहित्य और समीक्षा की दृष्टि पर वैज्ञानिक चिन्तन का काफी प्रभाव पड़ा है। निश्चय ही उनके इतिहास लेखन पर उनकी समीक्षा दृष्टि का प्रभाव पड़ा है।

शुक्लजी की इतिहास दृष्टि अत्यन्त गहरी थी किन्तु उनमें असंगतियाँ भी हैं। इनका दार्शनिक दृष्टिकोण तो वस्तुवादी है, लेकिन संगत रूप में वस्तुवादी नहीं है। यही बात उनके साम्राज्यविरोधी दृष्टिकोण के बारे में भी सही है। वे साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहते थे, इसके लुटेरे रूप को जानते थे; यही सही है। लेकिन इस रूप में अलग-अलग वर्गों की भूमिका उसके सामने स्पष्ट नहीं थी। द्विवेदीयुगीन साहित्य का विश्लेषण भी सतही स्तर पर किया गया है। शुक्लजी का काल विभाजन काफी महत्त्वपूर्ण होने पर भी अनेक दोषों से पूर्ण रहा है, क्योंकि उसमें बहुत कुछ कमियाँ रह गई हैं –

1. स्पष्ट कालखण्डों में जिन काव्य खण्डों को स्थापित किया गया है, वे पारस्परिक प्रभाव को प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं।
2. नामकरण का आधार शुक्लजी ने ग्रन्थ संख्या को माना है, जो विवादास्पद ही नहीं, संदेहास्पद भी है, क्योंकि अनुसंधान से ऐसी रचनाओं की संख्या बढ़ सकती है, जो नामकरण के समय उपेक्षित रही है। 'वीरगाथा' नाम की अप्रामाणिकता इस पद्धति की अव्यावहारिकता का प्रमाण है।
3. इसी प्रकार लोक प्रसिद्धि का सिद्धान्त है, जिसमें काव्यात्मक श्रेष्ठता का सिद्धान्त समाहित है। शुक्लजी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि लोक प्रवृत्ति अथवा लोक प्रसिद्धि को किस प्रकार नापा जाएगा। यहाँ लोक प्रसिद्धि के स्थान पर व्यक्तिगत अभिरुचि को ही अधिक महत्त्व मिला है। जैन, बौद्ध और नाथ साहित्य की उपेक्षा इस बात का प्रमाण है।
4. केशव के अलंकारवादी होने के कारण रीतिकाल का आरम्भ चिन्तामणि से माना गया है।
5. शुक्लजी ने प्रत्येक काल के लिए निश्चित तिथि दी है। परन्तु उसका आधार स्पष्ट नहीं किया है। उनके द्वारा निर्धारित विभिन्न कालखण्डों का अन्तराल प्रमाण पोषक नहीं है।

6. आधार की दृष्टि से भी शुक्लजी के काल-विभाजन में काफी विविधता है – काल की निरपेक्षता, रस साधना, सम्प्रदाय, पद्धति, वृत्ति, काव्य के भेद आदि कालखण्ड के विभिन्न आधारों को अपनाया गया है।

रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास की भाषा में रचनात्मकता है। उनकी भाषा में बिम्ब विधान, व्यंग्य, विनोद, कोमलता और स्निग्धता पाई जाती है। फिर भी शुक्लजी का इतिहास ग्रन्थ एक सीमा में रहते हुए भी काफी सामर्थ्य रखता है। जब रामचन्द्र शुक्ल इतिहास जगाने का कार्य करते हैं। उस समय सांस्कृतिक चेतना के विराट् स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। प्रवृत्ति का कुछ अंशों तक निरूपण करते हैं फिर भी यह इतिहास हमारी संस्कृति का वाहक नहीं बन सकता है। वस्तुवादी दृष्टिकोण से साहित्येतिहास की व्याख्या करते हुए भी वे कहीं-कहीं धार्मिक तरंग में बह गए हैं। उनके युग को देखते हुए यह स्वाभाविक है। साहित्येतिहास की इन विशेषताओं के बावजूद जो त्रुटि है, वह यह कि प्रवृत्ति निरूपण में निश्चित अनुपात नहीं क्योंकि इसका अधिकांश भाग विवरण प्रधान ही है। वस्तुतः शुक्लजी ने लोकोन्मुखी प्रवृत्ति से ही इतिहास लेखन का कार्य सम्पादित किया है। साहित्यिक धाराओं तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण समाजशास्त्रीय आधार पर किया। अभी सांस्कृतिक मूल्यों के विकास क्रम में साहित्येतिहास लेखन की परम्परा पुष्ट नहीं हो पाई थी। आधुनिक युग के पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप वैयक्तिकता से परे आगे व्यापक सामाजिक-क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार हुआ और विभिन्न युगों के सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के वर्णन के साथ हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत हुआ। साहित्येतिहास लेखन में जिस नई परम्परा का आरम्भ रामचन्द्र शुक्ल ने किया उसका प्रभाव कभी लुप्त नहीं हो सकता। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि वह सर्वथा अपर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

1.3.5.05. श्यामसुन्दरदास का साहित्येतिहास लेखन

श्यामसुन्दरदास का ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से 1930 ई. में प्रकाशित हुआ। यही ग्रन्थ आगे चलकर 'हिन्दी भाषा' और 'हिन्दी साहित्य' दो भागों में प्रकाशित हुआ। नाम के नीचे ही लिखा है – "अर्थात् हिन्दी साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों की इतिवृत्ति, उन कालों की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थिति तथा उनके मुख्य-मुख्य निर्माताओं का वर्णन।"

श्यामसुन्दरदास के इतिहास ग्रन्थ में काल विभाजन एवं ढाँचे में मामूली हेरफेर है। इनकी उल्लेखनीय विशेषता एक ही काव्यधारा को लेकर विभिन्न कालों के आयामों में प्रस्तुत करना है। श्यामसुन्दरदास ने अपनी इतिहास दृष्टि के बारे में लिखा है कि 'हिन्दी साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों का इतिवृत्त उन कालों की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक परिस्थिति तथा उनके मुख्य-मुख्य निर्माताओं का वर्णन है। (श्यामसुन्दरदास, पृ. 1) काल के सन्दर्भ में शिक्षा वैविध्य की बात उठाते हुए श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'किसी साहित्य के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल उस साहित्य की जातिगत व देशगत प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन् विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल सम्बन्धी आन्दोलनों के उस पर कैसे-कैसे प्रभाव पड़े, किन-किन व्यक्तियों की प्रतिभा ने उसकी कितनी

और कैसी उन्नति की, ऐसी अनेक बातों का जानना भी अनिवार्य होता है ... समय परिवर्तनशील है और समय के साथ देश तथा जाति की स्थिति भी बदलती रहती है। जनता के इसी स्थिति परिवर्तन के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और की और हो जाती है, साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता चलता है।" (वही, पृ. 20)

साहित्य की व्याख्या में वैयक्तिकता का समावेश करते हुए उसे उन्होंने वैयक्तिक कला कहा है। उनके अनुसार "साहित्य एक वैयक्तिक कला है और प्रत्येक बड़े साहित्यकार की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ होती है।" (वही, पृ. 23-24) निश्चय ही वे साहित्य सर्जना की निर्वैयक्तिकता को इनकार कर साहित्य की मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हैं। वे कवि प्रतिभा को कालातीत मानते हुए कहते हैं, "प्रतिभाशाली तथा विलक्षण कवि अथवा लेखक कभी-कभी स्वतन्त्र रीति से वाणी के विलास में प्रवृत्त होते हैं और समाज की साधारण स्थितियों का उन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।" वस्तुतः श्यामसुन्दरदास का यह विचार इतिहास विरोधी है और रचनाकार का समाज से पार्थक्य निश्चय ही अर्थवत्ता और प्रयोजनवत्ता का विरोधी है। हिन्दी भाषा की निरन्तरता की संस्कृत भाषा के अजस्र प्रवाह के रूप में सिद्ध करते हुए श्यामसुन्दरदास का विचार है कि "जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारणी होती है, उसी प्रकार हिन्दी ने भी संस्कृत, पालि तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यंजित आर्य जाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परम्परागत सम्पत्ति प्राप्त की।" (वही, पृ. 24) श्यामसुन्दरदास की विचारधारा में असंगतियाँ खूब हैं। वे सर्वथा अनुपयुक्त निर्णय लेने में संकोच नहीं करते हैं। वे हिन्दी साहित्य में करुणा की अन्तर्धारा को युगीन अशान्ति, निराशा तथा पराधीनता के कारण मानते हैं। वे नवीनता की खोज तो नहीं कर पाए किन्तु तथ्यों का प्रतिपादन भी सुव्यवस्थित नहीं हो पाया है।

1.3.5.06. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का साहित्येतिहास लेखन

रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया, जिसका सम्पादन पण्डित रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' ने किया। यह ग्रन्थ राय साहब राम दयाल अगरवाला इलाहाबाद द्वारा 1931 ई. में प्रकाशित हुआ, जिसमें मिश्रबन्धुओं की परम्परा से भिन्न इतिहास से पूर्व साहित्य पर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसमें भी प्रमुख रचनाकारों को ही इतिहास निर्माता के रूप में मानने की वकालत की गई है। सुमन राजे के अनुसार, "उसके आधार पर एक हास्यास्पद काल विभाजन प्रस्तुत किया है। ... इस विभाजन के आधार पर अब तक साहित्य की वृद्धावस्था आ चुकी होगी और वह मृतप्राय होगा।" (सुमन राजे, पृ. 320) उन्होंने भी प्रत्येक काल की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की विस्तार से चर्चा की है, परन्तु साहित्य से उनका अन्तस्सम्बन्ध निर्धारित नहीं किया गया।

साहित्येतिहास के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए रसाल का कथन है कि "साहित्य का इतिहास हमें बताता है कि उस साहित्य में कब-कब, कितनी-कितनी और किस-किस प्रकार से उन्नति अथवा अवनति होती आई है, किस रूप से उसका प्रारम्भ हुआ है और किन-किन रूपान्तरों के साथ वह इस वर्तमान रूप में विकसित होता हुआ पहुँच आया है।" (रसाल, पृ.8 भूमिका) निश्चय ही यहाँ रसाल साहित्य के रूप से क्या समझते हैं स्पष्ट नहीं होता।

वे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक मूल्यों का निरूपण न करके साहित्य की अपनी एक विशेष स्थिति का परिवर्तन देखना चाहते हैं जैसे एक मनुष्य की शारीरिक रचना में होता है। रसाल साहित्य में सम्राटों की बात उठाकर प्रमुख रचनाकारों को ही साहित्येतिहासकार का आधार स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, "जिस प्रकार इतिहास में राजनीति में केन्द्र रूपी सम्राटों एवं राजाओं के शासनों, अनुशासनों एवं कार्यों का मार्मिक विवेचन सत्यता के साथ किया जाता है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी साहित्य-सम्राट रूपी लेखकों एवं कविराजों (महाकवियों) के साहित्यिक कार्यों पर प्रकाश डाला जाना चाहिए।" (वही, पृ. 9) रसाल ने केवल साहित्यिक विचारों को ही साहित्येतिहास में आवश्यक स्वीकार कर इतिहास की विधेयवादी प्रणाली को अस्वीकार किया है। उन्हीं के शब्दों में, "प्राधान्य होना चाहिए साहित्य के इतिहास में विचारों, विशेषतया साहित्य सम्बन्धी विचारों के विकास का। ... साहित्यिक क्षेत्र तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले समस्त लोगों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता है।" (वही, पृ. 10) देश की राजनैतिक और आर्थिक दशा पर ही साहित्य की प्रगति को स्वीकार करते हुए रसालजी का मत है, "यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जावे तो प्रत्येक देश एवं समाज की राजनैतिक एवं आर्थिक दशा पर ही उसकी साहित्यिक दशा एवं प्रगति समाधारित है।" (वही, पृ. 2) आगे चलकर रसाल इस बात को भूल जाते हैं और कहते हैं, "साहित्य हमारे धर्म के आधार पर स्थिर होता हुआ उसी के साथ-साथ प्रभावित हो विकसित एवं परिष्कृत होता आया है।" (वही, पृ. 15) उनके काल विभाजन के सन्दर्भ में श्यामबिहारी शुक्ल ने कहा है, "हमारी अनुमति में यह काल विभाग बहुत युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा विभाग किसी भी भाषा के इतिहास का किया जा सकता है।" (नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 92)

वस्तुतः रसालजी का साहित्येतिहास बहुत उत्कृष्ट योजना से लिखा नहीं प्रतीत होता। उस काल के साहित्य इतिहास दृष्टि को भी समाहित नहीं किया जा सका है। रसालजी के साहित्यिक इतिहास-विषयक विचार समन्वयपरक नहीं हैं अपितु निश्चित योजना के अभाव का परिचायक है। साहित्यिक इतिहास में जिन-जिन सरणियों की झलक लेखक को मिली है या जिन-जिन की कल्पना वह कर सका है, सभी को उसने अपनी परिभाषा में समाविष्ट कर दिया है। व्यवहार में इसका परिणाम यह हुआ है कि उसका विवेचन विच्छिन्न तथा योजना रहित हो गया है। इतिहास ग्रन्थ रामचन्द्र शुक्ल से आगे प्रस्थान न करके उसके ही इर्द-गिर्द परिक्रमा करता दिखाई देता है।

1.3.5.07. सूर्यकान्त शास्त्री का साहित्येतिहास लेखन

सूर्यकान्त शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ मेहरचन्द्र, लक्ष्मणदास, अध्यक्ष, संस्कृत पुस्तकालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर द्वारा सन् 1930 ई. में प्रकाशित हुआ।

शास्त्रीजी नए सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में नए इतिहास लेखन के हिमायती हैं। उन्होंने गेटे के आधार पर लिखा है, "इतिहास समय-समय पर लिखा जाना चाहिए, इसलिए नहीं कि नवीन तथ्यों का अन्वेषण हो चुका होता है, बल्कि नए दृष्टिकोण भी सामने आ जाते हैं, क्योंकि एक युग की प्रगति में सक्रिय भाग लेने वाले ऐसे केन्द्र बिन्दु पहुँचते हैं, जहाँ से अतीत एक नए ढंग से जाँचा और परखा जा सकता है।" (सूर्यकान्त शास्त्री, पृ. 81) इस प्रकार

शास्त्रीजी का दृष्टिकोण समसामयिक सन्दर्भों से नियन्त्रित है। समय सापेक्ष इतिहास-लेखन की प्रक्रिया शास्त्रीजी की मुक्त एवं वस्तुनिष्ठपरक दृष्टि का प्रमाण है। शास्त्रीजी की साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टि अत्यन्त मुक्त एवं दुराग्रह से परे है। वे रचनागत समन्वय के पक्षधर हैं। हिन्दू और मुसलमानों की रचनाओं को हिन्दी साहित्य में समाहित करके देखने की बात करते हुए शास्त्रीजी लिखते हैं, "हिन्दी साहित्य के यथार्थ बोध के लिए भारत के उपर्युक्त इतिहास का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक था। हिन्दी साहित्य के तात्कालिक विकास में जितना हिन्दुओं का हाथ है, उतना ही मुसलमानों का भी। यदि हिन्दी साहित्य की वेदी पर हिन्दुओं ने तुलसी को समर्पित किया तो मुसलमानों ने कबीर के द्वारा हिन्दी साहित्य की अनमोल सेवा की। यदि सूरदास हिन्दू थे तो जायसी का जन्म मुसलमान वंश में हुआ था। यदि मीरा बाई हिन्दू थी तो रहीम, रसखान और रसलीन ने इस्लाम की गोद में शिक्षा पाई थी। यदि हिन्दी-साहित्य गगन में से हिन्दू कवियों को निकाल दिया जाए तो सूर्यास्त हो जाता है और यदि उसमें से मुस्लिम कवियों का बहिष्कार कर दिया जाए तो चंद्रोदय नहीं हो पाता।" (वही, पृ. 28-29)

वस्तुतः शास्त्रीजी का इतिहास काफी उचित प्रयास है फिर भी अभी और प्रयास की अपेक्षा शेष है। उनकी भाषा साहित्येतिहास के लिए उचित गाम्भीर्य लिए हुए नहीं है। उनकी भाषा चमत्कार वृत्ति की ओर अधिक उन्मुख है। रामचन्द्र शुक्ल का ही विभाजन अपनाया गया है। इस ग्रन्थ में विवेचन का आधार तुलनात्मक है। वस्तुतः इस ग्रन्थ की एक मात्र शक्ति इसकी तुलनात्मक विवेचन पद्धति हैं, जो कहीं-कहीं अति तक पहुँच गई है।

1.3.5.08. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का साहित्येतिहास लेखन

अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय द्वारा सं. 1997 में प्रकाशित हुआ।

यह वस्तुतः इतिहास ग्रन्थ की योजना में न होकर उनके क्रमिक व्याख्यानों का ही पुस्तकीकरण है। इस ग्रन्थ में राष्ट्रीयता की भावना खूब पाई जाती है। हरिऔधजी की पुस्तक राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय जागरण का उद्घोष करती है, जिसमें बार-बार स्वदेशी साहित्य की गरिमा वर्णित है। सामग्री का समावेश विशेष नहीं हैं, परन्तु कवियों की आलोचना कुछ अधिक लम्बी है। प्रसिद्ध और नवोदित दोनों प्रकार के कलाकारों की उन्होंने प्रशस्ति लिखी है।

हरिऔधजी का इतिहास-दर्शन तथा हिन्दी साहित्य के विकास का विवरण हिन्दूवादी राष्ट्रीयता से अत्यधिक प्रभावित है, जिसके कारण इतिहास-लेखन की अपेक्षित तटस्थता का आभास हो गया है। वे धार्मिक पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हैं। यही कारण है कि मुसलमान सन्तों के उदार विचारों में भी साम्प्रदायिकता का दर्शन करते हैं। इसके प्रभाव में ही सूफी मत के प्रभाव को हरिऔध स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "राजधर्म होने के कारण मुसलमान धर्म की उन्नति के अनेक साधन प्राप्त थे। अतएव प्रतिदिन उन्नत हो रहा था और राज्याश्रय के अभाव एवं समुन्नत पथ के प्रतिबन्ध उपस्थित होने के कारण हिन्दू धर्म दिन-दिन क्षीण हो रहा था।" (अयोध्या सिंह,

पृ. 103) अपनी अति हिन्दूवादी राष्ट्रीयता के कारण हरिऔधजी का कथन है, "यह असम्भव था कि उत्तरोत्तर मुसलमान पवित्र भारत वसुन्धरा के विभागों को अधिकृत करते जावें और जिन सहृदय हिन्दुओं में देशानुराग था वे अपने संजातियों की देश और जाति रक्षा के लिए विविध रचनाओं द्वारा उत्तेजित और उत्साहित भी न करें।" (वही, पृ. 67)

उपाध्यायजी की दृष्टि में अनेक भ्रान्तियाँ भी आ गई हैं। जिन रचनाओं को रामचन्द्र शुक्ल संदिग्ध मानते हैं, उन्हें ये बिना प्रमाण के स्वीकार कर लेते हैं। 'खुमान रासो' शुक्लजी के लिए भी एक संदिग्ध ग्रन्थ है। उसे ये असंदिग्ध भाव से स्वीकार करते हैं। वस्तुतः इनका इतिहास अत्यन्त अपर्याप्त और दृष्टिगत भ्रान्तियों से भरा पड़ा है।

1.3.5.09. डॉ॰ रामकुमार वर्मा का साहित्येतिहास लेखन

रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह पुस्तक राम नारायणलाल, प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद द्वारा सन् 1938 में प्रकाशित हुआ। इसमें संवत् (750-1750) तक का ही इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इतनी अधिक सामग्री को बहुत ही सहज ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

वर्मा आलोचनात्मक शैली में इतिहास लेखन प्रक्रिया के पक्षधर हैं। उनकी आलोचना भी भारतीय साहित्य के आदर्श को सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना शैली से प्रभावित है। रामकुमार वर्मा निवेदन में ही स्पष्ट कर देते हैं कि "साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है। मैंने साहित्य को संस्कृति का आदर्श सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना शैली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। अभी तक की उपलब्ध सामग्री का उपयोग भी मैंने स्वतन्त्रतापूर्वक किया है।" (रामकुमार वर्मा, पृ. 1) तीसरे संस्करण की भूमिका में उनका विचार है, "वस्तुतः साहित्य और संस्कृति एक ही वृन्त के दो फूल हैं और उनका पोषण एक ही रस से होता है।" (वही, पृ. 5)

वस्तुतः वर्माजी ने रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का अनुकरण किया। आदिकाल और भक्तिकाल के आगमन के कारण देखने में दोनों के विचार समान हैं। भक्तिकालीन काव्यादर्श के समाप्त होने के कारण भी वे शुक्ल की तरह ही मानते हैं। रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति के सन्दर्भ में भी उनका विचार शुक्लजी के विचार को ही पुष्ट करता है। सुमन राजे का विचार है कि "डॉ॰ वर्मा के इतिहास की सबसे बड़ी देन विपुल सामग्री का संचयन एवं संयोजन है। इस ग्रन्थों के रचनाकाल तक जितनी सामग्री शोध के द्वारा प्रकाश में आई थी, उस सबका उपयोग डॉ॰ वर्मा ने किया है। विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों को बड़े ही सुलझे ढंग से प्रस्तुत किया है। जैन साहित्य को पहली बार उसका उचित स्थान प्राप्त हुआ।" (सुमन राजे, पृ. 321) वर्मा के इतिहास में दृष्टिकोण सम्बन्धी कई अन्तर्विरोध भी आ गए हैं। एक तरफ वर्माजी जैन साहित्य को महत्त्व देते हैं और दूसरी तरफ कहते

हैं, "जैन साहित्य में कोई बड़ा लक्षण कवि नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि प्रत्येक आचार्य का आदर्श धर्म की व्यवस्था करना प्रमुख था, काव्य का शृंगार करना गौण – केवल सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अच्छी कविता नहीं हो सकती।" (रामकुमार वर्मा, पृ. 267) इसी प्रकार वे सन्त मत के काव्य पर विचार करते हुए एक स्थान पर लिखते हैं, "सन्त मत का काव्य उच्च कोटि का नहीं है।" दूसरे स्थान पर वे कहते हैं, "कबीर काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य-रचना नहीं की थी, तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं।" (शिवकुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ. 216) वस्तुतः अपनी अपूर्णता में भी वर्माजी का इतिहास एक सफल प्रयास है। इसमें अन्तर्विरोध अवश्य है किन्तु यह अपनी इसी रचना रूप में समग्र हिन्दी साहित्य का इतिहास होता तो निश्चय ही महत्त्वपूर्ण होता।

1.3.5.10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्येतिहास लेखन

समय परिवर्तन के साथ शुक्ल-युगीन इतिहास पद्धति की पर्याप्तता के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न होने लगा। इस युग के इतिहास लेखन की कमजोरियों को जानकर आगे साहित्येतिहास-लेखन का प्रयास किया गया। शुक्लजी के कार्य-कारण सम्बन्धी दृष्टि में असंगतियाँ आ गई। इस युग की कमियों को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अच्छी तरह अनुभव किया। विभिन्न कृतियों में ही उन्होंने अपनी इतिहास-दृष्टि स्पष्ट की। उनकी कई कृतियाँ मिलकर हिन्दी साहित्येतिहास की रचना कही जा सकती हैं। उनकी प्रथम रचना 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' हिन्दी ग्रन्थ सीरीज, यू.सी. कपूर एंड सन्स, कश्मीरी गेट, देहली द्वारा स. 2009 में प्रकाशित हुई। दूसरा ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' सन् 1940 में प्रकाशित हुआ। तीसरा ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से सन् 1952 में प्रकाशित हुआ। वह उनके पाँच व्याख्यानों का संग्रह है। चौथा ग्रन्थ – 'नाथ सम्प्रदाय', पाँचवा – 'मध्ययुगीन काव्य-साधना' और छठा – 'मध्ययुगीन बोध का स्वरूप' है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रामचन्द्र शुक्ल से भिन्न 'शिष्ट-जनता' के स्थान पर 'लोक मानस' को संस्कृति का आधार मानते हुए साहित्य का और उसके इतिहास लेखन का सूत्रपात किया। व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा सांस्कृतिक इतिहास प्रणाली का प्रारम्भ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही किया। नामवर सिंह का विचार है कि "आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' ऐसे ही समय नवीन युग की भूमिका बनकर प्रकाश में आई। पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली यह पहली हिन्दी पुस्तक है। अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इस पुस्तक ने हिन्दी साहित्य के विराट् पुरुष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्य इतिहास के माध्यम से युग-युगान्तर से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार सरणी और भाव परम्परा का दर्शन कराया।" (शिवकुमार मिश्र, पृ. 216) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भिन्न इतिहास लेखन के साथ भारतीय संस्कृति की अजस्र परम्परा में द्विवेदीजी का सम्बन्ध निरूपित करते हुए इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है कि "आचार्य द्विवेदी वास्तव में भारतीय संस्कृति के इतिहासकार हैं, इसका निरूपण करने के लिए उन्होंने हिन्दी

साहित्य को माध्यम बनाया है। वे शुक्ल परम्परा के इतिहासकार नहीं है। वे उसकी सीमाओं से मुक्त होकर अपनी सीमाओं में बन्ध गए हैं। अभी तक हिन्दी साहित्य का साहित्यिक इतिहास नहीं लिखा गया है।" (वही, पृ. 216-17) सांस्कृतिक धारावाहिकता के हिमायती होने के कारण ही द्विवेदीजी हिन्दी भाषा को वैदिक और संस्कृत भाषा का ही विकास मानते हैं।

1.3.5.10.1. आचार्य हजारीप्रसाद का इतिहास दर्शन

हजारीप्रसाद द्विवेदी का इतिहास-दर्शन मानवता के विस्तृत स्तर से संचालित होने के कारण मानववादी रहा है। उन्होंने जिस इतिहास-पुरुष को विकास के रूप में प्रस्तुत किया वह हिन्दी साहित्य का विराट् पुरुष है। उनकी मानववादी दृष्टि पर रघुवंश ने लिखा है कि "हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास के बारे में धारणा इस मानववादी दृष्टि से अधिक प्रभावित रही है।" (वही, पृ. 217) हजारीप्रसाद की दृष्टि पर कांट, हीगेल आदि का बहुत कुछ प्रभाव है और वे निश्चय ही इतिहास की सार्थकता मानवता के उच्चतर स्थिति की ओर विकास में मानते हैं। वे इतिहास को एक सम्पन्न उद्देश्य की ओर विकसित मानते हुए उसमें हर राष्ट्र का विशिष्ट योगदान स्वीकार करते हैं। द्विवेदीजी की धारणा है, "मनुष्य दिन-दिन अपने महान् लक्ष्य के नजदीक पहुँचता जाएगा। सामान्य मानव संस्कृति ऐसा ही दुर्लभ लक्ष्य है। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक देश और जाति ने अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार उस महान् लक्ष्य के किसी-न-किसी पहलू का अवश्य साक्षात्कार किया है।" रघुवंश की स्थापना है, "द्विवेदीजी की सामाजिक नैतिकता और स्वाधीनता की भावना सम्बन्धी अवधारणाओं पर भी हीगेल का प्रभाव है। इसलिए 'सामाजिक नैतिकता' के साथ वे स्वाधीनता को स्वीकार करते हैं। इतिहास का लक्ष्य इसी स्वाधीनता को उपार्जित करते जाना है। स्वाधीनता अनियन्त्रित जीवन नहीं है और प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त भी इस रूप में सही नहीं है।" (वही, पृ. 217)

द्विवेदीजी की दृष्टि मार्क्स की समाजवादी दृष्टि और अर्थव्यवस्था से प्रभावित है किन्तु इसे नैतिक एवं व्यापक मानवीय प्रयोजन के क्रम में ही स्वीकार किया है। रघुवंश का मत है कि "मार्क्स की समाजवादी दृष्टि और अर्थव्यवस्था के प्रति आकर्षित होते हुए भी द्विवेदीजी ने युग-विशेष के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में निरन्तर घटित होने वाली प्रक्रिया को स्वीकार किया है, जो मार्क्स की आर्थिक वर्ग संघर्ष की द्वन्द्वात्मकता से भिन्न है और प्रायः हीगेल के अधिक निकट है।" (वही, पृ. 217) वस्तुतः द्विवेदीजी का ऐतिहासिक दृष्टिकोण वस्तुवादी से ज्यादा आदर्शवादी है। इनका आदर्शवाद नए सन्दर्भों के क्रम में व्यापक और नवीन अर्थों को समाहित कर सका है। इतिहास की समस्त प्रक्रिया को संस्कृति के सन्दर्भ में देखते हुए वे मानववादी हैं, व्यापक मानववाद ही उनकी सीमा है। विविध प्रकार के प्रभावों और दृष्टियों को मानवतावादी दृष्टि में समन्वित कर लिया गया है। इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में, "श्री हजारीप्रसाद ने आदर्शवाद के धरातल पर परस्पर विरोधी विचारधाराओं, परम्पराओं तथा प्रयोग, संस्कृति तथा सभ्यता, समाज तथा विज्ञान, मानववाद तथा मानवतावाद, गाँधी तथा मार्क्स, प्राचीन तथा नवीन जीवन-बोध में सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित कर रखा है।" (वही, पृ. 217) द्विवेदी 'अशोक के फूल' संग्रह में कहते हैं – "इतिहास को कभी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से, कभी जातिगत और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से, प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिन्दुस्तानी

जैसे हैं उन्हें वैसा होना ही है और उसी रूप में बना रहना ही उनके लिए श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न-भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखने वाले प्रचारकों ने की है, वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त होने लगी है। अगर इस जहर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रन्थों के देशी प्रामाणिक संस्करणों का अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है।" (अशोक के फूल, पृ. 186) रघुवंश ने निम्नलिखित शब्दों में अत्यन्त सार्थक स्थापना की है, "द्विवेदीजी की सांस्कृतिक दृष्टि में सामाजिक सन्दर्भ का विशेष महत्त्व है, जिसे उन्होंने सामाजिक मानववादी के रूप में स्वीकार किया है।" (शिवकुमार, पृ. 218) वे आगे रामचन्द्र शुक्ल से उनकी इतिहास दृष्टि की तुलना करते हुए कहते हैं, "रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद, द्विवेदी दोनों साहित्य के इतिहास को मानवीय परिवेश में रखकर देखते हैं और उस दृष्टि से 19वीं शती के विधेयवाद और ऐतिहासिकता से प्रभावित हैं। अन्तर केवल इस बात का है कि शुक्लजी साहित्य को युगीन जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में अथवा उसके प्रतिबिम्ब के रूप में स्वीकार करते हैं और द्विवेदीजी साहित्य को युग जीवन की सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में विवेचित करते हैं।" (वही, पृ. 219) आलोचना के सम्पादकीय में हजारीप्रसाद के इतिहास दृष्टि के प्रति कहा गया है, "हिन्दी साहित्य के इतिहास में नव मानवतावादी दृष्टिकोण का निर्देश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है और इस मानवतावाद को एक विस्तृत आधार देने की, स्वयं हिन्दी साहित्य और उसकी दीर्घकालीन पृष्ठभूमि से उसे विकसित और समर्पित करने की चेष्टा की है।" (आलोचना, त्रैमासिक, जुलाई 1954, पृ. 6)

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि के बारे में कहा है, 'द्विवेदीजी ने स्पष्टतः विधेयवादी शुक्ल परम्परा से भिन्न प्रतिज्ञा की है : "वे साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय' देना अपना लक्ष्य घोषित करते हैं।" (नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 94)

वस्तुतः हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के मूल में जीवन को माना है तथा उसके विकास में एक प्रकार की निरन्तरता का सूत्रपात किया है। उनका विकास सिद्धान्त मानव को निरन्तर विकास की ओर ले जाने वाला है। आचार्य द्विवेदीजी की सहजता और लोकचेतना तथा सामान्य मनुष्य बने रहने की शक्ति ने उन्हें वैज्ञानिक इतिहासकार बनाया है। इस तथ्य को जान लेने पर ही उनकी लोकवादिता, सहजता और सामान्य बने रहने की प्रवृत्ति की सार्थकता समझ में आती है। कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य को देखने का आग्रह, उस काल के मनुष्य की दृष्टि उन्हें अपने काल के मनुष्य से मिली है। इतिहास को सांस्कृतिक और सामाजिक आधार-भूमि पर लाकर द्विवेदीजी ने शुक्लजी के साहित्येतिहास की कमी को काफी हद तक पूरा किया। विभिन्न कृतियों के माध्यम से ही उन्होंने साहित्येतिहास-लेखन में एक नए युग का प्रवर्त्तन किया और यह सिद्ध कर दिया कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट पथ ही एक मात्र पथ नहीं है। उससे भिन्न पथ का अवलम्बन करके भी इतिहास लिखने का प्रथम प्रयास द्विवेदीजी ने किया है। हिन्दी साहित्य की भूमिका वास्तव में साहित्येतिहास-लेखन-क्षेत्र में नए युग की भूमिका है। किन्तु इसके विचार विस्तार के लिए किसी अन्य साहित्येतिहास की प्रतीक्षा कर रही है। आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी असंगति है। असंगतियाँ तो यहाँ भी हैं, जैसे सामाजिक ढाँचे में आर्य-अनार्य मूलक जातिगत सिद्धान्तों का सहारा। ... इन कारणों से नवीन इतिहास की पृष्ठभूमि के रूप में इसे स्वीकार करते हुए भी हम इसके आदर्शवादी दृष्टिकोण तथा प्रणाली को स्वीकार करने में

असमर्थ हैं। अपनी इस सीमा के साथ द्विवेदीजी का इतिहास-दर्शन अत्यन्त रूप से युक्तियुक्त और वैज्ञानिक आधारों पर आधारित है।

द्विवेदीजी के बाद बहुत काल तक हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं लिखा जा सका, क्योंकि इसके बाद शोध के स्तर पर कालों को खण्ड-खण्ड करके अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ी। दूसरी तरफ काव्य और गद्य का अलग अध्ययन प्रारम्भ हुआ। तीसरी स्थिति उन इतिहास ग्रन्थों का हिन्दी जगत् में आना था जो कई लोगों के सम्मिलित प्रयास से लिखे जा रहे थे। अतः द्विवेदीजी अपने काल के प्रमुख और प्रधान साहित्येतिहास लेखक हैं, जिनका अतिक्रमण अभी तक नहीं हो सका है।

1.3.5.11. आचार्य चतुरसेन शास्त्री का इतिहास लेखन

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' प्रस्तुत किया जो गौतम बुक डिपो, प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, नई सड़क, देहली द्वारा 1946 ई. में प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय संस्करण, 1949 ई. में प्रकाशित हुआ।

आचार्य शास्त्रीजी का दावा है कि उन्होंने प्रचलित परम्परा का उल्लंघन करके नया ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। शास्त्रीजी के अनुसार, "मैंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन प्रायः सब हिन्दी लेखकों की प्रचलित परम्परा का उल्लंघन करके अपने कुछ ऐतिहासिक दृष्टिकोण निर्धारित किए हैं और उनके समर्थन में इतिहास की सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि की सीमाएँ दी हैं।" (चतुरसेन शास्त्री, पृ. 2) शास्त्रीजी के इतिहास के बारे में श्याम बिहारी मिश्र तथा शुकदेव बिहारी मिश्र ने कहा है, "आचार्यजी का यह 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने अनेक नए सिद्धान्त जोड़े हैं, कई-कई गवेषणाओं का समावेश किया है, नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण और गहन भूमिका स्थापित की है, तथा इसे सब प्रकार से परिपूर्ण करने का प्रयास किया है।" (वही, पृ. 1-2) निश्चय ही मिश्रजी का यह उद्घोष ज्यादा प्रशंसात्मक है। ऐतिहासिक प्रमाण के कारण वे आगे कहते हैं, "पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी इतिहास नहीं है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा ही नहीं गया है।" वस्तुतः यह इतिहास जितना परिपूर्ण होने का दावा रखता है, उतना ही अपूर्ण भी है। इसमें काल निर्धारण आदि का कोई समन्वित रूप नहीं मिलता है।

1.3.5.12. शिवदान सिंह चौहान का साहित्येतिहास लेखन

शिवदान सिंह चौहान ने खड़ी हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्षों का इतिहास 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ 1954 ई. में रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, 4872, चांदनी चौक, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ।

शिवदान सिंह ने अपनी इतिहास दृष्टि की व्याख्या से पूर्व पूर्ववर्ती इतिहासकारों की दृष्टि पर दृष्टिपात किया है। शिवदानजी का विचार है कि "इतिहास-लेखन की परम्परा अनैतिहासिक और स्वेच्छाचारी है। इसके पीछे

ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव है। एक प्रकार से यह पद्धति ही एक संकीर्ण सामन्ती दृष्टिकोण का पोषण करती है, साहित्य के विद्यार्थियों में जनवादी दृष्टिकोण का विकास नहीं करती।" (शिवदान सिंह, प्रस्तावना 'ङ') निश्चय ही इस विचार के द्वारा ज्ञात होता है कि शिवदान सिंह एक प्रौढ़ इतिहासकार हैं, किन्तु वे साहित्य के इतिहास में जनवादी प्रवृत्तियों की खोज को ही अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसलिए वे समस्त इतिहास लेखकों की ओर संकेत करते हुए उनकी अवैज्ञानिकता को प्रभावित करते हैं। उनका विचार है, "दुर्भाग्य से अब तक के हमारे सभी इतिहासकार अन्तर्क्यभाव से इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही अपनाते आए हैं, इसलिए हमारा संकेत किसी व्यक्ति-विशेष की ओर नहीं है।" (वही) वे इतिहास की वैज्ञानिकता के पक्षधर हैं। वे मानते हैं कि इतिहास केवल सामयिक और प्रचलित मतवादों से ही नहीं अपितु जो दृश्यमान सत्य है उसके सत्य की ओर पहुँचने की प्रक्रिया से भी परिचालित होता है। शिवदान सिंह के अनुसार, 'इतिहासकार एक वैज्ञानिक होता है, इतिहास की दृष्टि सामयिक और प्रचलित धारणाओं और मतवादों से परिचालित नहीं होती, बल्कि गत्यात्मक वास्तविकता की ऐतिहासिक गति और दिशा का उद्‌घाटन करने के लिए जो प्रत्यक्षतः दृश्यमान है, उसके वास्तविक अथवा आन्तरिक सत्य तक पहुँचने की चेष्टा करती है। तभी इतिहास मनुष्यों के भावी विकास की दृष्टि से सार्थक बनता है, हमारा पथ-प्रदर्शन करता है, नहीं तो विकृत दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देकर हमारी दृष्टि-परिधि को सीमित बना देता है।" (वही, 'च') अपनी इसी इतिहास-दृष्टि और जनवादी आग्रह के कारण शिवदान को स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक धारा में अनैतिहासिकता और व्यक्तिवाद का अस्तित्व दिखाई देता है। उनका विचार है कि "साहित्य की रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी धारा ने व्यक्ति और समाज या वस्तुजगत् के इस वैषम्य को चिरन्तन मानकर व्यक्तिवाद की पताका फहराई। नैराश्य-वेदना के भावानुकूलों के बीच स्वच्छन्दतावाद की धारा प्रवाहित हो चली।" (वही, पृ. 32)

भाषा के विकास को सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के विकास के अनुरूप मानते हुए शिवदानजी का विचार है, "भाषाओं का विकास समान रूप से नहीं होता, जैसे जातियों का विकास समान रूप से नहीं होता। देशकाल की परिस्थितियों और अपने ऐतिहासिक जीवन के विकास क्रम के अनुसार जिसमें सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ भी शामिल हैं, जातियाँ विकास करती हैं और मानव शास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि मनुष्य की भाषाएँ इस विकास-क्रम को प्रतिबिम्बित करती हैं। अर्थात् भाषाओं के इतिहास के आधार पर उनके बोलने वाली जातियों के सांस्कृतिक विकास का सही अनुमान लगाया जा सकता है।" (वही, प्रस्तावना - 'ञ') किसी भी भाषा की शक्ति की कमी या अधिकता को अस्वीकार करते हुए शिवदान सिंह भाषा को सांस्कृतिक विकास के साथ अभिव्यंजना शक्ति का विकास मानते हैं। उनके अनुसार, "कोई भाषा किसी से हेठी नहीं है, किसी भाषा में सूक्ष्मतर अभिव्यंजना की निसर्ग शक्ति नहीं होती। मनुष्य के कर्ममय जीवन, पारस्परिक सहयोग, विचारों के आदान-प्रदान और सांस्कृतिक विकास के साथ ही भाषा में अनिवार्यतः अभिव्यंजना-शक्ति का भी विकास हो जाता है। इसी प्रकार कोई भाषा निसर्गतः साहित्य के लिए अनुपयुक्त नहीं होती।" (वही, ट) किन्तु राष्ट्रभाषा के विकास में खड़ी हिन्दी साहित्य के विकास का ही उत्तरदायित्व स्वीकारते हुए शिवदानजी का विचार है, "राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि और विकास की सम्भावनाएँ खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य की समृद्धि और विकास पर ही अवलम्बित हैं। इसलिए हमारी दृष्टि में हिन्दी-

साहित्य के इतिहास में केवल खड़ी बोली में रचा गया हिन्दी साहित्य ही परिगणित होना चाहिए, हिन्दी समूह की अन्य भाषाओं का साहित्य नहीं।" (वही, 'ढ') एक तरफ तो वे उर्दू को वृहद हिन्दी-भाषा-समूह के इतिहास में सम्मिलित करने की बात करते हैं, क्योंकि राष्ट्रीय जागरण में उसका कम महत्त्व नहीं है। दूसरी तरफ वे मानते हैं कि हिन्दी-साहित्य अभी लगभग अस्सी वर्षों पुराना ही है।

साहित्यिक प्रवृत्ति के निर्धारण के सम्बन्ध में उनका विचार है, "विषय-वस्तु से साहित्यिक प्रवृत्ति का निर्धारण नहीं किया जाता। प्रवृत्ति है, जीवन और जगत् को देखने की दृष्टि और रागात्मक प्रतिक्रिया का वह समन्वित रूप है। इसलिए स्वच्छन्दतावादी या यथार्थवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखते समय किसी रचना के बहिरंग को ही नहीं देखना चाहिए, बल्कि उसके अन्तरंग से झाँकती हुई कवि दृष्टि को पहचानना चाहिए।"

सामग्री के प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में प्रतिभाशाली कवियों के नाम पर काल विभाजन या नामकरण के विरोधी हैं। शिवदानजी का विचार स्पष्ट है, "हम शताब्दी को सीमा चिह्न मानकर इस काल अवधि को उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में नहीं विभाजित करेंगे, न हर पीढ़ी के किसी एक महत्त्वपूर्ण या प्रतिभाशाली लेखक के नाम पर भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, मध्य युग और वर्तमान युग में ही विभाजन करेंगे। दिनमान के आधार पर हिन्दी साहित्य के 'स्वर्णविहान', 'मध्याह्न' तक तो कल्पना दौड़ाई भी जा सकती है, लेकिन 'अवसान' की कल्पना भयावह है और सत्य भी नहीं। इस तरह के काल-विभाजन साहित्य के विभिन्न रूपों (कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना) के माध्यम से विकासमान हिन्दी साहित्य की परम्परा को, विशेष कर उसकी प्रवृत्तियों और गतिदिशा को समझने में सहायक नहीं होते। इसलिए इन साहित्य रूपों को अलग-अलग माध्यम से ही हम हिन्दी साहित्य के इतिहास को समझने-समझाने की चेष्टा करेंगे।" (वही, पृ. 54)

शिवदान सिंह की ऐतिहासिक चेतना जितनी ही प्रौढ़ और वैज्ञानिक है उतनी ही सीमित। साहित्य के विकास को यथा भाषा के विकास को सांस्कृतिक विकास का प्रतिफल तो वे मानते हैं, किन्तु संस्कृति के इतिहास को अस्सी वर्षों में ही वे कैसे पूरा करते हैं यह बात अत्यन्त सीमित भावना का ही परिचायक है। इसके साथ उनकी दृष्टि ही अधिक कारगर हुई है।

1.3.5.13. विश्वनाथ प्रसाद का इतिहास-लेखन

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी द्वारा सम्पादित 2015 में प्रथम बार प्रकाशित हुआ।

साहित्य का अतीत से सम्बन्ध निर्धारित करते हुए वे प्रथमतः अतीत की शुद्ध व्याख्या करते हैं। इस प्रकार अतीत के प्रति उनका विशेष अनुराग दिखाई देता है। मिश्रजी के अनुसार, "गत मात्र 'अतीत' नहीं है। अतीत में 'अति' भी है, 'अतिगीत' ही अतीत होता है .... अतीत की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह निर्विशेष आनन्द देता है। वर्तमान रागद्वेष की भूमि है, पर अतीत शुद्ध राग की भूमि है।" (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 14) वे आगे लिखते हैं, "साहित्य अतीत से अनुराग करता है – प्रधान रूप से।" (वही, पृ. 10) उनका यह अतीत

मोह तथा भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण सर्वत्र दिखाई देता है। वे साहित्य को वाद और विचारधाराओं से जोड़कर देखना चाहते हैं। मिश्रजी के अनुसार, "साहित्य तो मुक्ति का मार्ग है और वर्तमान युग में मुक्ति की साधना साहित्य ही कर सकता है।" (वही, पृ. 25) मिश्रजी की आस्था जैन साहित्य के प्रति नहीं रही। मिश्रजी लिखते हैं, "जैनों का साहित्य अपभ्रंश भाषा की दृष्टि से कृत्रिम और साहित्य की स्वाभाविक सरणि सर्वसामान्य भाव सत्ता से पूर्ण सम्बद्ध नहीं है, जनमानस का प्रकृत बिम्ब उसमें प्रतिबिम्बित नहीं है। इसलिए उसका विस्तार-विवेचन हिन्दी साहित्य की सहज विकसित परम्परा से पृथक् पड़ता है। वह स्वयं संस्कृत साहित्य से भले प्रभावित हो, पर उसने परवर्ती हिन्दी साहित्य को प्रभावित नहीं किया।" (वही, पृ. 4) इस बात से स्पष्ट है कि हिन्दी को संस्कृत से बिल्कुल भिन्न मानते हैं। काल-निर्धारण करते समय वे जनसम्पर्क को ही आधार मानते हैं। रीतिकालीन और भक्तिकालीन साहित्य की समीक्षा के साथ विश्वनाथजी का विचार है, "सबसे पहले यही देखना चाहिए कि रीतियुगीन साहित्य जनसम्पर्क का साहित्य है या नहीं। हिन्दी में रीतियुगीन साहित्य भक्ति सहित्य के समानान्तर बनने लगा था। दिखाई यही पड़ता है कि भक्ति का साहित्य यदि जनसम्पर्क का अभिलाषी था तो रीति साहित्य भी उसी के संसर्ग का इच्छुक।" (वही, पृ. 411)

मिश्रजी के ग्रन्थ में अनेक असंगतियाँ दिखाई देती हैं। एक ओर वे मानते हैं कि आदिकाल की वीरकाव्य सम्बन्धित रचनाएँ परवर्ती युग की हैं और इसके बाद भी आदिकाल का साहित्येतिहास में अस्तित्व मानते हैं। यही नहीं, वे डिंगल के 17वीं शताब्दी तक वे काव्य का विवेचन आदिकाल में करते हैं। धार्मिक प्रवृत्ति के कारण भी कुछ विचित्र निष्कर्ष सामने आए हैं, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का पूर्वाग्रह दिखाई देता है। कृष्णभक्ति तथा उससे सम्बन्धित काव्य के प्रति मिश्रजी का विचार है, "सामाजिक मर्यादा का सत्स्वरूप दिखाई पड़ा। ... कृष्णभक्ति शाखा ने सात्विक प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करके जीवन में फैले या फैलने वाले बाजारू प्रेम या लोभ की व्यभिचारी वृत्ति का उन्मूलन किया।" (वही, पृ. 139) वे तुलसीदास की महानता उनके काव्य तथा उसके सामाजिक तत्त्व के अतिरिक्त मूर्ति की स्थापना के द्वारा देश उद्धार को भी मानते हैं। सन्त काव्य और सन्तों के प्रति उनका विचार पूर्वाग्रहपूर्ण हैं। मिश्रजी के अनुसार, "जो हो, इन सन्तों को समाज सुधारक कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। समाज सुधारक वही कहा जा सकता है, जो समाज को मानने वाला और समाज की रक्षा को मानने वाला है। ये सन्त समाज को ही नहीं मानते, इनकी साधना सामाजिक साधना न होकर वैयक्तिक साधना थी ... इन सन्तों के वचन जगत् में प्रवृत्त करने वाले नहीं हैं। इसलिए ये समाज सुधारक नहीं कहे जा सकते।" (वही, पृ. 16) इन अन्तर्विरोधों के रहते हुए इतिहास लेखन में मिश्रजी हजारीप्रसाद द्विवेदीजी से आगे नहीं किन्तु पीछे चले हैं।

1.3.5.14. गणपतिचन्द्र गुप्त का इतिहास लेखन

गणपतिचन्द्र गुप्त ने हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन में एक नया प्रयास किया। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ प्रकाशक भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़ द्वारा सन् 1965 में प्रकाशित हुआ। गुप्तजी का इतिहास के प्रति विचार है, "इतिहास का सम्बन्ध अतीत की व्याखा से है तथा प्रत्येक व्याख्याता के मूल में व्याख्याता का दृष्टिकोण अनुस्यूत रहता है।" गुप्तजी का आगे विकास के सन्दर्भ में विचार है, "विकास की प्रत्येक क्रिया के मूल में कोई न कोई प्राकृतिक सर्जन-शक्ति निहित रहती है जो परम्परागत तत्त्वों एवं

सामयिक वातावरण के पारस्परिक द्वन्द्व से उद्दीप्त एवं प्रेरित होकर तब तक सक्रिय रहती है, जब तक कि द्वन्द्व के उभय पक्षों में सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। सन्तुलन स्थापना ही विकास प्रक्रिया का चरम लक्ष्य है जिसकी उपलब्धि के अनन्तर विकास की एक आवृत्ति पूर्ण हो जाती है जब तक कि परिस्थिति-भेद से उसका सन्तुलन पुनः भंग न हो जाए।" (गणपतिचन्द्र गुप्त, भूमिका, पृ. 4 एवं पृ. 5) गुप्तजी इतिहास की अनिवार्यता पर विचार प्रकट करते हैं, "प्रत्येक वस्तु का अपना इतिहास होता है, यहाँ तक कि इतिहास का भी एक इतिहास होता है। कोई भी इतिहास एकाएक अपने विकास की चरम स्थिति तक नहीं पहुँच पाता – इसके लिए एक या अनेक इतिहासकारों को क्रमशः सामग्री संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, संश्लेषण आदि की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है।" (वही, पृ. 3) लेखक की ऐतिहासिक दृष्टि (1) प्राकृतिक सर्जन शक्ति (2) वातावरण (3) परम्परा (4) द्वन्द्व और (5) सन्तुलन – इन पाँच तत्त्वों पर निर्भर करती है। साहित्य के विकास की वे साहित्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों का विकास मानते हए लिखते हैं, "साहित्य का विकास मुख्यतः तीन दिशाओं में होता है। साहित्य रूपों का विकास, साहित्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों का विकास एवं साहित्य के गुणों (विशुद्ध साहित्यिक तत्त्वों या मूल्यों का) का विकास।" (वही, पृ. 5) गुप्तजी ने काल-विभाजन पर विचार किया है और उन्होंने दोहरे नामों का प्रयोग उचित समझा। एक तो कालक्रम सूचक, दूसरे विकास-कलात्मकता के विकास सूचक। उत्कर्ष, चरम उत्कर्ष और अपकर्ष नाम ऐसे ही हैं।

गुप्त के वैज्ञानिक इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता इतिहास दर्शन की विस्तृत पीठिका है। विविध दृष्टियों से स्वतन्त्र रूप से इतना पूर्ण विचार अभी तक नहीं किया गया था, यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं है, परन्तु उसका व्यावहारिक पक्ष सदोष है। उनमें अस्पष्टता तथा अन्तर्विरोध है। अतः यहाँ तक इतिहास लेखन में एक विकासात्मक यात्रा ही यात्रा दिखाई देती है। अभी तक साहित्येतिहास दृष्टि की व्यावहारिक सम्भावनाओं का प्रतिफलन नहीं दिखाई देता।

1.3.5.15. रामखेलावन पाण्डेय का साहित्येतिहास लेखन

राम खेलावन पाण्डेय ने 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ सर्वप्रथम अनुपम, पटना द्वारा 1969 में प्रकाशित हुआ। यह एक अत्यन्त संक्षिप्त रूप में लिखा गया एक साहित्येतिहास ग्रन्थ है, जिसमें दृष्टियों की नवीनता अवश्य दिखाई देती है। इसके काल-विभाजन को देखते हुए सुमन राजे का विचार है, "स्पष्ट नहीं होता कि यह किस वस्तु का संक्रमण, संयोजन, संवर्धन, संचयन, सम्बोधि एवं संचरण हैं, साहित्य का ? अथवा चेतना का ? इस नामकरण में अनुप्रास का आग्रह प्रमुख है। साहित्यगत प्रवृत्तियाँ गौण।" (सुमन राजे, पृ. 329)

इतिहास की युगीन अपेक्षाओं एवं संश्लिष्टता को स्पष्ट करते हुए पाण्डेयजी का विचार है, "इतिहास वही नहीं जो स्मृत और सुरक्षित रह जाता है, बल्कि वह है जिसके स्मरण करने की आवश्यकता का अनुभव हमें होता चलता है। और इसीलिए प्रत्येक युग अपने लिए ऐतिहासिक तथ्यों और तत्त्वों का नवीन संगठन करता है, उसकी संरचनात्मक व्याख्या करता है। साहित्येतिहास का लेखक साहित्यकार ही नहीं है, वह वैज्ञानिक है, कला पारखी

है, दार्शनिक है और समाजशास्त्री भी। साहित्य को जीव और प्राणवान चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में रूपायित करने का प्रयास आधुनिककाल के साहित्येतिहासकार को करना पड़ेगा।" (रामखेलावन पाण्डेय, पृ. 9) साहित्य के इतिहास को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ पाण्डेय का विचार है, "साहित्य का इतिहास मात्र साहित्यिक घटनाओं का अनुलेखन नहीं हो सकता, उसमें मूल्यांकन की पद्धति सन्निहित है और मूल्यांकन मूल्य-दृष्टि से परिसीमित है। मूल्य-दृष्टि का निर्धारण करती है। अतः साहित्य का इतिहास अनेक प्रकार के इतिहासों की अन्तरंगता का समाहार भी है और अपने कल्प का संविधान भी।" (वही, पृ. 313)

साहित्येतिहास की व्याख्या करते हुए पाण्डेय का विचार है, "मानव की संरचनात्मक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति के अनेक साधनों में एक महत्त्वपूर्ण साधन और माध्यम है साहित्य। यह सम्भावना है तो उपलब्धि भी; ऐसा कहा जा सकता है कि इसमें उपलब्धि की सम्भावनाएँ और सम्भावनाओं की उपलब्धियाँ अनुस्यूत रहती आई हैं। यह प्रतीति है तो प्रक्रिया भी, स्फूर्ति है तो विन्यास भी। ... साहित्य को यदि उपलब्धि ही मानें तो परम्परा गौण रहेगी, उपलब्धियाँ विवेच्य होंगी। परम्पराएँ सम्भावनाओं का संकेत करती है और उपलब्धियाँ सम्भावनाओं के संभाव्य एवं विशिष्ट संयोजन की परिणति को प्रमाणित करती हैं। (वही, पृ. 8-9) पाण्डेयजी आगे और एसपीएसएचटी कराते हुए कहते हैं कि "साहित्य समाज का दर्पण मात्र नहीं, वह सामाजिक संस्कारों का संयोजक, उनकी संरचनात्मक सामर्थ्य की उदात्त परिणति भी है। उसमें जीवन-दर्शन है तो जीवन के संरचनात्मक उन्मेष की ओजस्विता भी।" (वही, पृ. 9) साहित्येतिहास दृष्टि की लगभग पूर्णता के बावजूद भी अति-संक्षिप्तता के कारण पाण्डेयजी का इतिहास ग्रन्थ भूमिका बनकर रह गया है।

1.3.6. हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की अन्य दिशाएँ

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आगे भी प्रयास चलते रहे किन्तु किसी में तो मौलिकता नहीं थी, परन्तु उनकी ऐतिहासिकता पर ही सन्देह व्यक्त किया गया है। इनमें भी मुख्य हैं, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का इतिहास लेखन, श्रीकृष्ण लाल का इतिहास-लेखन, भोलानाथ का 'हिन्दी साहित्य', नगेन्द्र का सामूहिक इतिहास लेखन, साहित्यिक विधाओं का इतिहास लेखन आदि।

समस्त हिन्दी साहित्येतिहासों के अध्ययन से उनमें एक इतिहास और विकास दिखाई देता है। अपनी गति में समस्त इतिहास लेखन रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी को केन्द्र बिन्दु बनाकर परिक्रमा करता रहा है, जहाँ यात्रा से अधिक यात्रा की पुनरावृत्ति ही दिखाई देती है।

इस प्रकार इतिहास लेखन के विकास को दिखाकर यह सिद्ध किया गया कि हिन्दी साहित्येतिहास की आवश्यकता बराबर बनी हुई है।

1.3.7. पाठ-सार

हिन्दी साहित्य-इतिहास लेखन की समस्याओं को निम्नलिखित रूपों में निर्दिष्ट किया गया है। सर्वप्रथम भारतीय इतिहास-दृष्टि को स्पष्ट किया गया है। भारतीय इतिहास-रचना संश्लेषणात्मक एवं भावात्मक रही है और आध्यात्मिकता में उसने इतिहास को कला के रूप में प्रस्तुत किया। उसमें मानव की चारित्रिक महानता के आधार पर व्याख्या की गई।

इसके बाद पाश्चात्य इतिहास-दर्शन से तुलना की गई। यह देखा गया कि वे सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक हैं। इतिहास-दृष्टि के परिवर्तन के कारण को युगबोध के परिवर्तन के रूप में देखा गया। इतिहास किस रूप में मानव के विकास को निर्दिष्ट करता है उसकी ओर संकेत किया गया। इस सन्दर्भ में देखा गया कि इतिहास अतीत का न होकर वर्तमान का होता है। वह एक जैविक प्रक्रिया है। इस रूप में सांस्कृतिक मूल्यों की प्रक्रिया मानते हुए मानव-जीवन में अनुभूति एवं कल्पना के गुणात्मक विकास की परिणति देखी गई। इतिहास को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि मूल्यों के सन्दर्भ में विकासमान पाया गया। इस प्रकार भारतीय उदात्त, आदर्श एवं पश्चिमी वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि के समन्वित रूप में कला और साहित्य के विकास का निर्धारण साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्या भी है।

किसी भी युगीन रचना के विकास के आधार का सम्यक् निर्धारण पुनर्लेखन की अनिवार्यता है। कारण कि साहित्येतिहास लेखन में विधेयवादी तत्त्वों को किस प्रकार रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित एवं मूल्यांकित किया जाए इसके बाद कुछ बिन्दुओं का उल्लेख किया गया जो इतिहास के पुनर्लेखन में मानक हो सकते हैं।

साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं में एक समस्या यह भी है कि उसके कालखण्डों को किन तिथियों में विभाजित किया जाए। कोई वर्ष या दिन ऐसा नहीं हो सकता जिस वर्ष और दिन से एक काल विशेष की रचना अपनी पूरी मूल्यात्मकता एवं रचनाधर्मिता में बदल जाए या कि उसे बदलने का आदेश दे दिया जाए। अतः कालखण्डों का वितरण एक कठिन समस्या है। इस सन्दर्भ में विवेचन प्रस्तुत किया गया।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य-इतिहास लेखन में भाग लेने वाले प्रमुख इतिहासकारों के इतिहास-दृष्टि का विवेचन किया गया। इन विवेचनों के बाद लगा कि ये इतिहास-लेखन किस रूप में अपूर्ण हैं। अतः साहित्येतिहास लेखन को पुनः परिपूर्ण करने की आवश्यकता बनी रही है। साहित्येतिहास लेखन की रचनात्मकता की आवश्यकता को भी निर्दिष्ट किया गया है। यही नहीं, काल निर्धारण में ललित कलाओं के विकास को भी मूल्यांकित करने की आवश्यकता को स्पष्ट किया गया।

इस सन्दर्भ में लोक-साहित्य और लोक-चेतना को प्रमाण रूप में पाने की बात उठाई गई। सर्वप्रथम साहित्येतिहासकार के लिए आवश्यक है कि वह समकालीन इतिहास-दर्शन को अच्छी तरह समझे। युग चेतना के मूल्यात्मक सन्दर्भ को निष्पक्ष रूप से जाने। तभी यह समझा जा सकता है कि अब तक लिखे गए इतिहास ग्रन्थ

पर्याप्त हैं या अपर्याप्त। इसी सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण इतिहास लेखन के आधार-दृष्टि को विश्लेषित किया गया। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि साहित्येतिहास का पुनर्लेखन किया जाए।

1.3.8. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय इतिहासदृष्टि के निर्देशक ग्रन्थ हैं –

(क) उपनिषद्
(ख) योगवाशिष्ठ
(ग) पुराण
(घ) सूत्र साहित्य

2. इ.एच. कार की पुस्तक का नाम है –

(क) आइडिया ऑफ द हिस्ट्री
(ख) कैपिटल
(ग) ह्वाट इज़ हिस्ट्री
(घ) द क्रिटिसिज़्म

3. साहित्येतिहास-दर्शन के बारे में हिन्दी में सर्वप्रथम पुस्तक किसने लिखी ?

(क) सुमन राजे
(ख) शिव कुमार
(ग) मिश्र बन्धु
(घ) नलिन विलोचन शर्मा

4. डॉ॰ सुमन राजे की पुस्तक निम्नलिखित में से कौनसी है ?

(क) साहित्य का इतिहास-दर्शन
(ख) हिन्दुई साहित्य का इतिहास
(ग) साहित्येतिहास-संरचना और स्वरूप
(घ) हिन्दी साहित्य का आदिकाल

5. ललित कलाओं की संख्या कितनी मानी गई है ?

(क) 3
(ख) 4

(ग) 7

(घ) 5

6. पश्चिम में वैज्ञानिक इतिहास-दर्शन की बात कब से आरम्भ हुई ?

(क) अट्ठारहवीं शताब्दी में

(ख) पन्द्रहवीं शताब्दी में

(ग) बीसवीं शताब्दी में

(घ) 50 वर्ष पूर्व

7. हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि कितनी पुस्तकों से पुष्ट होती है ?

(क) दो पुस्तकों से

(ख) पाँच पुस्तकों से

(ग) तीन पुस्तकों से

(घ) केवल एक पुस्तक से

8. रामचन्द्र शुक्ल का साहित्येतिहास पहले किस रूप में था ?

(क) हिन्दी शब्द सागर की भूमिका

(ख) नागरी पत्रिका का सम्पादकीय

(ग) चिन्तामणि

(घ) निबन्ध संग्रह

9. शिवदान सिंह चौहान ने हिन्दी साहित्येतिहास का समय कितने वर्ष का माना है ?

(क) अस्सी वर्ष

(ख) सौ वर्ष

(ग) एक सौ पाँच वर्ष

(घ) उन्नीसवीं शती

10. गार्सा द-तासी के साहित्येतिहास ग्रन्थ के अनुवादक हैं –

(क) रामचन्द्र शुक्ल

(ख) ग्रियर्सन

(ग) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

(घ) किशोरीलाल गुप्त

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास-दृष्टि को स्पष्ट कीजिए।
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी के इतिहास-दृष्टि की नवीनता को स्पष्ट कीजिए।
3. 'कालखण्डों की तिथियों और नामकरण की समस्या' पर टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. इतिहास लेखन की भारतीय दृष्टि पर चर्चा कीजिए।
2. ललित कला से आप क्या समझते हैं ? उनका मानव चेतना के विकास में क्या योगदान है ?
3. साहित्येतिहास लेखन की आधार सामग्री पर विस्तृत चर्चा कीजिए।

1.3.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

01. शुक्ल, विजय (1978). साहित्येतिहास सिद्धान्त एवं स्वरूप. इलाहाबाद : स्मृति प्रकाशन.
02. शर्मा, नलिन विलोचन (1960). साहित्य का इतिहास-दर्शन. पटना : राष्ट्रभाषा परिषद्.
03. राजे, सुमन (1975). साहित्येतिहास संरचना और स्वरूप. कानपुर : ग्रन्थम.
04. गुप्त, किशोरीलाल (1978). हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास.
05. सेंगर, शिवसिंह (1878). सरोज शिवसिंह. लखनऊ : नवल किशोर प्रेस.
06. ग्रियर्सन, (अनु.) गुप्त किशोरीलाल (1957). हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास. बंगाल : रॉयल एशियाटिक सोसाइटी.
07. मिश्र, पण्डित गणेश बिहारी, मिश्र श्याम बिहारी, मिश्र शुकदेव बिहारी(1913 ई 1934 ई). मिश्रबन्धु विनोद. खण्डवा व प्रयाग: हिन्दी-ग्रन्थ प्रसारक मण्डली.
08. शुक्ल, रामचन्द्र (1929). हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाराणसी : काशी नागरी प्रचारिणी सभा.
09. दास, श्यामसुन्दर (1930). हिन्दी भाषा और साहित्य. इलाहाबाद : इंडियन प्रेस.
10. शुक्ल, रमाशंकर 'रसाल' (1931). हिन्दी साहित्य का इतिहास. इलाहाबाद : एम. साहब रामदयाल अगरवाला.
11. शास्त्री, सूर्यकान्त (1930). हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास. लाहौर : मेहरचन्द्र, लक्ष्मणदास अध्यक्ष, संस्कृत पुस्तकालय
12. उपाध्याय, अयोध्यासिंह 'हरिऔध'(1997). हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास. पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय.
13. वर्मा, रामकुमार (1938). हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद : रामनारायणलाल प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता.
14. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (2009). हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास. दिल्ली : यू. सी. कपूर एंड सन्स.
15. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1940). हिन्दी साहित्य की भूमिका. पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्.

16. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1952). हिन्दी साहित्य का आदिकाल. पटना : राष्ट्रभाषा परिषद्.
17. शास्त्री, आचार्य चतुरसेन (1949). हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास. दिल्ली : गौतम बुक डिपो प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता.
18. चौहान, शिवदान सिंह (1954). हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष. दिल्ली : रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स.
19. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद (2015). हिन्दी साहित्य का अतीत. वाराणसी : वाणी वितान प्रकाशन.
20. गुप्त, गणपतिचन्द्र (1965). हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास. चण्डीगढ़ : प्रकाशक भारतेन्दु भवन.
21. पाण्डेय, रामखेलावन (1969). हिन्दी साहित्य का नया इतिहास. पटना : अनुपम.
22. शर्मा, शिवकुमार, (1975). हिन्दी साहित्य का इतिहास-दर्शन, दिल्ली : द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1: हिन्दी साहित्य : इतिहास-लेखन

इकाई – 4 : हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन, पूर्वापर समय-सीमा निर्धारण एवं नामकरण

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. उद्देश्य
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन का आधार और नामकरण
1.4.3. काल विभाजन
  1.4.3.1. जार्ज ग्रियर्सन
  1.4.3.2. मिश्र बन्धुओं द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन
  1.4.3.3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काल विभाजन
  1.4.3.4. डॉ॰ रामकुमार वर्मा का काल विभाजन
  1.4.3.5. डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी का काल विभाजन
1.4.4. कालखण्डों के नामकरण की समस्या एवं विवेचन
  1.4.4.1. आदिकाल नामकरण
  1.4.4.2. भक्तिकाल
  1.4.4.3. रीतिकाल
  1.4.4.4. आधुनिककाल
1.4.5. पाठ-सार
1.4.6. बोध प्रश्न

1.4.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन का आधार क्या है तथा विभिन्न विद्वानों के अनुसार हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन किस प्रकार हुआ इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. काल-खण्डों के नामकरण की समस्याओं पर चर्चा एवं विवेचन कर सकेंगे।
iii. हिन्दी साहित्य के इतिहास में कालखण्डों की समय सीमा पर बात कर सकेंगे और कालखण्डों के समय सीमा का निर्धारण कर सकेंगे।

1.4.1. प्रस्तावना

साहित्य मानव हृदय का स्वाभाविक उद्गार होता है। मानव हृदय के स्वाभाविक उद्गार का सम्बन्ध मानव समाज के विकास के साथ स्वाभाविकता से जुड़ा हुआ है। इसलिए साहित्य का इतिहास मानव समाज के इतिहास

के साथ-साथ विकसित होता रहा है। जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ से लेकर मानव-समाज की अब तक की यात्रा एक ही चेतना – उसकी अदम्य जिजीविषा, बेहतर दुनिया के निर्माण की आकांक्षा एवं सत्य, शिव (कल्याण) और सौन्दर्य की स्थापना से प्रेरित है, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी इन्हीं मूल्यों की तलाश करता रहा है। हिन्दी साहित्य मानव मूल्यों की स्थापना में अग्रसर है।

साहित्य किसी भी भाषा का हो, जब उसका इतिहास लिखा जाता है तो सबसे बड़ी समस्या उसके काल विभाजन और नामकरण की होती है। हिन्दी साहित्य भी इस समस्या से अछूता नहीं है। काल विभाजन की प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक कालखण्ड की समय सीमा का निर्धारण किया जाता है। विभिन्न युगों में साहित्यिक प्रवृत्तियों की शुरुआत, उनका उतार-चढ़ाव उनकी समय सीमा का निर्धारण करती हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी काल विशेष में जो प्रवृत्तियाँ हैं वह तत्काल खत्म हो जाती है; अर्थात् उसमें तुरन्त कोई परिवर्तन आ जाता है। प्रत्येक कालखण्ड में प्रमुख प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे विलुप्त होती है और नई प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे अपने उत्कर्ष को प्राप्त करती हैं इसलिए नामकरण कालखण्ड एवं प्रवृत्तियों को आधार बनाकर किया जाता रहा है। इसके अलावा साहित्य निर्धारण के अन्य अनेक घटक स्वीकार किए जाते रहे हैं।

1.4.2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन का आधार और नामकरण

किसी भी साहित्य का आधार उसमें निहित प्रवृतियाँ होती हैं, जो मूल विषयों और कथ्यों के अर्थ खोलती हैं। समयानुसार परिवर्तित होते ये विषय रचनाकारों को सार्थक सर्जना के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जिस काल या युग में समाज का जैसा स्वरूप होता है, तत्कालीन साहित्य का उसी स्वरूप के साथ दिखलाई देता परस्पर समन्वय स्थापित है। उस कालक्रम में जिस प्रकार की कृतियों की रचना और अधिकता होती है, उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के आधार पर होता है। यह आवश्यक नहीं होता है कि प्रत्येक कालखण्ड में कोई एक ही प्रवृत्ति उस समय की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधित्व करे। जहाँ ऐसा होता है वहाँ नामकरण की समस्या स्वतः हल हो जाती है। लेकिन कई बार एक कालखण्ड में किसी विशेष विषय की प्रधानता न होकर विभिन्न विषयों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। उस स्थिति में विषयाधारित कालखण्ड को निश्चित नाम प्रदान करना एक विशिष्ट समस्या का रूप लेती है। इस स्थिति में प्रयास यह किया जाता है कि उस कालखण्ड विशेष का नामकरण विशिष्ट विषयाधारित हो तथा अन्य विषयों को उपयुक्त तथा सुसंगत शीर्षकों के अनुसार उफ्नखण्डों में विखण्डित करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में काल-विभाजन का यह अर्थ नहीं कि एक काल का सीमांकन समाप्त होते ही साहित्य की धारा दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगे। एक काल की विचारधारा दूसरे काल तक प्रवहमान होती रहती है। काल विभाजन करते समय युगों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के आरम्भ और अवसान के अनुसार हो जहाँ साहित्य की मूल चेतना में बदलाव दिखाई दे और नए स्वर तथा चेतना का उदय हो, वहाँ युग की पूर्व सीमा और जहाँ यह समाप्त होने लगे वह उत्तर समय स्वीकार किया जा सकता है। काल विभाजन तर्कसंगत और विवेक पूर्ण बुद्धि से संचालित हो, जो निरन्तर विकासमान साहित्य की परम्परा को भलीभाँति समझाने में सहायक हो। काल विभाजन और विभाजित कालों का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। इनके आधार पर सामान्यतः काल विभाजन और उसके नामकरण इस प्रकार माने जाते हैं –

1. ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार : आदिकाल, मध्यकाल, संक्रान्तिकाल, आधुनिककाल आदि।
2. शासक और उसके शासन काल के अनुसार : एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, मराठाकाल आदि।
3. लोक नायक और उसके प्रभावकाल के अनुसार : चैतन्यकाल (बांग्ला), गांधी युग (गुजराती) आदि।
4. साहित्यिक नेता एवं उसकी प्रभावपरिधि के आधार पर : रवीन्द्र युग, भारतेन्दु युग आदि।
5. राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आन्दोलन के आधार पर : भक्तिकाल, पुनर्जागरण काल, सुधार काल, युद्धोत्तरकाल (प्रथम महायुद्ध के बाद का कालखण्ड) स्वातंत्र्योत्तर काल आदि।
6. साहित्यिक प्रवृत्ति के नामाधार पर : रोमानी युग, रीतिकाल, छायावादी युग आदि।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में निम्नलिखित आधार पर काल विभाजन किया गया है –

1.4.3. काल विभाजन

काल विभाजन साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस समस्या पर हिन्दी साहित्य अनेक इतिहासकारों ने अपने-अपने मतानुसार विभिन्न आधारों पर काल विभाजन किया है।

1.4.3.1. जार्ज ग्रियर्सन

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के प्रवर्तकों के रूप में फ्रेंच विद्वान् 'गार्सा द-तासी' ने कवियों का जीवनवृत्त तो उदाहरण सहित प्रस्तुत किया और काल विभाजन को उपेक्षित किया। सन् 1888 में जार्ज ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' में लेखकों तथा कवियों का कालक्रमानुसार विभाजन करते हुए साहित्यिक विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ का प्रत्येक अध्याय काल विशेष को दर्शाता है।

01. चारणकाल (700-1300 ई.)
02. पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण
03. जायसी की प्रेम कविता
04. ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय
05. मुगल दरबार
06. तुलसीदास
07. रीतिकाल
08. तुलसीदास के अन्य परवर्ती कवि
09. अट्ठारहवीं शती
10. कंपनी के शासन में हिन्दुस्तान
11. महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान

1.4.3.2. मिश्र बन्धुओं द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन

मिश्र बन्धुओं द्वारा विरचित 'मिश्रबन्धु-विनोद' चार वर्गों में विभाजित है जिसके प्रारम्भिक तीन भाग सन् 1913 ई. में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। मिश्र बन्धुओं ने अपने ग्रन्थ को इतिहास की संज्ञा न प्रदान कर इसे एक आदर्श इतिहास ग्रन्थ सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया। इसे परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए मिश्र बन्धुओं ने एक ओर तो इसमें लगभग पाँच हजार कवियों को स्थान प्रदान किया है और इसे निम्नलिखित कालखण्डों में वर्गीकृत किया है –

1. आरम्भिक काल

(क)	पूर्वारम्भिक काल	(700-1343 वि.)
(ख)	उत्तरारम्भिक काल	(1343-1444 वि.)

2. माध्यमिक काल

(क)	पूर्व माध्यमिक काल	(1445 से 1560 वि.)
(ख)	प्रौढ़ माध्यमिक काल	(1561से 1680 वि.)

3. अलंकृत काल

(क)	पूर्वालंकृत काल	(1681 से 1790 वि.)
(ख)	उत्तरालंकृत काल	(1791-1889 वि.)

4.	परिवर्तन काल	(1890-1925 वि.)
5.	वर्तमान काल	(1926 वि. से अब तक)

1.4.3.3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काल विभाजन

हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा विरचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को प्राप्त है जो मूलतः नागरी प्रचारणी सभी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप लिखा गया था जिसे आगे परिवर्धित एवं विस्तृत करके स्वतन्त्र पुस्तक का रूप प्रदान कर दिया गया। इसके प्रारम्भ में ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्घोषित किया है – "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत-कुछ राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।" सन् 1929 ई. में प्रकाशित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रस्तुत काल विभाजन सुनिश्चित स्पष्ट तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सहेजे है। काल विभाजन के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के एक हजार वर्षों के इतिहास को चार कालखण्डों में बाँट दिया जो किसी प्रकार की शंकाओं, उलझावों तथा कठिनता से युक्त है।

1. वीरगाथाकाल : वि. सं. 1050 से 1375 तक
2. भक्तिकाल : वि. सं. 1375 से 1700 तक
3. रीतिकाल : वि. सं. 1700 से 1900 तक
4. गद्य काल : वि. सं. 1900 से 1984 तक

1.4.3.4. डॉ॰ रामकुमार वर्मा का काल विभाजन

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में साहित्य इतिहास को सात प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्यतः रामचन्द्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया है। इतना अवश्य है कि युगों व धाराओं के नामकरण में किञ्चित् परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है। यथा, निर्गुण ज्ञानश्रयी शाखा, निर्गुण प्रेममार्गी (सूफी) शाखा जैसे लम्बे-लम्बे नामों के स्थान पर 'सन्त काव्य', 'प्रेमकाव्य' आदि नाम का प्रयोग दिया गया है जो अधिक सुविधाजनक है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया है –

1. सन्धि काल : वि. सं. 0693 से 1000
2. चारणकाल : वि. सं. 1000 से 1375
3. भक्तिकाल (सन्तकाव्य, प्रेमकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य) : वि. सं. 1375 से 1700
4. रीतिकाल : वि. सं. 1700 से 1900
5. आधुनिककाल : वि. सं. 1900 से अब तक

1.4.3.5. डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी का काल विभाजन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन के लगभग एक दशक बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में आते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है किन्तु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतन्त्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए नई दृष्टि, नई सामग्री और नई व्याख्या प्रदान करते हैं। परम्परागत दृष्टिकोण और सांस्कृतिक वैचारिकता को आधार स्वीकार कर इस ग्रन्थ में काल विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

1. आदिकाल : 1000 से 1400
2. भक्तिकाल : 1400 से 1575

3. रीतिकाल : 1575 से 1875
4. आधुनिककाल : 1875 से अब तक

1.4.4. कालखण्डों के नामकरण की समस्या एवं विवेचन

हिन्दी इतिहास लेखन परम्परा निरन्तर गतिमान रही है और लगभग सभी इतिहास लेखकों ने अपने ग्रन्थों को सुविधा हेतु विभिन्न कालखण्डों और उपखण्डों में विभाजित किया है। इस सन्दर्भ में अन्तिम प्रश्न युगों के नामकरण का है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित चार कालखण्डों में विभाजित किया है – (i) वीरगाथाकाल, (ii) भक्तिकाल, (iii) रीतिकाल और (iv)आधुनिककाल।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जार्ज ग्रियर्सन और मिश्र बन्धुओं के इतिहास ग्रन्थों से कुछ संकेत अवश्य लिए हैं। परन्तु काल-विभाजन और नामकरण की अन्तिम तर्कपुष्ट व्याख्या उनकी अपनी है। इसमें से भक्तिकाल और रीतिकाल के नाम को लेकर विवाद रहा। 'वीरगाथाकाल' नाम के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की गई हैं जिनमें प्रमुख रूप से तर्क यह था कि जिन रचनाओं के आधार पर इस काल-क्रम का नाम 'वीरगाथाकाल' किया जाना है उसमें से अधिकांश अप्राप्त हैं और कुछ परवर्ती काल की रचनाएँ है। इसके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि में लिखा गया है उसमें सामन्तीय और धार्मिक तत्त्वों का प्राधान्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपों की ऐसी विशेषता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। वहीं रीतिकाल के नामकरण में विरोध की प्रवृत्ति सीमित थी। यहाँ विवाद का विषय केवल युगीन साहित्य में रीतितत्त्व एवं शृंगार तत्त्व की प्रमुखता को लेकर है। नामकरण की समस्या से जुड़े निम्नांकित तथ्य उल्लेखनीय हैं –

1.4.4.1. आदिकाल नामकरण

जार्ज ग्रियर्सन और डॉ० रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को चारणकाल कहते हैं। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का मानना है कि "यदि इन्हें चारणों को साहित्य में प्रभुत्वता देनी ही थी तो चारणकाल के स्थान पर चारण काव्य शीर्षक देते तो असंगतियाँ न उभरतीं।" नवीन अनुसंधानों से उपलब्ध आदिकालीन साहित्य की सामग्री के आधार पर यह निश्चित है कि तत्कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति अंश भाग है किन्तु उसकी सर्वप्रमुखता व एकाधिकार नहीं है जिसके आधार पर युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके।

विवेच्य काल अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों के संक्रमण का युग है। वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय शुक्ल अपभ्रंश की चार रचनाओं विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्ति पताका को हिन्दी साहित्य में समाविष्ट करते हैं। इनके अलावा जिन और अन्य रचनाओं के आधार पर शुक्लजी नामकरण करते हैं उनमें से अधिकांश रचनाएँ अप्राप्त तथा संदिग्ध हैं, जिससे साहित्य समाज में इस कालक्रम को लेकर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ रही हैं। जबकि भारतीय भाषाओं के विकास क्रम तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अपभ्रंश और हिन्दी दो पृथक् भाषाएँ सिद्ध हो चुकी हैं। इससे नामकरण के लिए दिए गए साक्ष्यों में से कई कृतियाँ कालक्रम के कारण

बाहर हो गई । जिस धार्मिक साहित्य को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल परिव्यक्त कर आगे बढ़ते हैं वह साहित्य उच्चकोटि की साहित्यिक उदात्तता से परिपूर्ण है । जिसे अस्वीकृत कर देने से सम्पूर्ण आदिकालीन साहित्य आधारहीन-सा दिखाई देता है। सामान्यतः जो साहित्य आदिकाल के कवियों द्वारा लिखा गया है उसमें सामन्तीय धार्मिक तत्त्वों के साथ-साथ काव्य शैली के रूपों की ऐसी विधिता है कि किसी निश्चित और अन्तिम रूप से एक प्रवृति के आधार पर नामकरण नहीं हो सकता है। यहाँ पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत को उपेक्षा नहीं हो सकती, जहाँ वह कहते हैं कि – "शायद ही भारत के इतिहास में इतने अन्तर्विरोधों एवं विरोधों से भरा युग आया होगा।"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तावित 'आदिकाल' नाम जो भाषा और साहित्य की प्रारम्भिक अवस्थाओं का प्रतीक है, इसी नाम को इतिहास समीक्षकों ने स्वीकार किया अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम कालखण्ड के रूप को आदिकाल के नाम से अभिहित किया गया । वस्तुतः आदिकाल शब्द आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परावादी सांस्कृतिक आस्था एवं लगाव को दर्शाता है। यह शब्द अन्य प्रस्तुत नामों के अपेक्षाकृत अधिक सर्जनात्मक है । इसमें किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के प्रति पक्षपात न दर्शाकर सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को समेटने और सहेजने की अद्‌भुत शक्ति है। भाषा की दृष्टि से आदिकाल परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे विकसित भाषा की सुखद सूचना को संप्रेषित करता है। आदिकाल से भावी हिन्दी भाषा के काव्यरूप अंकुरित हुए हैं।

1.4.4.2. भक्तिकाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तावित भक्तिकाल के नामकरण एवं सीमांकन में विद्वानों की लगभग आम सहमति है । डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त ने भक्तिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में अपने विचार को इस प्रकार प्रस्तुत किया है – "भक्तिकाल नामकरण एवं उसका अन्तर्विभाजन हिन्दी साहित्य की भिन्न-भिन्न परम्पराओं के अध्ययन में साधक बनने की अपेक्षा बाधक अधिक सिद्ध हुआ है। यह नाम युगीन एक ही प्रवृत्ति को सूचित करता है जबकि इस दौरान अनेक धाराएँ , अनेक प्रवृत्तियाँ साथ-साथ प्रवहमान थीं। एक ही प्रवृत्ति को सर्वप्रमुख मान लेने से इतिहास की मात्र एकांगी, एकपक्षीय और अधूरी व्याख्या प्रस्तुत होती है जो अवैज्ञानिक लगती है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिपरक रचनाओं की श्रेष्ठता और बहुलता को ध्यान में रखते हुए इस कालखण्ड को भक्तिकाल कहा। भक्ति-भाव ही इस पूरे कालखण्ड का प्रमुख कथ्य एवं भाव रहा है। तत्काखलीन कालखण्ड में विरचित अधिकांश कृतियों के मूल भाव एवं कथ्य में भक्ति-भाव परिलक्षित होता है। इस कालखण्ड की कृतियों में निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति की दो धाराओं का विशिष्ट स्वरूप दिखलाई पड़ता है । सगुण भक्ति की दोनों शाखाओं रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा के वर्गीकरण से सामान्यतः इतिहासवेत्ता सहमत हैं। निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा दीर्घ नाम के कारण थोड़ा संदेहास्पद हैं, लेकिन डॉ॰ रामकुमार वर्मा द्वारा प्रस्तावित सन्त काव्य तथा सूफी (प्रेम) काव्य जैसे नाम बेहतर विकल्प के रूप में स्वीकार किए जाएँगे।

1.4.4.3. रीतिकाल

रीतिकाल नाम समसामयिक लक्षण-उदाहरण शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को प्रस्तुत करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत 'रीतिकाल' नाम अन्य की अपेक्षा कम विवादग्रस्त था। तत्कालीन इतिहासवेत्ताओं में मतभेद केवल इस बात का था कि किन तत्त्वों के आधार इस कालखण्ड का नामकरण किया जाए, क्योंकि तत्कालीन कालखण्डों में रीति तत्त्व के अलावा अलंकार तत्त्व और शृंगार तत्त्व की अधिकता पाई जाती है। इन्हीं तत्त्वों को आधार मानकर विभिन्न आचार्यों ने इसे विभिन्न नाम दिए, जैसे – अलंकरण की प्रवृत्ति को केन्द्र मानकर मिश्रबन्धुओं ने इसे अलंकृत काल कहा तो पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाव्यों तथा रीतिमुक्त प्रेमकाव्यों में अत्यधिक झलकते शृंगार तत्त्व को देख इस काल को शृंगार काल नाम दिया है। आपत्ति यह है कि शृंगार और अलंकार कविता के अनिवार्य तत्त्वों के रूप में स्वीकृत किए जाते हैं। इसमें भूषण, सूदन, आलम-कृत वीर रसात्मक काव्य तथा गिरधर एवं वृन्द कवियों का भक्ति-नीति काव्य सर्वथा उपेक्षित रह जाता है। ऐसी स्थिति में शृंगार और अलंकार की प्रमुखता सभी कालखण्डों में होते हुए रचनाओं को इन तत्त्वों से सुसज्जित किया गया है जबकि रीति तत्त्व इस पूरे कालखण्ड का समग्रता के साथ प्रतिनिधित्व करता है। रीति तत्त्व – रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध तत्त्वों का समावेश वीरकाव्य तथा भक्ति एवं नीतिकाव्य में भी परिलक्षित है। ऐसा भी माना जा सकता है कि तत्कालीन राजसी सामन्तशाही से परिपूर्ण जीवन रीति-लक्षणों से सराबोर था। कवि समाज का मूल उद्देश्य भी काव्यशास्त्र की जटिल अंगों-उपांगों का सरल विश्लेषण करना रहा है, इसलिए समस्त युगीन काव्यधाराओं को अपने विशाल शाब्दिक गहराइयों को सहेजने में रीतिकाल नाम उपयुक्त है। रीतिकाल का सीमांकन 17वीं शती से 19वीं शती स्वीकार किया जाता है।

1.4.4.4. आधुनिककाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रीतिकाल के परवर्ती युग को 'आधुनिककाल' की संज्ञा प्रदान करते हैं और इसको तीन चरणों में विभाजित करते हैं – प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान। साहित्य की विभिन्न विधाओं का सशक्त पल्लवन और पोषण आधुनिक युग में ही हुआ है। खड़ी बोली हिन्दी को सुव्यवस्थित, परिष्कृत और प्राञ्जल स्वरूप आकार-प्रकार इसी कालखण्ड में प्राप्त हुआ। इस काल को एक ओर जहाँ डॉ॰ श्यामसुन्दरदास ने नवीन विकास काल के रूप में स्वीकार किया है, वहीं दूसरी ओर डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिककाल के रूप में इस कालखण्ड को स्वीकार किया है। इसके अलावा अन्य परवर्ती आचार्यों ने भी इसे आधुनिककाल के रूप में स्वीकार किया। प्रथम उत्थान काल और द्वितीय उत्थान काल के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यह स्वीकार करते हैं कि इन्हें क्रमशः भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल भी कहा जा सकता है। प्रथम उत्थान काल प्राचीनता और नवीनता के सन्धि स्थल पर स्थित गौरवमयी महान् अतीत की पृष्ठभूमि पर विदेशी अंग्रेजी शासकों की अन्यायपूर्ण नीतियों के विरुद्ध नव जाग्रति तथा नई साहित्यिक चेतना को उद्भाषित कर रहा था इसलिए डॉ॰ नगेन्द्र अपने साहित्येतिहास में इसे पुनर्जागरण काल नाम देते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे ऊर्जस्वित तथा सर्वप्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व से नवीन युग का सूत्रपात हुआ है; इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तावित 'भारतेन्दु युग' नाम से आपत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार द्वितीय उत्थान काल को जागरण सुधारकाल या द्विवेदी युग कह सकते हैं। तृतीय उत्थान काल के अन्तर्गत छायावाद युग के साथ-साथ प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा, हालावाद तथा छायावादोत्तर युग (समकालीन लेखन) आदि सम्मिलित हो सकते हैं। ये नाम समसामयिक साहित्यिक चेतना तथा लोक अभिरुचियों-सम्वेदनाओं को दर्शाने में सक्षम है।

1.4.5. पाठ-सार

उपर्युक्त लक्षणों तथा विवेचन को आधार बनाकर हिन्दी साहित्य का काल विभाजन और नामकरण सामान्य रूप से इस प्रकार है –

1. आदिकाल	:	सातवीं शती के मध्य से चौदहवीं शती के मध्य तक
2. भक्तिकाल	:	चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक
(1) निर्गुण काव्य	:	सन्तकाव्य और प्रेम (सूफी) काव्य
(2) सगुण काव्य	:	रामकाव्य और कृष्णकाव्य
3. रीतिकाल	:	सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक
(1) रीतिबद्ध काव्यधारा		
(2) रीतिसिद्ध काव्यधारा		
(3) रीतिमुक्त काव्यधारा		
4. आधुनिककाल	:	उन्नीसवीं शती के मध्य से अद्यतन
(1) पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु युग)	:	1857 से 1900 ई.
(2) जागरण सुधारकाल (द्विवेदी युग)	:	1500 से 1918 ई.
(3) छायावाद काल	:	1918 से 1938 ई.
(4) छायावादोत्तर काल	:	1938 से अब तक

i. प्रगतिवाद
ii. राष्ट्रीय सांस्कृतिक साहित्य
iii. प्रयोगवाद
iv. साठोत्तरी कथा साहित्य
v. समकालीन लेखन

1.4.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. चारणकाल किस कालखण्ड के लिए कहा गया ?

(क) आदिकाल
(ख) भक्तिकाल
(ग) रीतिकाल
(घ) आधुनिककाल

2. धार्मिक प्रवृत्तियों की अधिकता किस काल में देखने में आती हैं ?

(क) आदिकाल
(ख) भक्तिकाल
(ग) रीतिकाल
(घ) अलंकृत काल

3. अलंकृत काल किस कालखण्ड के लिए कहा गया ?

(क) रीतिकाल
(ख) भक्तिकाल
(ग) आदिकाल
(घ) आधुनिककाल

4. हिन्दी साहित्य के इतिहास को मुख्यतः कितने कालों में विभाजित किया गया है ?

(क) 04
(ख) 06
(ग) 08
(घ) 10

5. भारतेन्दुकाल का अन्य नाम क्या है ?

(क) जागरण काल
(ख) जागरण सुधार काल
(ग) पुनर्जागरण काल
(घ) छायावाद काल

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन बताइए।
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन लिखिए।
3. आदिकाल को रामचन्द्र शुक्ल ने किस आधार पर वीरगाथाकाल कहा है ?
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के काल विभाजन का आधार क्या है ?
2. कालखण्डों के नामकरण की समस्याओं का विवेचन कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : आदिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 1 : आदिकाल की पूर्वापर समय-सीमा निर्धारण, नाम-निर्धारण की समस्या एवं पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य
2.1.1. प्रस्तावना
2.1.2. हिन्दी साहित्य का आरम्भ व विकास
2.1.3. आदिकाल की पूर्वापर समय सीमा निर्धारण
  2.1.3.1. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार भूमि का प्रश्न
  2.1.3.2. समय सीमांकन
2.1.4. आदिकाल : नाम-निर्धारण की समस्या
  2.1.4.1. वीरगाथाकाल
  2.1.4.2. सन्धि-चारणकाल
  2.1.4.3. प्रारम्भिक काल
  2.1.4.4. आदिकाल
  2.1.4.5. बीजवपन काल
  2.1.4.6. सिद्ध-सामन्त-काल
  2.1.4.7. वीर-काल
2.1.5. आदिकाल की पृष्ठभूमि
  2.1.5.1. राजनैतिक पृष्ठभूमि
  2.1.5.2. सामाजिक पृष्ठभूमि
  2.1.5.3. धार्मिक पृष्ठभूमि
  2.1.5.4. साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
2.1.6. पाठ-सार
2.1.7. उपयोगी ग्रन्थ सूची
2.1.8. बोध प्रश्न

2.1.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. आदिकाल की पूर्वापर समय सीमा निर्धारण के विविध पक्षों की जानकारी हासिल कर सकेंगे।
ii. काल विभाजन व नाम निर्धारण की समस्या के आलोक में हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'आदिकाल' के विभिन्न पहलुओं को जान सकेंगे।
iii. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि से अवगत हो सकेंगे।

2.1.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास का सवाल हिन्दी भाषा के आरम्भ से जुड़ा हुआ है। जिस प्रकार विभिन्न कालखण्डों में भारतीय जनभाषाओं से विभिन्न साहित्यिक रूप संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश आदि विकसित हुए हैं, उसी प्रकार हिन्दी से विभिन्न साहित्यिक रूपों की अभिव्यक्ति हुई है। इस विकास और विविधरूपता में अन्य सामानान्तर विकास आदि से पृथकता यह है कि हिन्दी का यह विकास इतने कम समय में हुआ कि विकासक्रम में आने वाले विभिन्न रूपों का भिन्न-भिन्न परिनिष्ठित रूप उतना स्पष्ट नहीं है। हिन्दी के इन विभिन्न रूपों की अस्पष्टता के साथ ही इन रूपों के सम्बन्ध में बहुत अधिक विवाद भी हैं। इस आलोक में हिन्दी साहित्य के उद्भव एवं विकास की यात्रा को समझने के क्रम में सबसे अधिक विवाद का केन्द्र आदिकालीन हिन्दी साहित्य ही है। इसलिए प्रस्तुत इकाई आदिकालीन हिन्दी साहित्य के विविध आयामों पर केन्द्रित है।

हमारा पूरा जातीय अनुभव हिन्दी साहित्य में सुरक्षित है। हिन्दी जाति की जो पूरी परम्परा है, संस्कृति है, वह मुकम्मल तौर पर इस साहित्य में सुरक्षित है। हिन्दी साहित्य में हमारे सामाजिक अनुभव, परम्परा और मूल चेतना आदि सुरक्षित हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का बहुत प्रसिद्ध कथन है कि "किसी भी देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।" इसका अभिप्राय यह है कि जनता का मन, जनता के सोचने-समझने के तरीके, जनता की चेतना, ये सभी साहित्य की अन्तर्वस्तु को निर्धारित करते हैं। यही वजह है कि साहित्य का स्वरूप वैयक्तिक नहीं होता। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के रूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। इस तरह आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को देखते हुए साहित्यिक परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास है। हालांकि सामंजस्य स्थापित करने के सन्दर्भ में मौलिकता का प्रश्न भी अत्यन्त उल्लेखनीय हो जाता है।

इस प्रकार युग चेतना और साहित्य चेतना के समन्वय पर आधारित इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप को ही हमें अपनाना चाहिए तथा इसी के आधार पर एक सम्यक् रूपरेखा का निर्माण करना चाहिए। प्रकृति विश्लेषण तथा प्रमुख साहित्यकारों एवं कृतियों के योगदान व स्थान निर्धारण का भी साहित्य के इतिहास में उतना ही महत्त्व है। साथ ही, विषय व अन्तर्वस्तु विवेचन का कलेवर विषय के महत्त्व के अनुरूप ही होना चाहिए। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की परम्परा व विकास में आदिकाल की पूर्वापर समय सीमा का निर्धारण, नाम निर्धारण की समस्या एवं पृष्ठभूमि का अध्ययन एवं विश्लेषण भी इसी सन्दर्भ में किया जाना चाहिए।

2.1.2. हिन्दी साहित्य का आरम्भ व विकास

गार्सा द-तासी के इतिहास में हिन्दी और उर्दू के बहुत सारे कवियों का विवरण क्रमानुसार दिया गया है। वस्तुतः उसका महत्त्व इस बात में है कि इसमें हिन्दी के कवियों का क्रम प्रस्तुत किया गया है। अपनी प्रकृति एवं प्रभाव में यह केवल इसलिए चर्चा का विषय रहा कि यह हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास है। हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास 'शिवसिंह सरोज' नाम से 1883 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके अन्तर्गत एक हजार कवियों के

जीवनवृत्त को संकलित किया गया है। साथ-ही-साथ उन कवियों के कविताओं के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किए गए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास लेखन में 'शिवसिंह सरोज' की सामग्री का आवश्यकतानुसार उपयोग किया है।

वस्तुतः कवियों के जीवन का जो इतिहास है उसे विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने की कोशिश 'शिवसिंह सरोज' में की गई है। फिर भी इस ग्रन्थ में विश्वसनीयता का अभाव है, क्योंकि कवियों के जीवनवृत्त को प्रस्तुत करने में बहुत हद तक सामाजिक किंवदन्तियों का सहारा लिया गया है तथा कोई ऐतिहासिक विश्लेषण या ऐतिहासिक खोज इसमें नहीं की गई है। लेकिन इस ग्रन्थ की उपयोगिता इस बात में निहित है कि पहली बार हिन्दी के एक हजार (1000) कवियों के नाम और उनसे कुछ जुड़ी हुई कथाएँ एक साथ जुड़ी हुई दिखाई पड़ीं।

वर्ष 1888 ई. में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा लिखित 'मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' का प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थ के बारे में कहा जाता है कि यह हिन्दी साहित्य का पहला विधिवत इतिहास है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रियर्सन के इस इतिहास ग्रन्थ से ही अपने ढाँचे को ग्रहण किया और उसमें नए तरीके की सामग्री और दृष्टिकोण का समावेश किया। वैसे यहाँ यह भी उल्लेखनीय हो जाता है कि ग्रियर्सन ही वह पहला इतिहासकार है जिसने मध्यकालीन काव्य को स्वर्ण युग की संज्ञा से अभिहित किया। फिर भी ग्रियर्सन का प्रयास भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। पहली बात तो यह है कि ग्रियर्सन के काल विभाजन में बहुत सारी विसंगतियाँ हैं। उदाहरण के तौर पर उन्होंने आदिकाल को चारणकाल कहा और छठी शताब्दी को चारणकाल का समय निर्धारित किया। इस प्रकार आलोचकों का कहना है कि काल और हिन्दी साहित्य प्रवृत्ति के बीच जो सीधा और प्रामाणिक सम्बन्ध दिखाया जाना चाहिए, ग्रियर्सन उस सम्बन्ध को नहीं दिखा पाते। इतना ही नहीं, धार्मिक साहित्य में जो विभिन्न काव्यान्दोलन हैं, उसका सम्यक् विभाजन और पहचान भी ग्रियर्सन नहीं कर पाते हैं।

इसी अनुक्रम में हिन्दी साहित्य का चौथा इतिहास 'मिश्रबन्धु विनोद' प्रकाशित हुआ। मिश्र बन्धुओं ने इस इतिहास को एक आदर्श इतिहास बनाने की कोशिश की। इसमें पाँच हजार कवियों को शामिल किया गया और हिन्दी साहित्य के इतिहास को आठ से अधिक कालखण्डों में विभक्त किया गया। मिश्र बन्धुओं की दृष्टि पर चूँकि रीतिकाल का प्रभाव अधिक था, इसलिए कौन कवि बड़ा है और कौन कवि छोटा है, इसका चयन उन्होंने रीतिकाल में से किया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल को केन्द्र में रखने का श्रेय मिश्रबन्धुओं को प्राप्त है। साथ ही, तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात भी मिश्रबन्धुओं ने ही किया। फिर भी मिश्र बन्धुओं के इतिहास में भी ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव सहज ही परिलक्षित होता है। मिश्र बन्धु यह भी बताने में असफल रहे हैं कि एक रचनाकार दूसरे रचनाकार से किन प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ है। वैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन कि मैंने अपनी बहुत सारी सामग्री 'मिश्रबन्धु विनोद' से ली है, के आलोक में 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका रेखांकित करने योग्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का प्रकाशन वर्ष 1929 ई. में हुआ। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत हिन्दी साहित्य के इतिहास की पहली विशेषता यह है कि उन्होंने युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में साहित्य के विकासक्रम की व्याख्या प्रस्तुत की है। परिस्थिति और साहित्य के बीच के बहुत जटिल और अनिवार्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने इतिहास का निर्माण किया है इसलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास के जितने चरण हैं, उन चरणों के ऐतिहासिक कारणों का प्रामाणिक विश्लेषण आचार्य शुक्ल के ग्रन्थ में परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए अपने इतिहास की शुरुआत करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालखण्डों में विभाजित किया है – आदिकाल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल और आधुनिककाल। फिर उन्होंने स्पष्ट किया है कि ये कालवाची शब्द हैं, इन कालवाची शब्दों की कुछ साहित्यिक संज्ञाएँ भी हैं। तब उन्होंने आदिकाल को 'वीरगाथाकाल', पूर्व मध्यकाल को 'भक्तिकाल', उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' तथा आधुनिककाल को 'गद्यकाल' कहा है। इस प्रकार 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अपने विषय का पहला ग्रन्थ है जिसमें सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से स्पष्ट विवेचन का समावेश किया गया है। साथ ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल की चर्चा को हाशिए पर रखकर अपने इतिहास में भक्तिकाव्य की महत्ता को स्थापित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने भक्तिकाव्य को जातीय चेतना का काव्य कहा है। लेकिन इसके बावजूद शुक्लजी भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं हैं। उनकी इतिहास दृष्टि की कुछ सीमाएँ हैं, जैसे कि प्रामाणिकता का अभाव। प्रामाणिकता के अभाव के ये चिह्न खासतौर पर, जब हम आदिकाल की विवेचना करते हैं, तब दिखाई पड़ती है। आदिकाल को उन्होंने 'वीरगाथाकाल' कहा तथा वीरगाथाकाल कहने के लिए जिन बारह ग्रन्थों का उन्होंने उल्लेख किया है, उसमें से अधिकांश रचनाएँ या तो अप्राप्य हैं या अप्रामाणिक हैं।

आगे हिन्दी साहित्य के इतिहास की व्याख्या एवं लेखन की परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास की विवेचना करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'परम्परा' की उपयोगिता एवं महत्त्व को रेखांकित करते हैं। इसी सन्दर्भ में डॉ॰ रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1935) पण्डित विश्वनाथ प्रसाद द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (1954), डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' डॉ॰ बच्चन सिंह द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' आदि भी अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

2.1.3. आदिकाल की पूर्वापर समय सीमा निर्धारण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में 993 ई. से 1318 ई. तक के कालखण्ड को आदिकाल कहा है और कारण यह है कि यद्यपि भाषा की दृष्टि से आदिकाल की सामग्री आठवीं शताब्दी से मिलने लगती है लेकिन वे साहित्यिक रचनाएँ नहीं हैं। इसलिए जहाँ तक हिन्दी भाषा की शुरुआत का प्रश्न है, आचार्य शुक्ल के अनुसार यह आठवीं शताब्दी से शुरू होता है। वैसे शुक्लजी ने अपभ्रंश की रचनाओं को भी ध्यान में रखा है क्यों कि वे भाषा की दृष्टि से अति महत्त्वनपूर्ण हैं। उन्होंने इन्हें अपने इतिहास में तो स्थान तो दिया है, लेकिन साहित्य में नहीं। हालांकि बाद में राहुल सांकृत्यायन की खोजों के आधार पर यह मान्यता विकसित और स्वीकृत हुई कि हिन्दी के पहले कवि सरहपा हैं और उनका समय 760 ई. है। इसी मान्यता को बल प्रदान

करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा कि जिसे शुक्लजी धार्मिक साहित्य कह रहे हैं और अपने इतिहास से बाहर निकाल रहे हैं, उस धार्मिक साहित्य को भी साहित्य मानना पड़ेगा। इस आधार पर जब सरहपा हिन्दी के पहले कवि स्वीकार हो जाते हैं तो हम आदिकाल की आरम्भिक सीमा आठवीं शताब्दी मान सकते हैं। हालांकि शुक्लजी भी ऐसा स्वीकार करते हैं, लेकिन भाषा की दृष्टि से। इस प्रकार आठवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्रस्थान बिन्दु है।

2.1.3.1. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधारभूमि का प्रश्न

वास्तव में हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक प्रकार से सर्वाधिक समस्यायुक्त और विवादग्रस्त काल कहा जा सकता है। इस काल को लेकर जो समस्याएँ सामने आती हैं, वे इस प्रकार हैं –

i. हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पहली समस्या भाषा के स्वरूप को लेकर है। इस काल में भाषा की एकरूपता की समस्या साहित्य के इतिहास लेखन के समय अनेक समस्याओं को पैदा करती है।
ii. आदिकाल से सम्बन्धित दूसरी समस्या काल के सीमा निर्धारण की है। इस पर विद्वानों में अभी तक मतैक्य नहीं हुआ है। कोई इसे संवत् 1400 तक ले जाता है तो कोई संवत् 1300 पर समाप्त कर देता है। और कुछ लोग इसे संवत् 1375 तक स्वीकार करते हैं।
iii. हिन्दी साहित्य के आदिकाल के नामकरण की समस्या भी पर्याप्त है। समस्या यह है कि इसे किस नाम से पुकारा जाए और इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम क्या हो सकता है।
iv. हिन्दी साहित्य के आदिकाल से सम्बन्धित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सवाल यह भी है कि इसमें किस रस की प्रधानता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल में रचित बारह ग्रन्थों को प्रामाणिक और वीर रस का मानकर इस काल का नाम ही 'वीरगाथाकाल' रख दिया है। इसके विपरीत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे धार्मिक भावनाओं और अपभ्रंश भाषा में लिखित ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य का काल माना है। ऐसी स्थिति में शुक्लजी द्वारा दिया गया 'वीरगाथाकाल' नाम भी गलत साबित हो जाता है और वीर रस भी प्रभावहीन हो जाता है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य की परम्परा एवं विकास में आदिकालीन साहित्य की आधारभूमि को लेकर आज भी अनेक प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित हैं। अतः इन प्रश्नों का समाधान न हमारे लिए आवश्यक है, अपितु हिन्दी साहित्य, विशेषकर आदिकालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार करते हुए उसका पुनर्लेखन भी आवश्यक प्रतीत होता है।

2.1.3.2. समय सीमांकन

वैसे तो आदिकाल के प्रारम्भिक सीमा निर्धारण के सम्बन्ध में विवाद बहुत गहरा है, लेकिन सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि मान लेने से हिन्दी साहित्य के आरम्भ की सीमा आठवीं शताब्दी अर्थात् 769 ई. सुनिश्चित

हो जाती है। वस्तुतः यह सीमा राहुल सांकृत्यायन के मत पर आधारित है। जार्ज ग्रियर्सन, शिवसिंह, मिश्र बन्धु, गुलेरी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ॰ रामकुमार वर्मा इससे बहुत दूर तक सहमत हैं।

एक दूसरा पक्ष उन विद्वानों का भी है जो हिन्दी साहित्य का आरम्भ ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्तिम सात वर्षों से स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों का नेतृत्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। उनके मतानुसार मुंज और भोज के समय 993 ई. से आरम्भिक हिन्दी का प्रयोग शुद्ध साहित्य में हुआ। लेकिन, आचार्य शुक्ल ने पुरानी हिन्दी को ही 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'अपभ्रंश' भी कहा है । और, जिन बारह कृतियों के आधार पर वीरगाथाकाल का नामकरण किया है, उनमें भी वे अपभ्रंश की चार रचनाओं को शामिल करते हैं। इतना ही नहीं, वे वीरगाथाकाल को अपभ्रंशकाल एवं देशभाषा काव्य में विभाजित करके सरहपा, देवसेन आदि कवियों से परिचय करवाते हैं। अतः परोक्ष ढंग से वे स्वयं भी वीरगाथाकाल से सम्बोधित 'आदिकाल' की सीमा सरहपा तक निर्धारित करते हैं। संक्षेप में, आदिकाल के समय सीमांकन के सन्दर्भ को लेकर कतिपय महत्त्वपूर्ण विचार उल्लेखनीय हैं; यथा –

i. हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करने वाले प्रथम इतिहासकार जार्ज ग्रियर्सन ने आदिकाल की अन्तिम सीमा 1400 ई. तक स्वीकार करते हैं।
ii. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसकी प्रारम्भिक सीमा संवत् 1050 से संवत् 1375 तक माना है।
iii. राहुल सांकृत्यायन सरहपा को पहला कवि मानकर इसकी सीमा 760 ई. से 1300 ई. तक स्वीकार करते हैं।
iv. मिश्र बन्धु ने संवत् 700 से संवत् 1300 तक आदिकाल का सीमांकन करते हैं और पुष्पया पुंड को प्रथम कवि मानते हैं।
v. डॉ॰ रामशंकर रसाल ने आदिकाल की अन्तिम सीमा को 1343 ई. तक स्वीकार करते हैं।

2.1.4. आदिकाल : नाम-निर्धारण की समस्या

आदिकाल के नामकरण को लेकर बहुत विवाद है। इस विवाद के अनेक कारण हो सकते हैं। विवाद का एक कारण यह है कि आदिकाल की साहित्यिक सामग्री के प्रति अलग-अलग इतिहासकारों की अलग-अलग समझ है। एक कारण यह भी हो सकता है कि आलोच्य दौर साहित्य का ही नहीं, अपितु इतिहास का भी बहुत संक्रमित काल है। इतना ही नहीं, इस काल सामाजिक संरचनाओं में भी जो हलचल दिखाई दे रही है, वह जीवन-मूल्यों व पद्धतियों में टूट-फूट की प्रक्रिया का परिणाम माना जा सकता है।

वस्तुतः सामाजिक जीवन की अस्थिरता के कारण रचनाओं के भीतर अन्तर्विरोधी चेतना है । इस अन्तर्विरोधी चेतना के कारण भी नामकरण पर सहमति का अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उदाहरण के तौर पर एक इतिहासकार युद्ध काव्यों की बहुलता को देखता है तो दूसरा इतिहासकार धार्मिक काव्यों की बहुलता को

रेखांकित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार आदिकाल के नामकरण का विवाद का सवाल भी इस अनिर्दिष्टता से कहीं-न-कहीं जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।

उक्त विवाद का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि आदिकाल की रचना सामग्री को लेकर विद्वानों में मतैक्य का प्रायः अभाव है। उदाहरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन रचनाओं को आधार मानकर इसका नामकरण किया था, बाद में पता चला कि उनमें से अधिकांश रचनाएँ या तो अनुपलब्ध हैं या बाद की हैं। अतः कहना गलत न होगा कि आलोच्य कालखण्ड की रचना सामग्री में प्रामाणिकता का अभाव है। अधिकांश रासो साहित्य के सम्बन्ध में काव्यभाषा की दृष्टि से बाद में पता चला कि वे चौदहवीं शताब्दी के बाद लिखे गए हैं। फिर भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में अब अधिकतर विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि संवत् 1050 से संवत् 1375 विक्रम तक के कालखण्ड को 'आदिकाल' के नाम से पुकारा जा सकता है। साहित्य में चूँकि समय पाकर चली आ रही प्रवृत्तियों का विकास और ह्रास होता रहता है तथा नई-नई प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव भी होता रहता है इसलिए साहित्य के इतिहास को सर्वमान्य कालखण्डों तथा सुनिश्चित प्रवृत्तियों की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यही वजह है कि विभिन्न विद्वान् कभी भी आलोच्य प्रश्न पर एकमत नहीं हो सके हैं। अस्तु, आदिकाल के नाम तथा इसकी पूर्वापर सीमा के सम्बन्ध में विद्वानों ने अलग-अलग मत अभिव्यक्त किए हैं।

2.1.4.1. वीरगाथाकाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल (संवत् 1050 से संवत् 1375 तक) को वीरगाथाओं की प्रमुखता के कारण वीरगाथाकाल नाम दिया है। उन्होंने 'वीरगाथाकाल' के नामकरण का आधार निम्नलिखित रचनाओं को बनाया है –

01. खुमान रासो	:	दलपत विजय	:	(सं. 1180-1205)
02. बीसलदेव रासो	:	नरपति नाल्ह	:	(सं. 1292)
03. पृथ्वीराज रासो	:	चन्दवरदाई	:	(सं. 1225-1249)
04. जयचन्द प्रकाश	:	भट्ट केदार	:	(सं. 1225)
05. जय मयंक जस चन्द्रिका	:	मधुकर कवि	:	(सं. 1240)
06. परमाल रासो	:	जगनिक	:	(सं. 1230)
07. खुसरो की पहेलियाँ आदि	:	अमीर खुसरो	:	(सं. 1230)
08. विद्यापति पदावली	:	विद्यापति	:	(सं. 1460)
09. विजयपाल रासो	:	नल्लसिंह भट्ट	:	(सं. 1350)
10. हम्मीर रासो	:	शारंगधर	:	(सं. 1357)
11. कीर्तिलता	:	विद्यापति	:	(सं. 1460)
12. कीर्तिपताका	:	विद्यापति	:	(सं. 1460)

इसमें अन्तिम चार रचनाएँ जो स्पष्टतः अपभ्रंश की रचनाएँ ही हैं। उन्हें हिन्दी में कैसे शामिल किया जा सकता है, यह प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है। यदि अपभ्रंश को भी हिन्दी साहित्य में सम्मिलित करने का आग्रह हो तो हिन्दी साहित्य के आदिकाल का आरम्भ संवत् 700 विक्रम से भी पहले तक पहुँच जाता है। इतना ही नहीं, उपर्युक्त रचनाओं में सिद्धों, नाथों और जैन कवियों की रचनाओं को स्थान नहीं दिया गया है। यद्यपि सिद्धों और नाथों का काव्य अपभ्रंश से हिन्दी में संक्रमण का काव्य है, फिर भी हिन्दी काव्य की नींव का परिचय तो उसी से हो सकता है। साथ ही आलोचकों का यह भी मानना है कि 'बीसलदेव रासो' एक वीरगाथात्मक नहीं, बल्कि शृंगार काव्य है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल के पास उपर्युक्त बारह ग्रन्थों की अत्यन्त सीमित और अल्प सामग्री थी तथा उन्होंने स्वयं इस नाम की सीमित अर्थाभिव्यक्ति पर असन्तोष व्यक्त किया था। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि राहुल सांकृत्यायन, डॉ॰ पीताम्बर बड़थ्वाल आदि जैसे लोगों ने नाथों, सिद्धों तथा बौद्धों की अनेक रचनाओं की खोज की। इस तरह उस विशाल साहित्य के समक्ष आलोच्य युग की वीरगाथात्मक रचनाएँ बहुत कम और नामकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने में योग्य सिद्ध नहीं होती हैं।

2.1.4.2. सन्धि-चारणकाल

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में संवत् 1000 से संवत् 1375 विक्रम तक के काल को सन्धि-चारणकाल की संज्ञा प्रदान की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी वीरगाथात्मक काव्यों की सूची के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया था कि इस काल के अधिकांश कवि चारण थे। डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने इसी मान्यता के आधार पर आलोच्य काल को 'सन्धि-चारणकाल' का नाम देते हैं। हालांकि इस काल में चारण कवियों की संख्या कम ही है।

उल्लेखनीय है कि स्वयं डॉ॰ रामकुमार वर्मा भी अपने इतिहास में चारण कवियों का विवरण प्रस्तुत नहीं करते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि यह नाम अर्थात् 'सन्धि-चारणकाल' भी आलोच्य सन्दर्भ में अनुपयुक्त और सन्देहपरक है।

2.1.4.3. प्रारम्भिक काल

मिश्र बन्धु और मोतीलाल मनेरिया जैसे इतिहासकारों ने आलोच्य काल को 'प्रारम्भिक काल' कहा है। हालांकि प्रारम्भ और आदि एक ही अर्थ के लिए अलग-अलग शब्द हैं। यही कारण है कि प्रारम्भिक काल 'आदिकाल' से भिन्न कोई अर्थ एवं लक्षण प्रतिपादित नहीं करता। वस्तुतः जो प्रारम्भिक और आदि है, उसमें 'आदि' अधिक उपयुक्त नाम हो सकता है क्योंकि आदि में जो परम्परा के प्रवाह का बीज तत्त्व है वह मौजूद रह सकता है, लेकिन प्रारम्भिक शब्द में वैसा ही अर्थ विस्तार की सम्भावना परिलक्षित नहीं होती है। अतः इस नाम का औचित्य अपने आप खारिज हो जाता है।

2.1.4.4. आदिकाल

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आलोच्य युग को 'आदिकाल' की संज्ञा प्रदान करते हैं। वे किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर किसी काल के नामकरण को उचित एवं तर्कसम्मत नहीं स्वीकार नहीं करते। उन्होंने कहा है कि "वस्तुतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल शब्द एक प्रकार भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्परा विनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक रूढ़ीग्रस्त, सजग, सचेतन कवियों का काल है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं।"

2.1.4.5. बीजवपन काल

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को 'बीजवपन काल' कहा है। वैसे इस नाम से तो यह भ्रम पैदा होता है कि हिन्दी साहित्य की शुरुआत ही इसी काल से होती है, जबकि सत्य यह है कि आलोच्य काल व उसकी प्रवृत्तियाँ पूर्व से चली आ रही साहित्यिक परम्परा का विकास मात्र है। इस काल के कवियों की रचनाएँ प्रौढ़ एवं विकसित हैं। इस प्रकार ऐसा नाम साहित्यिक परम्परा और इतिहास को झुठलाने का प्रयत्न लगता है।

2.1.4.6. सिद्ध-सामन्त-काल

पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस काल को 'सिद्ध-सामन्त-काल' नाम से अभिहित किया है। वे इस काल की पूर्वापर सीमाएँ आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक मानते हैं। उनके अनुसार इस काल में सिद्धों की वाणियाँ तथा सामन्तों की स्तुतियाँ, यही दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं। सिद्धों की वाणियाँ निवृत्तिमूलक, रूक्ष तथा उपदेशमूलक हैं जिनमें जैन कवियों की आध्यात्मिकता और धार्मिकता को नहीं मिलाया जा सकता। फिर भी 'सिद्ध-सामन्त-युग' नाम से आलोच्ययुगीन साहित्य का व्यापक बोध नहीं होता।

2.1.4.7. वीर-काल

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को 'वीर-काल' की संज्ञा प्रदान करते हैं। लेकिन सीमित अर्थ बोध होने के कारण आलोच्य युग की सभी प्रवृत्तियों का बोध इस नाम से सम्भव नहीं हो पाता है। अतः आदिकाल का यह नाम भी तर्कसंगत और उपयुक्तनहीं माना जा सकता है।

समग्रतः अनेक नामों में से यदि कोई तर्कसंगत और सर्वस्वीकृत नाम हो सकता है तो वह 'आदिकाल' ही हो सकता है। इस नाम में अन्य नामों की अपेक्षा असंगतियाँ कम हैं तथा इसके समर्थन में दिए गए तर्क व आधार भी अधिक ठोस व प्रामाणिक हैं। ऐसी स्थिति में 'आदिकाल' नाम अपने औचित्य के साथ प्रस्तुत होता है तथा इसकी पूर्वापर सीमाएँ 1050 विक्रम से 1375 विक्रम सर्वथा उचित प्रतीत होती है।

2.1.5. आदिकाल की पृष्ठभूमि

वस्तुतः साहित्य का जो स्वरूप, विस्तार और आयाम उपलब्ध होता है, वह सब अपने काल की परिस्थितियों से निर्मित एवं अभिप्रेरित होता है। इस सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य का आदिकाल भी अपवाद नहीं है। आदिकाल का साहित्य भी तत्युगीन परिस्थितियों की सफल अभिव्यक्ति है जो उसके राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिवेश एवं परिदृश्य के स्थितिगत प्रस्तुति एवं विश्लेषण में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

2.1.5.1. राजनैतिक पृष्ठभूमि

राजनैतिक परिस्थितियों की दृष्टि से आदिकाल राजनैतिक अस्थिरता का काल है। हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त अखिल भारतीय चेतना का विलोप आरम्भ होता है। वस्तुतः राष्ट्र की अवधारणा उस समय नहीं थी, लेकिन इसके बावजूद हर्षवर्धन तक राष्ट्रीयता के आलोक में एक समग्रता का बोध बना हुआ था। किन्तु, हर्षवर्धन की मृत्यु के परिणामस्वरूप केन्द्र के कमजोर हो जाने की वजह से भीतरी विघटन के साथ-साथ सीमान्तों पर आक्रमण की प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है। इसलिए बाहरी आक्रमणों और आन्तरिक महत्वाकांक्षाओं के द्वन्द्व के कारण देश की राजनैतिक संरचना पूरी तरह से चरमराती है। एक समग्र राजनैतिक चेतना का अभाव आलोच्य कालखण्ड में स्पष्टतः दिखाई देता है। देश की आन्तरिकता के स्तर पर पूरा देश छोटे-छोटे युद्धों से अभिशप्त दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार समग्र राजनैतिक दृष्टि से आदिकाल घोर संकट का काल है। इसी कालखण्ड में भारत में इस्लाम का आगमन होता है और स्थापित होता है। इसके दूरगामी परिणाम और प्रभाव हमें समाज पर, कलाओं पर, साहित्य पर और मूल्यों पर सहज ही दिखाई देते हैं।

इस्लाम के आगमन के कारण सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर इतिहास के आलोच्य कालखण्ड में इस देश ने एक अभूतपूर्व तनाव का सामना किया, लेकिन धीरे-धीरे समाहिति की प्रक्रिया चलती है और इस्लाम अनेक स्तरों पर और अनेक क्षेत्रों में जिसे भारतीय हिन्दू संस्कृति कहते हैं, उस पर बहुत गहरा प्रभाव डालता है। कहना गलत न होगा कि इस्लाम और हिन्दू के एकीकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसकी परिणति आगे चलकर हिन्दी साहित्य जगत् के सूफी काव्य में हुई। एक तरह से हिन्दू जाति के मानसिक आयतन को बढ़ाने में भी इस्लाम की भूमिका ऐतिहासिक साबित हुई। सारतः जिन राजनैतिक स्थितियों के साथ यह युग शुरू होता है, उसमें आरम्भिक स्तर पर बहुत कोलाहल और सामाजिक राजनैतिक तनाव है, लेकिन धीरे-धीरे इस्लामी सत्ता की स्थापना के साथ-साथ आन्तरिक युद्ध की स्थितियाँ कम होने लगती हैं और सामाजिक तनाव भी धीरे-धीरे कम होता है। यही प्रक्रिया अन्ततः हिन्दी काव्य-परम्परा को भक्तिकाल के मुहाने तक पहुँचाती है।

2.1.5.2. सामाजिक पृष्ठभूमि

आदिकालीन समाज का आधार वर्ण-व्यवस्था है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि आदिकाल का समाज सामन्तवादी समाज है। सामन्तवाद के अभिलक्षणों कई सन्दर्भों में देखा जा सकता है। सामन्तवाद का आर्थिक आधार कृषि है तथा सामन्तवाद के जीवनमूल्यों को संचालित करने वाली मूल इकाई धर्म है। इसी सन्दर्भ में वर्ण-व्यवस्था आदिकालीन समाज का नकारात्मक पक्ष माना जा सकता है। इस युग में स्त्री सम्पत्ति का हिस्सा ही नहीं है, अपितु पुरुषों के शौर्य प्रदर्शन का एक बहाना भी है। स्त्री का महत्त्व राजघरानों में इस पर निर्भर करता था कि कितने युद्धों और हत्याओं के बाद इसे यहाँ तक पहुँचाया गया है। सामन्तवाद अपनी इन तमाम विशेषताओं के साथ-साथ एक और विशेषता रखता है, वह है – 'मूल्यों की अतार्किकता' इसलिए अच्छा और बुरा, पाप और पुण्य, करणीय और अकरणीय यह बहुत स्थिर है। नियति और भाग्यवाद का आलोच्य सामाजिक पृष्ठभूमि में बहुत जोर है।

2.1.5.3. धार्मिक पृष्ठभूमि

आदिकाल की धार्मिक पृष्ठभूमि में धर्म अपने केन्द्र से विचलित है। धर्म के जितने उत्स थे, वे सभी लगभग विकृत हो गए थे। आदिकाल में सनातन धर्म की मुख्यतः तीन धाराएँ हैं – वैष्णव, शाक्त और शैव। हालांकि इनका तप लगभग समाप्त हो गया है। कर्मकाण्ड की प्रधानता से वैष्णव धर्म पूरी तरह आच्छादित था जिसे बाद में मानवीय आधार देने का काम भक्ति-आन्दोलन में पूरा हुआ। कर्मकाण्ड के स्तर पर वैष्णव और बौद्ध धर्मों में कोई अन्तर नहीं रह गया था। बौद्ध धर्म का हीनयान और महायान के रूप में विभाजन हुआ। आगे चलकर महायान सम्प्रदाय भी कई शाखाओं में विभाजित हो गया। इसकी वज्रयान शाखा में तन्त्रवाद एवं जादू-टोटकावाद बहुत फैला। इस प्रकार बौद्ध धर्म की मूल चेतना आलोच्य युग में विलुप्त हो गई थी। वैसे कर्मकाण्ड के स्तर पर तो जैन धर्म सुरक्षित था, लेकिन प्राकारान्तर से पवित्रता की आड़ में आत्मपीड़न के व्यवसाय के रूप में विकसित हो रहा था। कुल मिलाकर आदिकाल की धार्मिक पृष्ठभूमि का भी आदिकालीन साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

2.1.5.4. साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

जहाँ तक साहित्य, कला एवं संस्कृति का सवाल है तो इन सबका भी व्यक्ति के चिन्तन और साहित्य पर प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः संक्रमण के दौर का कला और रचनात्मकता के स्तर पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इस सन्दर्भ में आदिकाल काव्यशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में उपलब्धियों का कालखण्ड है। संस्कृत के आचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, राजशेखर आदि महान् काव्यशास्त्री इसी समय विद्यमान थे। कोणार्क, खजुराहो और माउंटआबू के जैन मन्दिर इसी दौर के ढाँचे में निर्मित हुए। संगीत के क्षेत्र में अनेक राग-रागनियों में इस्लाम के प्रभाव को संगीत की धाराओं में ढालना एवं विभिन्न वाद्य यंत्रों का निर्माण इसी कालखण्ड में हुआ। अपभ्रंश और संस्कृत के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस कालखण्ड में लिखे गए। उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश के वाल्मीकी कहे जाने

वाले स्वयंभू की रचना का भी यही समय है । इस प्रकार आदिकाल का यह परिवेश अपनी गति में, अपनी सृजनात्मकता में अभूतपूर्व कहा जा सकता है । इसी परिवेश के भीतर आदिकाल की समूची सामग्री का निर्माण हुआ है।

2.1.6. पाठ-सार

हिन्दी साहित्य का इतिहास सामान्य रूप से आदिकाल से प्रारम्भ होता है। यह वह काल है जिसकी सीमा संवत् 1050 विक्रम से आरम्भ होकर संवत् 1375 विक्रम तक मानी जाती है। इस काल के नामकरण को लेकर तथा इस काल में लिखी गई कृतियों को लेकर विद्वानों में पर्याप्त विवाद है। अनेक विवादों एवं उलझनों के बावजूद यह सही है कि हिन्दी साहित्य का आदिकाल विषय-वैविध्य, शैली-विविधता और प्रस्तुतीकरण के अनेक आधारों को लेकर चला है। इस युग में शृंगार एवं वीर रसों के अभिव्यंजन के साथ धार्मिक और आध्यात्मिक भावनाओं को भी पूरे वैभव के साथ संप्रेषित किया गया है।

2.1.7. उपयोगी ग्रन्थ सूची

1. पाण्डेय, मैनेजर (1981). साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन : नई दिल्ली.
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1961). हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् : पटना.
3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (2008).हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन : नई दिल्ली.
4. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद (2000). हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन : नई दिल्ली.
5. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर (1981). हिन्दी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन : इलाहाबाद.
6. वर्मा, धीरेन्द्र (1959). हिन्दी साहित्य. भारतीय हिन्दी परिषद् : प्रयाग.

2.1.8. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के आदिकाल की समय-सीमांकन कीजिए।
2. आदिकाल के नाम निर्धारण की समस्या पर प्रकाश डालिए।
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का काल विभाजन किस आधार पर किया है ?
4. आदिकाल की सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए सत्यापित कीजिए कि तत्युगीन परिस्थितियों से उस समय का साहित्य कैसे प्रभावित हुआ ?
2. हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल के नामकरण सम्बन्धी विवादों पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राहुल सांकृत्यायन ने आदिकाल को क्या नाम दिया ?

(क) सिद्ध काल
(ख) सामन्त काल
(ग) नाथ सामन्त काल
(घ) सिद्ध सामन्त काल

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल को कहा है –

(क) वीरगाथाकाल
(ख) शान्त काल
(ग) वीरकथा काल
(घ) वीर प्रथा काल

3. आदिकाल नाम किसने दिया है ?

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ख) आचार्य विश्वानाथ प्रसाद
(ग) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
(घ) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

4. आदिकाल का प्रधान रस कौन सा है ?

(क) वीर रस
(ख) करुण रस
(ग) शृंगार रस
(घ) वीभत्स रस

5. आदिकाल को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने क्या नाम दिया है ?

(क) बीजारोपण काल
(ख) बीजवपन काल
(ग) बीजावरण काल
(घ) बीजमुक्तक काल

खण्ड – 2 : आदिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 2 : सिद्ध-नाथ एवं जैनादि कवियों की मानववादी विचारधारा एवं साहित्यिक अवदान

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. सिद्ध साहित्य
  2.2.2.1. सिद्ध : एक परिचय
  2.2.2.2. सिद्ध साहित्य : एक अवलोकन
    2.2.2.2.1. सरहपा
    2.2.2.2.2. शबरपा
    2.2.2.2.3. कण्हपा
  2.2.2.3. सिद्ध साहित्य : विशेषताएँ
2.2.3. नाथ साहित्य
  2.2.3.1. नाथ शब्द का अर्थ एवं विशेषता
  2.2.3.2. परम्परा
  2.2.3.3. प्रमुख नाथ कवि
    2.2.3.3.1. मत्स्येन्द्रनाथ
    2.2.3.3.2. गोरखनाथ
    2.2.3.3.3. चर्पटनाथ
  2.2.3.4. नाथ साहित्य : दृष्टिकोण
2.2.4. जैन साहित्य
  2.2.4.1. जैन साहित्य के प्रकार
    2.2.4.1.1. प्रबन्ध साहित्य
      2.2.4.1.1.1. पौराणिक काव्य
      2.2.4.1.1.2. चरित काव्य
      2.2.4.1.1.3. कथा काव्य
    2.2.4.1.2. मुक्तक काव्य
      2.2.4.1.2.1. रहस्यवादी धारा
      2.2.4.1.2.2. उपदेशात्मक धारा
  2.2.4.2. मुख्य जैन कवि : एक परिचय
    2.2.4.2.1. स्वयंभू
    2.2.4.2.2. पुष्पदंत
  2.2.4.3. जैन साहित्य : विशेषताएँ
2.2.5. पाठ-सार
2.2.6. बोध प्रश्न
2.2.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सिद्ध, नाथ एवं जैन साहित्य क्या है, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य किस प्रकार एक दूसरे से भिन्न हैं, इसकी चर्चा कर सकेंगे।
iii. सिद्ध, नाथ एवं जैन साहित्य की मानवतावादी विचारधारा से भी परिचित हो सकेंगे।
iv. आदिकाल में सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य का क्या योगदान इस पर बात कर सकेंगे।
v. इनके प्रादुर्भाव की परिस्थितियों और तत्कालीन समय में इनकी प्रासंगिकता के बारे में जान सकेंगे।

2.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का इतिहास चार कालों में बाँटा गया है, जिसमें पहला काल आदिकाल कहलाता है। आदिकाल की विशेषताओं पर दृष्टि डालें तो अनेक विशेषताओं के साथ ही वैविध्यता भी दृष्टिगत होती है। अनेक राजनैतिक उठा-पटकों, युद्धों और सामाजिक विशृंखलन के साथ-साथ सामन्तवाद, रूढ़ीवाद, धार्मिक मतभेद भी अपनी जड़ें जमा रहे थे और चूँकि समाज में जो कुछ होता है साहित्य भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता अतः तात्कालिक साहित्य भी इससे अछूता न रहा। आदिकालीन साहित्य में भाषा और विशेषता की दृष्टि से वैविध्य दिखाई देता है। आदिकाल में जहाँ वीरत्वप्रधान साहित्य दिखता है वहीं शृंगारिकता और धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य में यही धार्मिक प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है। यद्यपि यह धार्मिक सृजन था लेकिन कहीं-न-कहीं यह जनमानस से जुड़ा हुआ था। ये रचनाकार वैचारिक स्तर पर सामाजिक विषमता के विरुद्ध संघर्षशील थे। इस इकाई में हम सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य की मानवतावादी विचारधारा और साहित्यिक अवदानों पर चर्चा करेंगे।

2.2.2. सिद्ध साहित्य

2.2.2.1. सिद्ध : एक परिचय

सिद्ध का तात्पर्य उस व्यक्ति विशेष से है जो साधना में अनवरत लिप्त रहे। साधनाशील रहते हुए प्रकृति प्रदत्त शक्तियों से इतर शक्ति प्राप्त कर ले और अलौकिक सिद्धियों से सम्पन्न हो। सिद्ध शब्द का प्रयोग बुद्धिमान, पवित्र, परोपकारी तथा सदाचारी व्यक्ति के लिए किया जा सकता है जो अपने इन्हीं गुणों के माध्यम से साधना में लीन हो, सिद्धि प्राप्त कर ले। भारतीय अनुश्रुतियों में सिद्ध परम्परा विशिष्ट स्थान रखती है। सन्त लोग आदर्श महापुरुष हुआ करते थे जो सभी जीवों के प्रति समभाव रखकर समदर्शी और निस्वार्थ भाव से समाज में रहकर भी एकान्तनिष्ठ संसार मात्र की शुभेच्छा रखें। हिन्दी साहित्य में सिद्ध शब्द बौद्ध सिद्धाचार्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा। बौद्ध धर्म के दो पंथ थे– हीनयान और महायान। हीनयान बौद्धों की प्रारम्भिक शाखा थी जिसने बौद्ध सिद्धान्त को अपनाया, जबकि महायान ने (महा+यान=श्रेष्ठ मार्ग) कुछ मौलिक परिवर्तन कर अपना पंथ अपनाया।

हीनयानी निर्वाण दुःखाभाव रूप है, परन्तु महायानी निर्वाण आनन्द रूप है। महायान मत का प्रादुर्भाव भक्ति के कारण हुआ और यह भावना जनता के मध्य लोकप्रिय होती चली गई। इसके साधक मन्त्र-जप और कठिन कर्मकाण्डों की ओर उन्मुख हुए। बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेशों के प्रति आसक्ति को संक्षिप्त रूप देने के लिए मंत्रोंकी सृष्टि हुई और इस प्रकार महायान का उपसम्प्रदाय 'मन्त्रयान' का अभ्युदय हुआ। आगे चलकर मन्त्रयान भी दो भागों में विभाजित हुआ – वज्रयान और सहजयान। कालान्तर में व्रजयानी ही सिद्ध कहलाए जाने लगे। इस सम्प्रदाय में चौरासी सिद्धों की सूची है और यह सम्प्रदाय देश के पूर्वी भागों में असम, बिहार, बंगाल और नेपाल आदि भागों में फैला है। यद्यपि इनके साधना-केन्द्र पूरे देश में बिखरे हुए थे, उन्हें सिद्ध पीठ कहा जाता था। इन्हें पाल राजवंश का विशेष आश्रय और संरक्षण प्राप्त था।

सिद्धों का समय 800 से 1100 ई. तक माना गया है। सरहपा, लुईपा, शबरपा, कण्हपा, डोम्भिपा, शान्तिपा, भद्रपा आदि प्रमुख सिद्ध माने गए हैं। सिद्ध अपने नाम के अन्त में 'पा' शब्द जोड़ते थे। तत्कालीन समाज में कर्मकाण्ड और तन्त्र-मन्त्र का बोलबाला था, जिससे व्रजयानी भी अछूते नहीं रहे उन्होंने तन्त्र-साधना को साधने के लिए स्त्रियों का उपयोग किया, क्योंकि तत्कालीन समाज में निम्न जातियों एवं स्त्रियों के लिए वेद अध्ययन या अन्य किसी प्रकार की उच्च धार्मिक शिक्षा वर्जित थी। जबकि तांत्रिक साधना में ऐसा प्रतिबन्ध नहीं था। इसलिए सहजता से स्त्रियों का इसमें प्रवेश हो जाता था।

सातवीं शताब्दी के बाद सारे देश में तांत्रिक प्रवृत्तियों का आधिपत्य हो गया था। शनैः शनैः लगभग सभी धर्म साधनाओं ने किसी-न-किसी रूप में इस तांत्रिक प्रणाली को स्वीकार कर लिया। इसका प्रसार जैन और हिन्दू धर्म में भी हो गया। कालान्तर में बौद्ध धर्म का चरम उन्नति के शिखर से पतन होने लगा।

2.2.2.2. सिद्ध साहित्य : एक अवलोकन

सिद्ध साहित्य से तात्पर्य व्रजयानी परम्परा के सिद्धाचार्यों के साहित्य से है। यह साहित्य अधिकतर अपभ्रंश भाषा में लिखा गया, क्योंकि सिद्ध अपने मत का संस्कार जनता पर भी डालना चाहते थे, इसलिए संस्कृत के अलावा इनके दोहे अपभ्रंश मिश्रित काव्यभाषा में होते थे, ताकि आम लोगों तक इनकी बात समझी जा सके। सिद्धों की साधना का लक्ष्य था 'महासुखवाद'। आनन्द को वे ईश्वरतुल्य मानते थे। सिद्धों ने तन्त्र-शक्ति से प्रभावित होकर अपनी ज्ञान, साधना, भक्ति और हठयोग को पूर्ण आनन्द के रंग में रंग दिया। वस्तुतः वे इसी भाव की प्रतिष्ठा भी करना चाहते थे। सिद्धों के साहित्य में आत्मनिग्रह में अटूट आस्था, रहस्यवाद, बाह्याडम्बर का विरोध, प्रणय, मानवतावादी विचारधारा के दर्शन होते हैं।

2.2.2.2.1. सरहपा

सिद्धों के प्रमुख कवि सरहपा हुए, जिनका समय 769 ई. माना गया है। सरहपा 'सरहपाद', 'सरोजवज्र', 'राहुलभद्र' आदि कई नामों से जाने जाते रहे हैं। इन्होंने लगभग 32 ग्रन्थों की रचना की। 'दोहाकोश' इनकी प्रमुख रचना है। सरहपा की कविता में अपभ्रंश के साथ-साथ हिन्दी भी दिखाई देती है। इन्होंने मानवतावादी पक्ष

को ध्यान में रखकर पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया। इनका कहना है कि "ब्राह्मणों को रहस्य का ज्ञान नहीं। वे व्यर्थ ही वेद-पाठ किया करते हैं, मिट्टी जल व कुश लेकर मन्त्र पढ़ा करते हैं और घर के भीतर बैठ होम के कडुवे धुँए से अपनी आँखों को कष्ट दिया करते हैं।" (सरहपाद का दोहाकोष, पृ. 94-97) इस तरह की रचनाओं में सरहपा जहाँ हिन्दू, शैव, जैन आदि की साधना पद्धतियों का विरोध करते हैं वहीं उनके विद्रोह का मुखर स्वर भी दिखाई देता है।

सरहपा सहज योग-मार्ग से जीव को महासुख की ओर ले जाते हैं, वे मानते हैं कि चित्त को जान-समझ लेने के पश्चात् कुछ अन्य जानने योग्य नहीं, क्योंकि सभी कुछ इसके अन्तर्गत है –

चितेकेसअलबीअं भवणिव्बाणोवि
जस्सविफुरंति
तंचिन्तामणिरूअं पणमह इच्छा फल देंति

(दोहाकोष, पृ. 24)

अर्थात् एक चित्त ही सबका बीज रूप है और भव अथवा निर्वाण भी उसी से उत्पन्न होते हैं। उसी चिन्तामणि स्वरूप चित्त को प्रणाम करो अर्थात् उसी का आश्रय लो, वही तुम्हें अभीष्ट फल की प्राप्ति करा देगा।

सरहपा अपने अभीष्ट तक सरल मार्ग से जाने का मार्ग को सहज बताते हैं। वे कहते हैं –

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल
चिअराउ सहाबे मुकल
उजुरे ऊजु छाड़ि भालेहुरे बंक
निअडि बोहि भा जाहुरे लांक

अर्थात् जबकि नाद, बिन्दु अथवा चन्द्रमा सूर्य के मण्डलों का अस्तित्व नहीं और चित्तराज स्वभावतः मुक्त है, तब फिर सरल मार्ग का परित्याग कर कठिन मार्ग ग्रहण करना कहाँ तक उचित है। बोधि सदैव अपने निकट स्थित है उसकी खोज के लिए लंका (दूर) जाने की आवश्यकता नहीं।

सरहपा की भाषा सरल, गेय और स्वभाविक काव्यात्मक प्रवाह को लेकर चलती है। उदाहरणार्थ –

जहि मन पवन न संचरइ
रवि ससि नाहि पवेस
तहि बट चित्त विसाम करू
सरहे कहिअ उवेस।

2.2.2.2.2. शबरपा

इनका जन्म 780 ई. में माना जाता है। इनके गुरु सरहपा थे। 'चर्यापद' इनकी रचना है। शबरपा सहज-जीवन जीने पर बल देते थे और उसी को महासुख प्राप्ति का मार्ग बताते थे।

2.2.2.2.3. कण्हपा

कण्हपा सिद्ध साहित्य के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। ये सिद्धों के दार्शनिक पक्ष के कवि थे। इनके काव्य में रहस्यात्मकता के दर्शन होते हैं। इन्होंने रूढ़ियों का विरोध किया। वे सच्ची सिद्ध उसी को मानते हैं जो अपना मन समरसता में अनुरक्त करके निश्छल कर लेता है और इस कारण वह जन्म-मरण के भय से मुक्त हो जीवन को समरस दृष्टि से देखता है। अनेक सिद्ध इनके शिष्य थे। इन्होंने लगभग चौहत्तर ग्रन्थों की रचना की।

2.2.2.3. सिद्ध साहित्य : विशेषताएँ

लौकिकता (प्रणय) सिद्धों के साहित्य में अधिकतर आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति में दिखाई देती है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इनके गीति साहित्य (चर्यापद) भावप्रधान है और मुक्तक साहित्य नीतिप्रधान हैं। सिद्ध कवि अपने साहित्य के माध्यम से जनता में तत्त्व चिन्तन और साधना को प्रचारित कर रहे थे। साम्प्रदायिक खण्डन, सैद्धान्तिक विवेचन साधक को ज्ञान और चेतावनी देना भी इनके साहित्य का लक्ष्य था। सिद्ध धार्मिक प्रचार भी कर रहे थे और राजा और प्रजा दोनों ही साहित्य से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हो रहे थे।

एक ओर सिद्ध घूम-घूम कर अपने साहित्य का प्रचार और प्रसार धार्मिक उद्देश्य के लिए कर रहे थे। वहीं दूसरी ओर प्रज्ञोपाय साधना भी विकसित हो रही थी। इसके कारण इसका स्वरूप जनपक्ष से हटकर व्यक्ति पक्ष में बदल गया। उसका सम्बन्ध लोक साधारण में धर्मप्रचार न रहकर वैयक्तिक साधना मुद्रा मैथुन के गुह्यचर्या से हो गया। सिद्धों ने परम्परा से आती हुई निर्वाण भावना से हटकर महासुखानुभूति को महत्त्व दिया और इस सुख को वर्णनातीत ठहराया। सरहपा कहते हैं कि इस महासुख रूपी परमतत्त्व की अभिव्यक्ति कैसे की जा सकती है? इसमें साधक की स्थिति तो उस स्त्री के समान है जो अपने सहवास के सुख का अनुभव अपनी सखियों से बाँट नहीं सकती। क्योंकि यह सुख तो उपभोग करने वाला ही महसूस कर सकता है। (दोहाकोष, पृ. 47) यह सिद्धों की आत्मिक गहनता का उदाहरण है। यह आत्मिक गहनता इनके साहित्य की विशेषता है। इसका एक अन्य उदाहरण है –

अलियो! धम्म महासुह पइसई।
लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जई।

इसमें भी सरहपा सिद्ध साधना के लक्ष्य 'महासुख' में प्रवेश पाने को मानते हुए कहते हैं कि महासुख की प्राप्ति के लिए बाह्याचारों और कर्मकाण्डों की आवश्यकता नहीं होती है। जिस प्रकार नमक पानी में घुलकर एक हो जाता है उसकी पृथक् सत्ता समाप्त हो जाती है उसी आत्मिक गहनता के साथ ससीम (मैं) असीम में मिलकर

महासुख प्राप्त कर सकते हैं। बाह्याचारों का पालन करने से इस सुख की आकांक्षा नहीं की जा सकती। सरहपा अपनी काव्य-रचना में उस गुरु पर भी व्यंग्य करते हैं जो इस महासुख को स्वयं नहीं जानते और गुरु बने बैठे हैं। उनकी दृष्टि में यह कृत्य ऐसा ही है जैसे अन्धा अंधे को ठेले और दोनों ही अन्धकूप में गिर पड़ें। सिद्ध साहित्य में परमत्व को अगम अगोचर कहकर उसे अनुभूति का विषय माना है न कि अभिव्यक्ति का। सिद्ध साहित्य के कवि दारिकपा भी मानते हैं –

कन्तो मन्तो किन्तो तन्तो किन्तो झाण बखाणे
अप्प पइठा महासुख लीलें दुलक्ख परम निवाणे।

दरिकपा मानते हैं कि तन्त्र-मन्त्र, ध्यान आदि का बखान करने से महासुख प्राप्त नहीं हो सकता वहाँ तो साधक को स्वयं ही प्रवेश करके उस दुर्लभ परम निर्वाण को प्राप्त करना पड़ेगा। 'महासुखवाद' को सिद्ध साहित्य के कवियों ने अपना मूल विषय माना।

सिद्ध कवि लौकिक विषयों और भोग को भी अनिवार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में जो इन सुखों का त्याग करता है वह अनुभूति के गहनतम स्तर तक नहीं पहुँच सकता। कवि तिलोपा कहते हैं –

जिम विस भक्खइ, विसहि पलुत्ता
तिम भवंभुजइ भवहि ण जुत्ता
खण आणंद भेउ जो जाणइ
से इह जम्माहि जोई भणिज्जइ।

सिद्ध साहित्य सांसारिक भोगों को भोगने के छूट देता है। वस्तुतः सिद्धों ने प्रणय, सहवास, कामनाओं और भोगों को अपनी साधना के लिए अनिवार्य माना, इसीलिए वे कहते हैं कि संसार को त्यागने के स्थान पर स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि विष का उपचार विष ही होता है उसी प्रकार भोगों को भोगकर ही, उसके असीम आनन्द को जानकर ही उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। अन्य साधकों की भाँति वे इसे त्याज्य नहीं मानते। सिद्धों ने बाह्याचार का खण्डन किया, उनकी चित्तशुद्धि पर गहन आस्था थी। वे कहते हैं –

जहणग्गाविअ होई मुनि, ता सुवण सियालह

यदि नंगे रहने से मुक्ति मिलती हो कुत्ते, सियार जैसे जानवर तो मुक्ति के अधिकारी ही बन जाते। वे मिट्टी, पानी और कुश लेकर मन्त्र पढ़ने वाले, घर के भीतर बैठे होम के धुँए से अपनी आँखों को कष्ट देने वाले, भस्म लपेटने वाले, सिर पर जटा बाँधने वाले एवं दीपक जलाकर घंटा बजाने वालों की हँसी उड़ाते हैं। (सरहपा – दोहाकोष, पृ. 14.17) कण्हपा कहते हैं –

आगम वेअ पुराणहिं पंडिअ मान वहन्ति
पक्क सिरीफले अलिअ जिम बाहेरी अभ्यंति

वे पण्डितों के आगम, वेद और पुराण पढ़कर अभिमानी होने की बात करते हैं और कहते हैं कि वे तत्त्व ज्ञान को नहीं समझते। उनका प्रयास बिलकुल वैसे ही व्यर्थ है जैसे भौरों का कड़े छिलके वाले पके बेलों पर मण्डराना।

सिद्धों ने तत्कालीन सामाजिक भेदभाव का भी खुल कर खण्डन किया। धर्म के नाम पर उस समय समाज में फैले पाखण्डों, कुरीतियों और आडम्बरों का खण्डन उन्होंने योग के आधार पर ही किया है। नाथ सम्प्रदाय में भी माना गया है – 'जोई जोई पिण्डे सोई ब्रह्माण्डे' – जो इस देह रूपी पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में भी है। इन्हीं सन्तकवियों की साधना परम्परा का विकास आगे चलकर कबीरदास आदि सन्तकवियों में दिखता है।

सिद्ध साहित्य में नीतिपरकता एक विशेषता के रूप में प्रमुखता से आती है। लेकिन इनके दोहों में यह नीतिपरकता संस्कृत के दोहों से भिन्न है जो व्यक्ति को सामाजिक लोकाचार की शिक्षा देते हुए कहीं अनुशासनात्मक हो उठते हैं। सिद्धों का नीतिपरक साहित्य इससे सर्वथा अलग सामाजिक अनुशासन की उपेक्षा करता हुआ व्यक्ति केन्द्रित है। वे साधना पथ अपनाने का उपदेश देते हैं। नीति साहित्य में सिद्धों ने प्रज्ञा, उपाय, चित्त, शून्य और नैरात्म-दर्शन का उपदेश किया है। उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से सिद्धान्तों और साधनाओं को समझाया।

सिद्ध साहित्य में गुरु की महिमा को भी अद्भुत महत्त्व दिया गया है। गुरु के प्रति अटूट भक्ति का उदाहरण सिद्ध साहित्य में प्रचुरता से प्राप्त होता है। तिलोपा कहते हैं कि समस्त लोक तथा पण्डितों के लिए परम तत्त्व अगम अगोचर है लेकिन गुरु के प्रसन्न होने पर कौन सी ऐसी वस्तु है जो अगम रह जाए। 'सरहपा' भी गुरु के वचनों में ही 'परमसत्य' को प्रदर्शित करने की शक्ति है, ऐसा मानते हैं। लुईपा समस्त ज्ञान को गुरु से ही प्राप्त मानते हैं। सिद्धों ने गुरु को 'वरगुरुपाद' या 'श्रीगुरुनाथ' जैसे आदरसूचक शब्दों से वर्णित किया है।

इस प्रकार सिद्ध साहित्य में आडम्बरों का खण्डन, धर्मकाण्डों का विरोध, सहज जीवन, लौकिकता, प्रवृत्ति मार्ग का प्रतिपादन, महासुखवाद, गुरु-भक्ति और नीतिपरकता का वर्णन मिलता है।

2.2.3. नाथ साहित्य

आदिकालीन साहित्य में नाथ सम्प्रदाय की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। नाथ सम्प्रदाय का उद्भव किस प्रकार हुआ यह प्रामाणिक नहीं है, लेकिन नाथों का मानना है कि नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव ही हैं – आदिनाथः सर्वेषां नाथानां प्रथम ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत इत्तिनाथ-संप्रदायिनी वदन्ति। ('हठयोग – 'प्रदीपिका कीटोना।') (1-5)

नाथपंथ का उदय किस प्रकार हुआ, इस विषय पर विद्वानों का मतभेद है, किन्तु विभिन्न ग्रन्थों से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि यह बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्धमत' कहा जाता रहा है। नाथों और सिद्धों का गहरा सम्बन्ध भी रहा है। सिद्धों की जो सूची प्राप्त होती है उनमें से अनेक का सम्बन्ध नाथ परम्परा से रहा है।

इसलिए कुछ विद्वानों का मत था कि गोरखनाथ और उनके अनुयायी पहले वज्रयानी थे और बाद में उन्होंने शैव पंथ अपना लिया। नाथयोगी सम्प्रदाय के आदिनाथ 'शिव' ही माने गए है इसके विषय में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं – "क्षीर-समुद्र के तीर पर देवी पार्वतीजी के कानों में जिस ज्ञान का उपदेश श्री शंकरजी ने किया, वह उस समय क्षीर-समुद्र में रहने वाले एक मत्स्य के पेट में गुप्त रूप से वास करने वाले मत्स्येंद्रनाथ को प्राप्त हुआ।" (श्री ज्ञानेश्वरी, अध्याय-8) नाथ परम्परा के अनुसार आदिनाथ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य मत्स्येंद्रनाथ ही हैं। ये गोरखनाथ के गुरु हैं। लेकिन इन सबके बावजूद भी नाथों की परम्परा का कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, लेकिन इतना अवश्य है कि नाथों पर बौद्धों और शैव सम्प्रदाय का प्रभाव था।

सिद्धों और नाथों के बीच कई समानताएँ एवं विषमताएँ देखने को मिलती हैं। दोनों ही पंथों में तांत्रिक साधनाओं को व्यापक स्वीकृति मिली थी, लेकिन नाथ सम्प्रदाय में योग साधना को ही अपना मुख्य आधार बनाया। सिद्धों ने लोकाचार से इतर सांसारिक भौतिकवाद, जैसे – माँस, मदिरा, स्त्री-संसर्ग को अपनी साधना में स्थान ही नहीं दिया, बल्कि इनको अपनी साधना का प्रमुख अनिवार्य अंग माना, जबकि नाथों ने लोक-जीवन में आचरण की शुचिता जैसे विचारों को अपने साधना मार्ग का लक्ष्य माना। नाथ पंथ में शैवदर्शन और पतंजलि के हठयोग दोनों को ही अपना वैचारिक आधार माना है। सिद्धों की भाँति ही नाथों ने इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना, षटचक्र शून्य भेदन, शून्यचक्र में कुण्डलिनी का प्रवेश आदि को योग के लिए आवश्यक माना। लेकिन नाथों ने बाह्याडम्बरों का विरोध किया और तांत्रिक उच्छृंखलताओं का विरोध किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्याभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधाविस्तृत काया योग के साधनों को व्यवस्थित किया है; आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की, उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सांवृत्रिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत और सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनमार्ग को इस प्रकार संस्कृति किया कि उसका रूढ़ि विरोधी रूप ज्यों-का-त्यों बना रहा परन्तु उसकी अशिक्षाजन्य प्रमाद पूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गईं। उन्होंने लोकभाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया।" (नाथ सम्प्रदाय, पृ. 97) लोकभाषाओं को उपदेशों का माध्यम सिद्धों ने भी बनाया था। कुछ सामाजिक मर्यादाओं के मुद्दों को छोड़कर सिद्धों से नाथों की कभी समानता थी।

नाथ सम्प्रदाय सहजयानियों की तरह केवल पूर्वी भारत में ही सीमित न रहकर देश भर में व्याप्त रही। नाथ सम्प्रदाय की शाखाएँ-उपशाखाएँ दूर-दूर तक फैली। जनता पर इन नाथ योगियों का बहुत गहरा प्रभाव था। देश के विभिन्न भागों में आज भी जो योगी जातियाँ पाई जाती हैं, उनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। पश्चिमी भारत से नाथों का विशेष सम्बन्ध रहा है। नाथ सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उसका संवाद स्थानीय संस्कृति के साथ था। सूफी धर्म और मुस्लिम सत्ता का पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश हो चुका था। जबकि पूर्वी भारत में बौद्ध भिन्न शाखाओं में बँटकर (सहजयान, वज्रयान आदि) तन्त्र-मन्त्र, जादू टोने, अन्धविश्वास आदि में फँस चुका था। चारों और धार्मिक कर्मकाण्डों का बोलबाला था। सम्प्रदाय आपस में लड़ने लगे थे। ऐसे समय में नाथ सम्प्रदाय ने भोग साधना के लिए जगह बनाई जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में प्रचलित

हुई। मुसलमान योगी राजा भरथरी के गीत गाते। (कहा जाता है कि गोरखनाथ ने राजा भरथरी का कान फाड़कर उन्हें इस सम्प्रदाय में दीक्षित किया था।) नाथपंथ ने हर धर्म और हर संस्कृति से संवाद स्थापित किया।

2.2.3.1. नाथ शब्द का अर्थ एवं विशेषता

नाथ शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में मिलता है। 'नाथ' शब्द का प्रयोग 'रक्षक' या 'शरणागत' के अर्थों में 'अथर्ववेद' और तैत्रिरीय ब्राह्मण में मिलता है। 'महाभारत' में 'स्वामी' या 'पति' के अर्थ में इसका प्रयोग पाया जाता है। 'बोधिचर्यावतार' में बुद्ध के लिए इस शब्द का व्यवहार हुआ है। (हिन्दी साहित्य कोश – भाग 1, पृ. 330) परन्तु बाद में जब योगपरक पाशुपत शैवमत का विकास 'नाथ सम्प्रदाय' के रूप में हुआ तो 'नाथ' शब्द का प्रयोग शिव के लिए किया जाने लगा और शिव ही आदिनाथ हुए। 'ना' शब्द ब्रह्म है और ब्रह्म मोक्षदाता है और 'थ' शब्द 'अज्ञान' की शक्ति का क्षरणकर्ता है। दोनों शब्दों के एकाकार होने पर 'नाथ' शब्द बनता है जिसका तात्पर्य हुआ मोक्ष प्रदान करने वाला, ब्रह्मस्वरूप, अज्ञान का हरण करने वाला। डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने नाथ को एक तो रचयिता और दूसरा परमतत्त्व के रूप में माना है, जबकि परशुराम चतुर्वेदी ने इसे देवत्व का स्थान दिया है।

नाथ सम्प्रदाय के लिए सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग सम्प्रदाय, अवधूतमत, अवधूत सम्प्रदाय आदि नाम संस्कृत ग्रन्थों में मिलते हैं। लेकिन सबसे स्वीकृत नाम 'नाथ' ही है जो ब्रह्म है, जो सद्गुरुहै, जो सांसारिकता से मुक्त कर मोक्ष के लिए द्वार खोलता है।

नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित योगी कान फाड़कर कुण्डल धारण करते थे, जिसके कारण इन साधकों को 'कनफटा' कहा जाने लगा। 'गोरखनाथ एंड कनफटा योगीज़' जी. डब्लू ब्रिक्स की पुस्तक में भी इसका विवरण मिलता है। दीक्षित होते समय ये साधक अपने कानों को फड़वाकर उसमें मिट्टी के कुण्डल धारण करते थे। किन्तु बाद में वे मिट्टी की जगह धातु या हिरन के सींग के कुण्डल धारण करने लग गए। नाथ योगियों की इस परम्परा के पीछे यह भी कथा है कि स्वयं मत्स्येंद्रनाथ ने शिव की तपस्या कर कुण्डल प्राप्त किए थे और उनके मत के समर्थन करने वालों ने इसे परम्परा की तरह ग्रहण कर लिया। विशेष दिन गोरखपंथी योगी इस क्रिया को करते रहे थे। इसके अतिरिक्त नाथ योगी मेखला, शृंगी, खप्पर, बन्धबर और झोला आदि भी रखते थे।

नाथ सम्प्रदाय में ग्रहस्थ योगी भी थे। लेकिन सामान्यतः इन्हें अन्य योगियों से निचले स्तर पर रखा गया। पंजाब, शिमला, महाराष्ट्र एवं उत्तराखण्ड में इस तरह के ग्रहस्थ योगी हैं। लोगों पर इन योगियों का गहरा प्रभाव रहा है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आज भी ये योगी जातियाँ अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ मौजूद हैं।

2.2.3.2. परम्परा

नाथ सम्प्रदाय के धर्माचार्यों में गोरखनाथ सर्वाधिक प्रभावशाली रहे हैं। कुछ विद्वान् गोरखनाथ को इस सम्प्रदाय का संस्थापक मानते हैं, लेकिन गोरखनाथ वास्तव पहले से ही चले आ रहे इस सम्प्रदाय के संगठनकर्ता

थे। गोरखनाथ की उन्नायक भूमिका के कारण इस सम्प्रदाय के लिए नाथमत, नाथपंथ या नाथ सम्प्रदाय शब्द प्रचलित हो गया। "मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य गोरक्षनाथ या गोरखनाथ इस मत के सबसे बड़े पुरस्कर्ता थे। उनके द्वारा प्रवर्तित कहा जानेवाला बारहपंथी मार्ग नाथसम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय के साधक अपने नाम के आगे 'नाथ' शब्द जोड़ते हैं।" (साहित्यकोश – भाग-1, 330) गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय को संगठित किया और साथ ही वैचारिक दृष्टि से व्यवस्थित कर एक सुदृढ़ वैचारिक आधार दिया।

गोरखनाथ का सम्प्रदाय बारह शाखाओं में विभक्त माना जाता है और ये शाखाएँ 'बारहपंथी योगी' कहलाती है। इनके नाम हैं – सत्यनाथी, धर्मनाथी, रामपंथी, नटेश्वरी, कन्हड़ी, कपिलानी, वैरागी, मीनन्तथी, आईपंथी, पागलपंथी, धजपंथी और गंगानाथी। यह सम्प्रदाय उड़ीसा, नेपाल, गोरखपुर, पंजाब, राजस्थान, गुजरात, बंगाल और असम तक फैला हुआ था। नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में आदिनाथ के दो शिष्य माने जाते हैं – मत्स्येंद्रनाथ और जलंधरनाथ। मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ हुए और जलंधरनाथ के शिष्य कृष्णपाद थे। 'हठयोग-प्रदीपिका' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें अन्य योगियों का भी उल्लेख हैं। 'वर्णरत्नाकर' में चौरासी नाथ-सिद्धों का उल्लेख मिलता है, जिसमें अनेक सहजयानी सिद्ध हैं तथा अनेक की चर्चा योगियों, निर्गुणमार्गी सिद्धों के ग्रन्थों से मिलती है। लेकिन सभी परम्पराओं में नौ मूलनाथ मीनपा (मत्स्येंद्रनाथ) गोरखनाथ, जलंधरनाथ, चौरंगीनाथ, कानिफानाथ, चर्पटीनाथ, भर्तृहरिनाथ, कथडिनाथ और गहिनीनाथ का उल्लेख है। लेकिन भिन्न-भिन्न परम्पराओं में इनके नाम भी भिन्न ही हैं।

उपलब्ध ग्रन्थों एवं पुस्तकों के आधार पर यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि आदिनाथ शिव को माना गया, लेकिन मत्स्येंद्रनाथ इस परम्परा के प्रथम गुरु हैं। जलंधरनाथ, गोरखनाथ, चर्पटीनाथ, कानिफानाथ, चौरंगीनाथ, भर्तृहरिनाथ, गोपीचन्द और गहिनीनाथ इनके बाद आते हैं, जिन्हें अधिकांश विद्वानों ने स्वीकारा है।

2.2.3.3. प्रमुख नाथ कवि

गोरखनाथ ही नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने गए हैं। इस सम्प्रदाय के अन्य कवियों में भी इनका ही दोहराव मिलता है। यहाँ कुछ नाथ कवियों का परिचय दिया जा रहा है।

2.2.3.3.1. मत्स्येन्द्रनाथ

नाथ परम्परा में आदिनाथ (शिव) के बाद का महत्त्वपूर्ण नाम मत्स्येंद्रनाथ ही है। मत्स्येंद्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे। कश्मीर के शैवों में इनका बड़ा सम्मान है। इनके विषय में बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हैं। मत्स्येंद्रनाथ को मीननाथ और कदंदरनाथ भी कहा गया है। इन्होंने योग की शिक्षा आदिनाथ (शिव) से प्राप्त की थी। किंवदन्ती है कि – शिव जब पार्वती को योगविद्या का रहस्य सुना रहे थे तो इन्होंने मछली का रूप धरकर इसे सुन लिया था। इसी कारण इनका यह नाम पड़ा। चूँकि चोरी से इन्होंने योगविद्या का रहस्य जान लिया था इसलिए शिव ने इन्हें शाप दिया, जिससे इनके शिष्य गोरखनाथ ने इन्हें मुक्त किया। तब इन्होंने गोरखनाथ को अपना शिष्य एवं योग का प्रथम अधिकारी होने का आशीर्वाद दिया।

2.2.3.3.2. गोरखनाथ

गोरखनाथ ऐसे प्रभावशाली गुरु थे जिन्होंने अपने युग का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने नाथ सम्प्रदाय को पुर्नसंगठित करके पूर्वी उत्तर-प्रदेश, नेपाल, उत्तर में पंजाब हिमाचल से लेकर सुदूर दक्षिण तक अपने पंथ का प्रचार किया। उनके जन्म के विषय में कोई प्रामाणिक सूचना नहीं है। गोरखनाथ जिस युग में पैदा हुए थे उस समय का दौर धार्मिक, राजनैतिक व सामाजिक रूप से अस्थिर था। कहीं सूफी तो कहीं बौद्ध, कहीं वैदिक धर्म और कहीं इन्हीं शाखाओं की अनेक उपशाखाएँ विकसित थीं। समाज धार्मिक कर्मकाण्ड, तन्त्र-मन्त्र, जादू टोने यौगिक साधनाओं आदि में फँस चुका था। ऐसे समय में गोरखनाथ ने सदाचार प्रधान योगसाधना के लिए जगह बनाई और नाथपंथ को पुनर्जीवित और संगठित कर भारत में प्रतिष्ठित किया।

गोरखनाथ ने संस्कृत और हिन्दी (देशभाषा) दोनों में रचनाएँ कीं। डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरखनाथ की इन रचनाओं का संकलन और सम्पादन करके 'गोरखबानी' शीर्षक से प्रकाशित करवाया।

2.2.3.3.3. चर्पटनाथ

इनको गोरखनाथ का शिष्य कहा जाता है। कतिपय विद्वानों ने इन्हें बालानाथ का शिष्य भी बताया है। ये राजपूताना के रहने वाले थे। इन्होंने 'चर्पटमंजरी' की रचना की। यह संस्कृत में लिखा गया है।

इसके अतिरिक्त चौरंगीनाथ, बालानाथ, भर्तृहरि आदि प्रमुख नाथ कवि थे। भर्तृहरि और गोपीचन्द के नाम से आज भी कई लोकगीत प्रचलित हैं।

2.2.3.4. नाथ साहित्य : दृष्टिकोण

नाथ साहित्य की प्रामणिकता पर सन्देह है और इसका आधार है उनकी रचनाओं की भाषा। जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग गोरखनाथ के साहित्य में मिलता है, उससे अनुमान लगाया जाता है कि उस काल में उस तरह की भाषा प्रचलित नहीं थी। नाथ साहित्य की अप्रामाणिकता का दूसरा कारण यह भी है कि नाथपंथी, साहित्य रचने के उद्देश्य से लेखन नहीं कर रहे थे। वे अपनी सम्वेदना और अनुभव को लोगों में बाँटना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने ग्रन्थ की रचना नहीं की। यह स्वाभाविक भी है कि योगसाधना में रत नाथ योगियों के लिए शुद्ध साहित्य या साहित्य संस्कार का कोई अर्थ भी नहीं था। नाथों ने तीन बातों पर जोर दिया – (i) योगमार्ग (ii) गुरुमहिमा (iii) पिण्ड ब्रह्माण्डवाद। उनके यही सिद्धान्त वाणी साहित्य बनकर लोगों के मुख से लम्बे समय तक सुना जाते रहे। इस प्रक्रिया में नाथों की वाणी की भाषा और भाव परिवर्तित हो गए। नाथ-साहित्य लोक-साहित्य में बदल गया। नाथों का जोगीड़ा आज भी पूर्वी भारत में प्रचलित है। तजोगीड़ा में बाह्याचार का खण्डन एवं आडम्बरों की अस्वीकारिता है। उदाहरणार्थ –

गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे -
मछली न तरी जाको पानी में घर।

नाथ मानव-विवेक को ही सर्वोपरि मानते थे। जहाँ सिद्धों की साधना बाह्य है वहीं नाथ योगियों का हठयोग आन्तरिक है। गुरु के बिना हठयोग की कठिन प्रक्रिया सम्भव नहीं इसलिए उन्होंने गुरु की महिमा का बखान किया है। नाथों ने आडम्बर, बाह्यपूजन-अर्चन, पाखण्ड और ईश्वर की उपासना के बाहरी तौर-तरीकों के प्रति अरुचि दिखाई। वे मन और आचरण की शुद्धता के समर्थक थे। ब्रह्म से साक्षात्कार ही उनका परम लक्ष्य था। भौतिक सुख-सुविधा उनके चित्र को विकृत नहीं कर सकते हैं –

नौ लख पातरि आगे नाचैं, पीछे सहज अखाड़ा
ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अन्तरि बसै भंडारा।

नाथ-साहित्य यायावरों द्वारा रचा गया था। जिन्होंने देश के अलग-अलग भागों की यात्रा की थी। वे सांस्कृतिक यात्री थे जो भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज, वेश-भूषा आदि का निरीक्षण करते थे और सहजता से उस की भाषा-बोली को स्वीकार लेते थे। उनके साहित्य में जहाँ उत्तर भारत की सांस्कृतिक विविधता के चित्र मिलते हैं, वहीं उनकी भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबी के शब्द सहज विद्यमान हैं। आचार्य शुक्ल इनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहते हैं। वे लिखते हैं "उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आस-पास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ-पंथ के उन जोगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्य से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।"

नाथ साहित्य में मिश्रित भाषा का प्रयोग है, क्योंकि उनका उद्देश्य अलंकार-विधान रस-निष्पति और पदरचना का वैशिष्ट्य दिखाना नहीं था। वे तो इस पंथ की दार्शनिकता और वैचारिक मान्यताओं की बात करते थे। नाथों के साहित्य में सम्प्रदाय या जाति की बात न होकर मानव मात्र की बात कही गई है। वे गुरु की महिमा का गान करते थे, क्योंकि इसके बगैर उनकी गति नहीं है –

गुरु की जै गहिला निगुरा न रहिला
गुरु बिन ग्यान न पाईला रे भाईला।

(गोरखबानी, पृ. 128)

नाथ साहित्य में साधक के लिए मन का शुद्ध एवं सात्विक होना आवश्यक है। उसे इन बातों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। उनका मत है कि सभी तीर्थ व्यक्ति के मन के अंदर ही हैं, इसलिए उसे कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है –

पंथि चलै चलि पवनां तूटै बिंद अरु वाई
घट ही भीतरि अठसठ तीरथ कहाँ भरम रे भाई

(गोरखबानी, पृ.55)

वे समस्त बन्धनों से मुक्त अपने मन की शुचिता पर विश्वास प्रकट कर कहते हैं –

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा
बांध्वा सेल्हा तो जगत्र चेला

(गोरखबानी, पृ.53)

दैनिक जीवन जीते हुए यदि साधक हँसता-बोलता गाता बजाता है तो यह निषिद्ध नहीं है। लेकिन स्वयं में किसी प्रकार की आसक्ति पर अपने मन को मोह में बाँधना त्याज्य है। उनके साहित्य में मानव को धैर्यशील और सहज होने का पाठ पढ़ाया गया है। धैर्य को वे सबसे बड़ी साधना मानते हैं। वे अपने साहित्य में मानव के आचरण को प्रमुखता से स्थान देते हैं। वे व्यवहार के सहज और संयत होने पर बल देते हैं, बड़े-बड़े बोलों पर नहीं। वे मानते हैं कि वे ही योगी हैं जिनमें शीलता है और जो गंगा के निर्मल जल के समान पवित्र हैं –

सहज सील का धरै सरीर
सो गिरती गंगा की नीर

(गोरखबानी पृ. 17)

बहुत ही सहज बातों पर भी इनका ध्यान गया। उनके साहित्य की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की ओर भी गई इसीलिए यह सहज रूप से समाज में प्रचलित हुए। वे क्रोध, परनिन्दा, अधीरता और इन्द्रियों पर संयम रखने को कहते हैं। वे मध्यम मार्ग को चुनने को कहते हैं। खाने के लिए दौड़ नहीं पड़ना, बिना खाए भी न रहना, किसी बात के लिए विशेष आग्रह न रखना व निम्मया न रहना, बिना विचारे नहीं बोल पड़ना – जैसी रोजमर्रा की बातें भी नाथ साहित्य में दृष्टिगत हैं। उदाहरण देखिए –

धाये न पाइबा भूषे न मरिबा,
अहिनिसे लेबा ब्रह्म अग्रीन का भेवं

(गोरखबानी पृ. 12)

इस प्रकार नाथ साहित्य में हमें मानवतावादी दृष्टिकोण भी प्रचुरता से देखने को मिलता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – "इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गयाहै। ... उत्तर भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण-शुद्धि भुलाई नहीं जा सकी है।" (नाथसाहित्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 204)

इस प्रकार नाथ कवियों के साहित्य में जहाँ एक और रूढ़ि-विरोध, पाखण्ड-खण्डन, आचार-संयम आदि से सम्बन्धित रचनाएँ आती हैं तो वहीं दूसरी ओर वे तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों पर भी अपने विचार प्रकट कर रहे थे। नाथों ने अपनी कविता में मानवीय मूल्य उकेरे हैं तो सामान्यजन के दैनिक जीवन से सम्बन्धित विषयों पर भी नीतिपूर्ण शिक्षा दी है।

2.2.4. जैन साहित्य

जैन धर्मावलम्बी इस धर्म को अत्यधिक प्राचीन बताते हैं। इनके अनुसार ऋषभदेव इनके प्रथम प्रर्वतक हैं। जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएँ अपभ्रंश में लिखी गई हैं लेकिन इसका व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्य में भी देखने को मिलता है। सिद्ध, बौद्ध, नाथ आदि आदिकाल में जितने भी प्रकार के साहित्य मिलते हैं कहीं-न-कहीं उनकी प्रामाणिकता को लेकर सन्देह किया गया है लेकिन जैन साहित्य इसका अपवाद है। चूँकि जैन साहित्य का सृजन धर्म सम्प्रदाय के आश्रय में हुआ था इसलिए यह साहित्य मठों आदि में सुरक्षित रहा और अपरिवर्तित भी रहा। जैन साहित्य की विषय-वस्तु में एक ऐसी समानता भी मिलती है जो उसे एक पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करती है। जैन कवियों में धर्म और साहित्य का सफल संयोग मिलता है। एक ओर जैन साहित्य में धर्मोपदेशों की भरमार है तो वहीं दूसरी ओर साहित्य और काव्य-रूपों की महत्त्वपूर्ण विकास परम्परा है इसीलिए इसको मात्र धार्मिक साहित्य कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि उनके साहित्य में उपदेशों की बहुलता है। वे संयमशील कठोर जीवन को आदर्श मानते थे। इस धर्म के अनुसार जीव का मूल स्वभाव शुद्ध, बुद्ध एवं सच्चिदानन्दमय है, इसलिए जीव का प्रथम लक्ष्य ही इसको अपने कर्मों से और अधिक उच्च स्थिति तक पहुँचाना है। उपदेशों की अधिकता के कारण कहीं-कहीं उनका साहित्य नीरस बन पड़ता है, लेकिन उनके कविता में काव्य सम्वेदना कथानक और शिल्प पक्ष महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य के विकास की परम्परा में जैन साहित्य का अपना विशेष स्थान है।

2.2.4.1. जैन साहित्य के प्रकार

बौद्ध धर्म ने देश की पूर्वी क्षेत्र में अपने मत को स्थापित करने के लिए जनभाषा को आधार बनाया उसी प्रकार जैन धर्म ने देश के पश्चिम क्षेत्र में अपना मत स्थापित करने के लिए पश्चिम की ही जनभाषा को अपनाया यह जनभाषा अपभ्रंश थी। पुष्पदंत, स्वयंभू जैसे महाकवियों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम अपभ्रंश को बनाया। जैन साहित्य में प्रबन्धात्मक और मुक्तक काव्यधाराएँ मिलती हैं। प्रबन्धकार कवियों में स्वयंभू, पुष्पदंत, हरिभद्रसूरि, विनयचन्द्र सूरि, कनकामर मुनि और धनपाल आदि कवि हैं एवं मुक्तक काव्यधारा के प्रमुख कवि जोइन्दु, रामसिंह और देवसेन हैं। जैन प्रबन्धात्मक काव्य के तीन प्रकार हैं – (i) पुराण काव्य, (ii) चरितकाव्य एवं (iii) कथाकाव्य।

2.2.4.1.1. प्रबन्ध साहित्य

2.2.4.1.1.1. पौराणिक काव्य

महापुराण जैन सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण रचना है। पौराणिक विषयों को लेकर जैन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में रचना की। इस साहित्य में जैन तीर्थंकरों, बलदेवों, वासुदेवों, प्रतिवासुदेवों आदि 63 महापुरुषों की जीवन-गाथाओं को लेकर विपुल साहित्य रचा गया। जैन साहित्य में पुष्पदंत कवि का महापुराण 'तिसिद्धि' उल्लेखनीय है, जिसमें चौबीस तीर्थंकरों, 12 चक्रवर्तियों, 9 बलदेवों, 9 नारायणों और 9 प्रतिनारायणों का जीवनचरित काव्यात्मकता के साथ वर्णित है। सब मिलाकर 63 महापुरुषों का वर्णन है। इस महापुराण की कथावस्तु का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। महापुराण की विशिष्टता उसकी धार्मिकता कम, मानव-जीवन की अभिव्यंजना में अधिक है। लेकिन इस साहित्य की सबसे बड़ी कमी है कि इसमें मानवीय दशाओं का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता जिसके कारण काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य और प्रवाह में कमी हो जाती है और उसका दार्शनिक पक्ष अधिक उजागर हो जाता है। लेकिन इस सबके बावजूद भी यह श्रेष्ठ साहित्यिक रचना है। स्वयंभू और पुष्पदंत इस काव्य के प्रमुख कवि हैं।

स्वयंभू द्वारा रचित चार ग्रन्थ हैं – परमचरित्र, रिट्ठेनेमिचरित्र, पंचमिचरित्र और स्वयंभू छन्द। किन्तु स्वयंभू के काव्यग्रन्थ 'परमचरित्र' को विशेष ख्याति मिली है, 'परमचरित्र' अपभ्रंश की पहली प्रबन्ध रचना है। 'स्वयंभू' द्वारा रचित 'परमचरित' पाँच काण्डों में विभाजित है – विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड और उत्तर काण्ड। अपने इस महाकाव्य में वे राम के जीवन के प्रति भ्रान्तियों का निवारण करते हैं। काव्य के आरम्भ में वे आत्मनिवेदन करते हैं कि – "मेरे समान कुकवि कोई दूसरा नहीं होगा। न तो मैं व्याकरण जानता हूँ और न वृत्तिसूत्र का व्याख्या ही कर सकता हूँ, न मैंने पाँचों महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल प्रस्तार आदि छन्द लक्षण ही जानता हूँ। भामह, दण्डी के अलंकारशास्त्र से भी मैं परिचित नहीं हूँ; फिर भी मैं काव्य-रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।" स्वयंभू का यह कथन उनकी विनम्रता का परिचायक है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मैं 'गामेल्ल भास' अर्थात् जन-भाषा में जन के लिए काव्य की रचना कर रहा हूँ। वस्तुतः में रामकथा लिखने का मूल उद्देश्य ही उसे सामान्य जन तक पहुँचाना था। उन्होंने राम के मानवीय रूप को दिखाया है, जिसमें कोई अलौकिकता नहीं है, बल्कि वह गुण-दोषों से युक्त सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलताओं से युक्त मानवीय शक्ति के प्रतीक हैं। उनके राम जटिलताओं से लड़ने वाले वीर पुरुष हैं तो अपने भाई के मूर्च्छित हो जाने पर रोने-बिलखने वाले साधारण पुरुष भी। उनका जीवन उल्लास और अवसाद दोनों से ही युक्त है।

पुष्पदंत इस परम्परा के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं, जिन्होंने 'महापुराण' एवं 'णायकुमारचरित चरित्र' की रचना की। 'महापुराण' में उन्होंने रामकथा, कृष्णकथा और जैन तीर्थांकरों की जीवन-गाथाओं का वर्णन किया है। पुष्पदंत की रामकथा ब्राह्मण परम्परा के विरुद्ध जैन परम्परा की रामकथा को स्थापित करने का प्रयास है। पुष्पदंत की रामकथा तथ्यात्मक रूप से वाल्मीकि और तुलसी परम्परा से भिन्न हैं। महापुराण में मानव-जीवन की

अभिव्यंजना दिखती है और इसीलिए यह महत्त्वपूर्ण हैं। 'महापुराण' के उत्तरार्द्ध में वे कृष्णकथा कहते हैं एवं उनकी बाल-लीलाओं का भी वर्णन करते हैं।

2.2.4.1.1.2. चरित काव्य

जैन कवियों ने लोकप्रसिद्ध चरित्र को केन्द्रित काव्यों की रचनाएँ कीं, जिनमें प्रमुख चरित काव्यों का उल्लेख किया जा रहा है –

i. **प्रद्युम्न चरित :** इसके रचनाकार 'संधारु' कवि हैं। यह ग्रन्थ धार्मिक प्रचार के उद्देश्य से लिखा गया। लेकिन इसके बावजूद भी यह साहित्यिक कृति मानी गई, क्योंकि इसमें कई कथानक सम्वेदना के स्तर पर विकसित है और इसका सरस वर्णन किया गया हैं। तत्कालीन सामाजिक परिस्थियों और जन सामान्य को भी चित्रित किया गया है। यह कृति कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न को आधार बनाकर लिखी गई है।
ii. **णायकुमारचरित चरित्र :** महाकवि पुष्पदंत ने इस कृति की रचना की। इसमें मगध के राजा जयंधर के पुत्र की कथा वर्णित है। इसमें नागकुमार के विवाहों, प्रेम और अन्त में तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की कथा है।
iii. **जसहर चरित्र :** यह भी पुष्पदंत की रचना हैजिसमें वे हिंसा की निन्दा करते हैं। जसहर की माता ने पुत्र के मंगल के लिए आटे के कुक्कट की बलि दी, इस हिंसक प्रवृत्ति के कारण उसे अनेक जन्मों तक भटकना पड़ा।
iv. **करकंड चरित्र :** इसमें पिता-पुत्र में आपसी पहचान न होने के कारण युद्ध होता है। अन्त में मिलन होता है। करकंडु के प्रेम एवं विवाह के वर्णन के साथ नौ अवान्तर कथाओं का भी विस्तार इस रचना में है।

2.2.4.1.1.3. कथा काव्य

जैन धर्म से सम्बन्धित कथा काव्य साहित्यिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कथाकाव्य वह काव्य है जहाँ मुख्य चरित्र या तो पूर्णतः काल्पनिक होता है या फिर लोक-कथाओं का कोई पात्र। इस दृष्टि से आदिकालीन जैन साहित्य में दसवीं सदी के कवि को 'भविस्सत कथा' उल्लेखनीय है। भविस्सत कथा लोक कथाओं पर आधारित है। यह कथा-काव्य हिन्दी के सूफी साहित्य की पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। 'अंजना-सुन्दरी कहा' 'कुवलयमाला कहा, 'विलासवती कहा' आदि प्रमुख कथाकाव्य हैं।

2.2.4.1.2. मुक्तक काव्य

जैन साहित्य में प्रबन्धकाव्य के बाद मुक्तक काव्य की रचनाएँ हुईं। मुक्तक साहित्य में प्रधान रूप से दो प्रकार की भावधारा मिलती हैं – रहस्यवादी और उपदेशात्मक।

2.2.4.1.2.1. रहस्यवादी धारा

मुक्तक जैन साहित्य में रहस्यवादी धारा अधिक सशक्त है। योगीन्द्र (जोइन्दु), रामसिंह, सुप्रभाचार्य, महानंदि आदि इस धारा के महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। जोइन्दु का 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' तथा मुनिरामसिंह का 'पाहुड़ दोहा' जैन साहित्य की उल्लेखनीय रहस्यवादी कृतियाँ हैं। जोइन्दु के अनुसार योग वेद और शास्त्रों से परमात्मा को नहीं जाना जा सकता। पवित्र ध्यान से ही उनको महसूस किया जा सकता है। जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों को जोइन्दु ने काव्यात्मक साँचे में ढाला है। लगभग सभी जैन मुनियों की रचनाओं में एक साम्य दिखाई देता है। यह साम्य उनकी आन्तरिक चेतना का है। बाह्य निगम-आचारों, कर्मकाण्डों, व्रत-तीर्थाटन आदि का बहिष्कार इस धारा की खास विशेषता रही।

2.2.4.1.2.2. उपदेशात्मक धारा

जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित ऐसी मुक्तक रचनाएँ भी हैं जिनमें नीति विषयक उपदेशों का वर्णन किया गया है। इन रचनाओं का मूल उद्देश्य पाप-पुण्य, धर्म-अहिंसा, लोभ-त्याग और इन्द्रिय-निग्रह की शिक्षा देना था। देवसेन की 'सावयंधम्म दोहा' इस परम्परा की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। 'उपदेशरसायन रास', 'कालस्वरूप कुलक', 'कल्याण रासु' और 'भावना सन्धि प्रकरण' इसी धारा की प्रमुख रचनाएँ हैं।

2.2.4.2. मुख्य जैन कवि : एक परिचय

2.2.4.2.1. स्वयंभू

स्वयंभू अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि माने गए हैं। इन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि भी कहा गया है। इनका समय आठवीं शताब्दी है। स्वयंभू मूलतः उत्तर के निवासी थे किन्तु बाद में दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में चले गए। स्वयंभू ने परमचरित्र की रचना की एवं राम को लोक के समक्ष साधारण पुरुष की भाँति दिखाया जिसे सुख और दुःख दोनों ही व्याप्त है। अपनी वाक्कला एवं कल्पना कौशल से वे अद्भुत प्रसंग खड़े करते हैं। उनकी अन्य रचनाएँ हैं – 'परम चरित्र', 'रिट्ठेनेमिचरित्र', पंचमिचरित्र और 'स्वयंभू छन्द'। स्वयंभू अपभ्रंश के बड़े कवि हैं।

2.2.4.2.2. पुष्पदंत

पुष्पदंत भी स्वयंभू के समान ही अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि थे। इनका समय दसवीं शताब्दी है। ये ब्राह्मण थे लेकिन बाद में ये जैन धर्म में दीक्षित हुए। इनका अधिकांश समय राष्ट्रकूट राज्य की राजधानी मान्यरवेत में व्यतीत हुआ। पुष्पदंत स्वभाव से अक्खड़ थे। ये बहुत ही स्पष्टवादी व्यक्ति थे। उन्होंने गर्व से स्वयं को 'अभिमान मेरु' कहा है। 'महापुराण' इनकी महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें रामकथा, कृष्णकथा और जैन तीर्थंकरों की जीवनगाथा है। उनकी मुख्य कृति 'महापुराण' और 'णायकुमार चरित्र' है।

इनके अतिरिक्त प्रमुख जैन कवियों में जोइन्दु, रामसिंह, धनपाल, हरिभद्र सूरि आदि उल्लेखनीय हैं।

2.2.4.3. जैन साहित्य : विशेषताएँ

जैन कवियों ने प्रबन्ध एवं मुक्तक काव्य की रचनाएँ की। जैन साहित्य अधिकांश अपभ्रंश में लिखा गया है। लेकिन यह हिन्दी साहित्य से अलग नहीं है, क्योंकि इसका व्यापक प्रभाव बाद के साहित्य में दिख पड़ता है। जैन साहित्य की मूल उद्देश्य धार्मिक उपदेश देना था। इसलिए इनके साहित्य में मिथकों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया। लेकिन पूर्व में भी संस्कृत साहित्य में मिथकों का प्रयोग मिलता है। जैन साहित्य में धार्मिकता के साथ-साथ मानवीय अनुभूति का विस्तार भी मिलता है। इस साहित्य का उद्देश्य दृष्टिकोण को विकसित करना और जीवन में सम्वेदनाओं को टटोलना भी था। जैन प्रबन्धकाव्यों में राम, कृष्ण, जैन तीर्थंकरों और प्रसिद्ध लोक कथाओं के चरित्र का रोचक वर्णन मिलता है। इन प्रबन्धकाव्यों में वे जैन सिद्धान्तों के महत्त्व को भी प्रतिपादित करते हैं। इन काव्यों में मानव-जीवन की भिन्न भावदशाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति दिखाई देती है। जैन मुक्तक काव्य साहित्य में धर्म के आडम्बरों, बाह्याचारों तथा शास्त्रों के ज्ञान का खण्डन किया है। वे नीति उपदेश, वैराग्य और आत्मज्ञान को अपने काव्य का विषय बनाते हैं। जैन कवियों के साहित्य में अपने-आप ही वे सभी विशेषताएँ आ जाती हैं जिसके लिए साहित्य की रचना की जाती है। स्वयंभू सीता की गरिमामय छवि को अंकित करते हैं। उनकी सीता आम स्त्री है लेकिन अपने सम्मान के लिए वह राम से प्रश्न भी कर सकती है। अपनी पवित्रता के लिए अग्निपरीक्षा धैर्य के साथ देती है लेकिन राम से कहती है –

सीण ण भीय सइण गव्वें
बलेवि पबोल्लिय गग्गर सद्दें
पुरिस णिहीण होंति गुणवत वि
तियहे ण पाज्जंति मरंतवि

राम के धिक्कार भरे वचन सुनकर भी सीता शान्त रहीं और भयमुक्त होकर गर्व से बोलीं कि वह पुरुष गुणवान होकर भी विहीन है जिसमें स्त्री के प्रति सद्भाव नहीं होता। पुरुष मरती हुई स्त्री पर भी विश्वास नहीं करते। स्त्री चेतना का स्वर इनके साहित्य में दिखता है। सीता यह कहने से भी नहीं चूकती कि स्त्री और पुरुष में यह अन्तर है कि स्त्री विपरीत परिस्थितियों में भी पुरुष का साथ वैसे ही नहीं छोड़ती जैसे पेड़ पर चढ़ी लता पेड़ के मुरझा जाने पर भी उसका साथ नहीं छोड़ती। स्वयं विपरीत परिस्थितियों में भी सीता ने राम का साथ दिया था।

णर णारिहिं एवड्डत्र अन्तरु
मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु

(स्वयंभू- 'परमचरित्र')

पुष्पदंत ने अपने काव्य में कृष्ण के बाल-रूप और लीलाओं का अद्भुत वर्णन किया। जैन साहित्य में कृष्ण की यह लीला अपने विशिष्ट रूप में विद्यमान है –

धुलि धूसरेण वरमुक्क सरेण विणा
मुशराणा

कीला-रस कसेण वर-मुक्क सरेण विण

(पुष्पदंत 'महापुराण')

साहित्य परम्परा से ही कृष्ण के नटखटपन उनकी लीलाओं, उनके हाव-भाव कवियों के लेखन का विषय रही है। जैन साहित्य में पुष्पदंत ने धूलधूसरित कृष्ण के बालपन को उकेरा है। प्रकृति के सुन्दर वैभव, फल-फूल, धन-धान्य सबका चित्रण भी जैन साहित्य में विपुलता से मिलता है।

सुरहि गंधपरिमल पसुणएहि फंसए

सुगंधित फूलों से युक्त स्थान का वर्णन धनपाल अपनी'भविस्सत कहा' में करते हैं।

जैन साहित्य में उपदेशों की प्रचुरता है, जिसमें विषयों, कामनाओं, इच्छाओं, मोह आदि से दूर रहने का ज्ञान दिया गया है। कवि जोइन्दु कहते हैं – "कवि-पयंगा सद्दिम, गय फांसहि णांसति अलिउल गंधहि मंच्छ रॅसि किमि अणुराउ करंति।" अर्थात्, रूप के मोह में पतंगा, शब्द के मोह में मृग, सुगन्ध की मोह में भ्रमर और रसना के मोह में पड़कर मछली का नाश हो जाता है। लोग इस सत्य को जानकर भी विषयों के प्रति अपने अनुराग को बनाए रखते हैं।

धार्मिक उपदेशों की आड़ में वे सामान्य जन को जीवन जीने का तरीका अपने साहित्य के माध्यम से बताते हैं। जीवन में क्रमशः ही आगे बढ़ा जा सकता है। सीधे छलांग मारकर हम अपना ही नुकसान करेंगे और लक्ष्य तक भी नहीं पहुँच पाएँगे। क्रमबद्ध तरीके से और धैर्य से ही व्यक्ति अपने लक्ष्य की सहज प्राप्ति करता है। मुनिराम कहते हैं–

मुलु छाँडि जो डाल चडि, कहँ तह जोयाभायसि
चीरुण वणणहँ जाइ बढ़, विणु उट्टियइँ कपासि।

मूल (जड़) को छोड़कर सीधे डाल पर चढ़ने वाले के लिए योगाभ्यास नहीं कहाँ ? भला कपास को तोड़े बगैर कपड़ा बुना जा सकता है ? अर्थात् क्रमबद्ध तरीके से ही आगे बढ़ा जा सकता है। इसी तरह से जैन साहित्य में बहुत-सी नीति की बातें मिलती हैं। उनका मानना है कि जो बात अपने लिए हितकर नहीं है वह दूसरों के लिए भी प्रतिकूल होगी। इसलिए इस तरह के कर्म दूसरों के प्रति करना यहाँ तक कि कल्पना मात्र करना भी बुरा है। यदि धर्म की राह पर चलना है तो हमें दूसरों के लिए प्रतिकूल सोच का त्याग करना होगा।

जैन साहित्य में नीतिपरक उपदेश जन सामान्य को बड़ी सरलता से दिए गए हैं। वे प्रकृति, पशु-पक्षी और पेड़-पौधों के उदाहरण देते हैं जो सीधे-सीधे जनमानस की समझ में आ जाए। देवसेन उल्लू का उदाहरण देकर कहते हैं कि जिस प्रकार सैकड़ो सूर्य उगने के बाद भी उल्लू के लिए अन्धकार होता है वैसे ही विपरीत बुद्धि वाले सैकड़ो शास्त्र पढ़कर भी धर्म के विपरीत ही आचरण करता है। वे धर्माडम्बरों का विरोध करते हैं। जोइन्दु कवि

कहते हैं कि विषयों को छोड़ देने वाला व्यक्ति ही वास्तव में संन्यासी होता है न कि धर्म के बाह्यचार मात्र मानने वाला व्यक्ति। सिर मुँडा कर कोई संन्यासी नहीं हो सकता जब तक कि उसे धर्म के मूल तत्त्व का ज्ञान नहीं है।

जैन साहित्य में रास-काव्य भी है। रास साहित्य में सामाजिक व्यवस्था को सामने रखकर गार्हस्थ्य धर्म का पालन करने का उपदेश दिया गया है। जैन धर्म में धार्मिक रास के साथ ही शुद्ध वीरतापरक रास काव्य भी लिखे गए। 'चन्दनबाला रास' में स्त्रियों का सतीत्व, संयम और आचरण की पवित्रता की शिक्षा दी गई है। जैन साहित्य में 'कागु' लोक प्रचलित काव्य भी है। इसे गेग रूपक भी कहा जाता है, इसकी परम्परा आज भी है। 'जिनचन्द-सूरि फागु' जैन साहित्य की महत्त्वपूर्ण 'फागु' रचना है। इस फागु में स्त्री और प्रकृति का बहुत ही मनोरम चित्रण किया गया है। 'नाद-सौन्दर्य' फागु की विशेषता है। वास्तव में फागु लोकगीत है। जैन कवियों ने इसमें प्रेम के साथ-साथ धार्मिकता का रंग चढ़ा दिया है।

जैन रचनाकारों ने अपभ्रंश में व्याकरण ग्रन्थ भी लिखे । आचार्य हेमचन्द्र का 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' अपभ्रंश व्याकरण ग्रन्थ है। हेमचन्द्र के व्याकरण से इस बात का पता चलता है कि तब तक अपभ्रंश भाषा, साहित्य की भाषा हो चुकी थी। देशभाषा और इसके योग से नई भाषा विकसित हो रही थी और फिर यही भाषा विकसित होकर हिन्दी रूप में परिणित हो गई।

2.2.5. पाठ-सार

इस इकाई में आपने जाना कि सिद्ध कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से कर्मकाण्डों, पाखण्डों और धार्मिक रूढ़ियों का विरोध किया और सहज जीवन पर विशेष बल दिया। सहजजीवन जीते हुए महासुख को प्राप्त करना उनकी साधना का लक्ष्य था। सिद्ध साहित्य की शब्दावली में षट्चक्र, नाड़ीविधान, शून्यगगन, सुरति-निरति जैसे रहस्यवादी प्रतीक भी मिलते हैं । साहित्यिक प्रवृत्तियों और भाषागत विशेषताओं की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती कवियों के लिए सिद्ध साहित्य आधारभूमि भी प्रदान करता है।

सिद्ध, नाथ एवं जैन साहित्य हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक विकास यात्रा मानी जा सकती है। ये रचनाकार राजनैतिक उथल-पुथल और सामाजिक जटिलताओं के समय में अपनी साहित्य धारा को अबाध गति से चलाती रहे। इनकी इसी चेतना के कारण इनके साहित्य की सम्वेदना और अभिव्यंजना का स्वर तीव्र था। भक्तिकाल के कवि कबीरदास पर इनका प्रभाव दिखाई देता है। कबीरदास की परम्परा विद्रोह की परम्परा थी। उन्होंने सिद्धों और नाथों से दर्शन, बीजक, साखी, शबद आदि ग्रहण किया । सिद्ध, नाथ और जैन रचनाकारों ने परवर्ती रचनाकारों के लिए साहित्य-लेखन के मार्ग को प्रशस्त किया। तुलसीदास और सूरदास के रचनाओं में भी इन कवियों की छाप देखी जा सकती है। सिद्धों के नवीन अनुभूति ने नवीन काव्य-भाषा की रचना की। नाथों ने मिश्रित अनुभूति से मिश्रित भाषा और संस्कृति में काव्य-रचना की। वे यायावरी प्रवृति के थे इसलिए उनके साहित्य में विविधता भी है। जैन साहित्य में धार्मिकता के साथ मानवीय पक्ष भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध, नाथ और जैनों ने हिन्दी साहित्य को विपुल साहित्य प्रदान कर उसे प्रभावित भी किया।

2.2.6. बोध प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

1. वज्रयानी ही ..... कहलाए। (सिद्ध / जैन)
2. ..... में 'पा' शब्द अपने नाम के पीछे जोड़ने का चलन था। (जैनों / नाथों / सिद्धों)
3. सिद्धों के पहले कवि ..... माने गए। (मत्स्येंद्र / गोरखनाथ / सरहपा)
4. नाथों की संख्या ..... मानी जाती है। (पाँच / ग्यारह / बीस / चौरासी)
5. नाथ सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित करने का श्रेय ..... को जाता है। (पुष्पदंत / लुइपा / गोरखनाथ)
6. कनफटे योगी ..... थे। (जैन / नाथ / सिद्ध)
7. परमचरित्र के रचनाकार ..... हैं। (गोरखनाथ / कण्हया / स्वयंभू)
8. स्वयंभू को अपभ्रंश का ..... कहा गया है। (लेखक / वाल्मीकि / रक्षक)

सत्य/असत्य कथन की पहचान कीजिए –

1. सिद्धों को कनफटा भी कहा जाता था। (**सत्य/असत्य**)
2. लुइपा सिद्धों के कवि नहीं थे। (**सत्य/असत्य**)
3. नाथ सम्प्रदाय के सशक्त प्रवर्त्तक गोरखनाथ थे। (**सत्य/असत्य**)
4. मत्स्येंद्रनाथ जैनों के आदिगुरु थे। (**सत्य/असत्य**)
5. जैन साहित्य प्रामाणिक नहीं है। (**सत्य/असत्य**)

लघु उत्तरीय प्रश्न –

1. किन्हीं तीन प्रमुख सिद्ध कवियों का परिचय दीजिए।
2. नाथ परम्परा के किन्हीं तीन कवियों का परिचय दीजिए।
3. जैन परम्परा के किन्हीं दो कवियों का परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

1. सिद्ध साहित्य की विशेषताएँ लिखिए।
2. नाथ साहित्य के विषय में विस्तारपूर्वक लिखिए।
3. जैन साहित्य के प्रबन्ध एवं मुक्तक काव्य के विषय में लिखिए।

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए –

1. कण्हपा

2. गोरखनाथ
3. चरित काव्य

2.2.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग -2
2. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी
5. नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, विजेन्द्र स्नातक
7. दोहा कोष, राहुल सांकृत्यायन

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : आदिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 3 : रासो-काव्य-परम्परा, लौकिक साहित्य, गद्य साहित्य

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देश्य
2.3.1. प्रस्तावना
2.3.2. रासो काव्य-परम्परा
  2.3.2.1. खुमाण रासो
  2.3.2.2. बीसलदेव रासो
  2.3.2.3. हम्मीर रासो
  2.3.2.4. परमाल रासो
  2.3.2.5. पृथ्वीराज रासो
2.3.3. लौकिक साहित्य
  2.3.3.1. ढोला-मारू रा दूहा
  2.3.3.2. जयचन्द-प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका
  2.3.3.3. वसन्त विलास
  2.3.3.4. खुसरो की पहेलियाँ
2.3.4. गद्य साहित्य
  2.3.4.1. राउलवेल
  2.3.4.2. उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण
  2.3.4.3. वर्णरत्नाकर
2.3.5. पाठ-सार
2.3.6. शब्दावली
2.3.7. उपयोगी ग्रन्थ सूची
2.3.8. बोध प्रश्न

2.3.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रासो काव्य-परम्परा के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त करते हुए महत्त्वपूर्ण रासो काव्य से परिचित हो सकेंगे।
ii. प्रमुख आदिकालीन लौकिक साहित्य का परिचय प्राप्त करते हुए और उसकी अन्तर्वस्तु को समझ सकेंगे।
iii. आदिकालीन गद्य साहित्य की विस्तारपूर्वक विवेचना कर सकेंगे।

2.3.1. प्रस्तावना

आदिकालीन हिन्दी साहित्य एक ऐसे परिवेश की उपज है जिसे इतिहास की शब्दावली में संक्रमण का काल कहा जाता है। परिवेशगत संक्रमणशीलता के कारण ही आदिकाल की रचना सामग्री में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं जो एक दूसरे से टकराती हुई विकसित होती हैं। उदाहरण के तौर पर एक तरफ धार्मिक साहित्य है तो दूसरी ओर राज्याश्रित साहित्य के रूप में रासो काव्य की विकसित परम्परा। धार्मिक साहित्य में जीवन की ऐहिकता के प्रति, भोगवाद के प्रति, सांसारिकता के प्रति विरक्ति का भाव है तो राज्याश्रित साहित्य में ऐहिकता के प्रति एक दुर्निवार आकर्षण दिखाई देता है। एक तरफ राजदरबारों का वैभव है और दूसरी तरफ लोक साहित्य है जिसमें औसत और आम आदमी की जीवन परिस्थितियों की गाथाएँ मौजूद हैं। इसलिए राज और लोक का अन्तर्विरोध भी आदिकालीन हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है। इस तरह से अलग-अलग वर्ग अलग-अलग जीवन दशाओं, जीवन के प्रति अलग-अलग समझ से भरा हुआ आदिकाल का साहित्य है जिसमें एक सम्बन्ध तो दिखाई देता है, भले ही वह अन्तर्विरोधों से भरा हुआ सम्बन्ध ही क्यों न हो।

2.3.2. रासो काव्य-परम्परा

रासो काव्य आदिकालीन हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख काव्य-परम्परा है। फिर भी, 'रासो' की उत्पत्ति और प्रयोग के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे 'रामायण' से बना हुआ व्याख्यायित करते हैं। उनके अनुसार – " 'बीसलदेव रासो' में काव्य के अर्थ में 'रामायण' शब्द बार-बार आता है। अतः हमारी समझ में इसी 'रामायण' शब्द के होते-होते 'रासो' हो गया है।" कुछ विद्वान् इसे 'राजयश', 'राजयज्ञ' या रहस्य से निकला हुआ मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे नाट्य उपरूपक 'रासक' से प्रादुर्भूत मानते हैं।

'रासो' लोक प्रचलित नाट्य 'रास' से निकला हुआ प्रतीत होता है। भागवत का रास भी लोक से लिया गया है और नाट्य का रासक भी। इसमें नाट्य और गीत दोनों का मिश्रण होता है। भागवत की रासलीला से भी यह सिद्ध है। ब्रज मण्डल की रासलीला लोक प्रचलित रास का ही विकसित रूप है। जैन अपभ्रंश में रास की लम्बी परम्परा है। 'रास' से ही रासह, रायण, रासु आदि बने। जैन रास मूलतः धार्मिक हैं, साम्प्रदायिक हैं किन्तु आदिकाल आते-आते यह साहित्य में प्रविष्ट होकर शृंगार व वीर मिश्रित हो गया।

रासो काव्य की मूल प्रकृति सामन्तों और राजाओं के शौर्य और विलास का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करना है। सामन्ती चरित्र के ये अनिवार्य अंग हैं, शोभा हैं। शौर्य और विलास में कौन प्रधान है, कहना कठिन है। रासो काव्य के सन्दर्भ में कहना गलत न होगा कि इसमें शौर्य का प्रदर्शन विलास को लेकर है और विलासप्रियता शौर्य को लेकर। दोनों में हालांकि द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है।

आदिकाल में मुसलमानों के आक्रमण चूँकि तेज हो गए थे और हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं थी जो विदेशी आक्रमणों का मुँहतोड़ जवाब देती। पश्चिमोत्तर प्रदेशों में कहरवाड़, चौहान, चंदेल,

परिहार आदि राजपूतों के अलग-अलग राज्य थे और वे प्रायः आपस में लड़ा करते थे। इतना ही नहीं, राजाओं में कभी-कभी तुच्छ स्वार्थों पर आधारित सन्धि के उदाहरण भी मिलते हैं। रासो काव्य भले ही अप्रामाणिक क्यों न हों, लेकिन उनके आधार पर तत्कालीन सामन्ती समाज की विलासिता और वैयक्तिक शौर्य का पता लग जाता है। जो भी रासो काव्य उपलब्ध हैं, उनमें पारस्परिक युद्धों, ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि का खूब बढ़ा-चढ़ाकर चित्रण किया गया है।

यह सत्य है कि रासो काव्य की विषय-वस्तु का मूल सम्बन्ध राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है। फिर भी लोक-जीवन की कुछ-न-कुछ झाँकी मिल ही जाती है। वैसे भाषा तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अधिकांश रासो ग्रन्थ प्रामाणिक साबित नहीं होते। रासो काव्य-परम्परा में लिखित खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि रचनाएँ आलोच्य सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

2.3.2.1. खुमाण रासो

कुछ विद्वानों ने इसके रचयिता दलपति विजय को स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसको नवीं शताब्दी की रचना माना है, क्योंकि इसमें नौवीं शताब्दी के चितौड़ शासक खुमाण के युद्धों का चित्रण है। राजस्थान के वृत्त-संग्राहकों के अनुसार इसमें सत्रहवीं शताब्दी के चितौड़ नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है और इसी के आधार पर वे इसको आदिकाल की रचना स्वीकार नहीं करते।

फिर भी वास्तविकता यह है कि इस काव्य का मूल रूप नौवीं शताब्दी में ही लिखा गया था। तत्युगीन राजाओं के जीवन्त वर्णन, उस समय की परिस्थितियों के यथार्थ ज्ञान तथा भाषा के 'आरम्भिक हिन्दी' रूप के प्रयोग से इसी तथ्य के प्रमाण मिलते हैं। रचना शैली तथा विषय-वस्तु का अवलोकन करने पर यह सहज ही परिलक्षित होता है कि यह काव्य किसी जैन साधु द्वारा रचित नहीं हो सकता। क्योंकि अगर ऐसा होता तो इसमें धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में अवश्य की गई होती। वैसे इस ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में सुरक्षित है।

आलोच्य ग्रन्थ वस्तुतः पाँच हजार छन्दों का विशाल काव्य ग्रन्थ है जिसमें राजाओं के युद्धों और विवाहों के सरल वर्णनों से काव्य भावभूमि का व्यापक विस्तार हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

पिउ चितौड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।
जोवै बाट बिरहिणी खिण-खिण अणवै खीज॥
संदेशो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पिंज्जरे, छूटण रो सन्देह॥

सन्दर्भानुसार नायिका भेद, षट्ऋतु आदि के चित्रण भी मिलते हैं। हालांकि राजाओं का यशोगान काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति बनकर उभरा है जहाँ वीर रस के साथ-साथ शृंगार रस की धारा भी आदि से अन्त तक प्रवाहित

है। दोहा, कवित्त, सवैया आदि जैसे उल्लेखनीय छन्द प्रयुक्त हुए हैं। काव्य भाषा के रूप में राजस्थानी हिन्दी का प्रयोग हुआ है। लेकिन, इस ग्रन्थ के मूल रूप तक पहुँचने के लिए आलोचकों ने प्रामाणिक पाठ सम्पादन की आवश्यकता एवं महत्त्व पर काफी बल देते हैं।

2.3.2.2. बीसलदेव रासो

बीसलदेव रासो परम्परा का प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यह ग्रन्थ वीरगति के रूप में सबसे प्राचीन है। इसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने विश्वासपूर्वक इसे वीर काव्य-परम्परा का ग्रन्थ न मानकर प्रेमपरक काव्य ग्रन्थ स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ के रचयिता कवि नरपति नाल्ह हैं जिन्होंने इसकी रचना 1155 ई. में की थी।

वस्तुतः बीसलदेव रासो आदिकालीन हिन्दी साहित्य की एक उल्लेखनीय रचना है। इसके अन्तर्गत भोज परमार की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव तृतीय के विवाह, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा बहुत ही सरस शैली में प्रस्तुत की गई है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

अस्त्रीय जनम काईं दीधउ महेस।
अवर जनम थारई घणा रे नटेस।
राणि न सिरजीय धउलीय गाई।
वणषण्ड काली कोइली। हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल।
भषती दाष बीजोरड़ी। इणि दुष झूरइ अवलाजी बाल।

बीसलदेव रासो में एक संस्कार व परम्परा दृष्टि का आभास होता है जहाँ नारी की गरिमा स्थापित की गई है। कवि ने प्रकृति चित्रण द्वारा भी भाव चित्रण को काफी सौन्दर्य दिया है। आलोच्य ग्रन्थ की शृंगार परम्परा ने आदिकाल से होती हुई हिन्दी के भक्तिकाल में सूफी काव्य-परम्परा तक को प्रभावित किया है और रीतिकाल में जाकर इसी प्रवृत्ति का काव्य के रूप में चरम विकास हुआ।

2.3.2.3. हम्मीर रासो

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्राकृत पिंगल सूत्र में कुछ पद्य असली हम्मीर रासो के हैं। 'प्राकृत पैंगलम' में इस काव्य के कुछ छन्द प्राप्त हुए थे जिसके आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस ग्रन्थ के अस्तित्व की परिकल्पना की थी और कवि शारंगधर को इस काव्य का रचयिता माना। लेकिन इसके अस्तित्व पर सन्देह प्रकट करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि शब्द 'हम्मीर' वस्तुतः 'अमीर' शब्द का विकृत रूप है जो किसी पात्र का नाम न होकर एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। इस प्रकार हम्मीर रासो ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

2.3.2.4. परमाल रासो

कालिंजर के राजा परमाल के चारण व राजकवि जगनिक को परमाल रासो का रचनाकार माना गया है। यह ग्रन्थ उत्तरप्रदेश में 'आल्हाखण्ड' नाम से भी प्रचलित एवं लोकप्रिय है। लोकगायकों द्वारा लोक वीरगाथा के रूप में इसका विकास होता रहा है। यही वजह है कि इस ग्रन्थ में अनेक अंश बाद में शामिल किए गए हैं। विषयवस्तु के सन्दर्भ में वस्तुतः इस काव्य में आल्हा और ऊदल नामक दो वीर सरदारों की वीरतापूर्ण लड़ाइयों का वर्णन मिलता है। इसी आधार पर इसका रचना काल तेरहवीं शताब्दी का आरम्भ माना जाता है। विवेचनात्मक सन्दर्भ में वीर भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि लयता एवं गेयता के आधार पर इस काव्य को लोकगाथा काव्य की श्रेणी में शामिल किया सकता है, लेकिन इसकी रचना लोकगाथा के रूप में न होकर विशुद्ध काव्य-रूप में ही की गई है। आलोच्य काव्य की वर्णन क्षमता और प्रभावोत्पादकता के आलोक में निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

बारह बरस लौ कूकर जीवै, अरु तेरह लौ जिये सियार।
बरस अट्ठारह छत्री जिये, आगे जीवन कौ धिक्कार॥

2.3.2.5. पृथ्वीराज रासो

चन्दबरदाई-कृत 'पृथ्वीराज रासो' आदिकाल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य है। कहा जाता है कि चन्दबरदाई पृथ्वीराज चौहान का बालसखा, परामर्शदाता और राजकवि था। रासो के अनुसार पृथ्वीराज को बंदी बनाकर मुहम्मद गोरी अपने देश ले गया। बाद में चन्दबरदाई भी वहाँ गए। चन्दबरदाई ने ऐसी युक्ति निकाली कि मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज के शब्दभेदी बाण से मारा गया। उसके उपरान्त चन्दबरदाई और पृथ्वीराज एक दूसरे को मारकर मर गए। हालांकि यह प्रसंग इतिहास-सम्मत नहीं है।

वैसे अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराज रासो ग्रन्थ को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना है, वहीं गुलाबराय जैसे विद्वानों भी इसे स्वाभाविक विकसनशील काव्य के रूप में मान्यता प्रदान की है। डॉ॰ बिपिनबिहारी ने कतिपय त्रुटियों के होते हुए भी हिन्दी के इस प्रबन्ध काव्य को महाकाव्य के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' की महत्ता एवं विशिष्टता के अनेक कारण हैं; यथा –

i. यह ग्रन्थ राष्ट्रीय भावों को जाग्रत् करने और वीर भावनाओं को अभिप्रेरित करने के निमित्त लिखा गया महाकाव्य है।
ii. पृथ्वीराज रासो में विषय-वस्तुओं का वर्णन व प्रस्तुति बेजोड़ और आकर्षक है। उनमें विविधता, विभिन्नता और सरलता है।
iii. रासो में प्रकृति चित्रण की छटा भी अद्वितीय है।

iv. पृथ्वीराज रासो वीर काव्य है फिर भी उसमें प्रसंगानुसार वीर रूप के साथ ही रौद्र, भयानक, वीभत्स और शृंगार रस का भी प्रभावी वर्णन मिलता है।

v. रसानुकूल अलंकारों के प्रयोग में विविधता के दर्शन होते हैं।

vi. सरस, स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक छप्पयों की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' अद्वितीय है।

vii. इसमें राजस्थानी, ब्रजी, फारसी आदि भाषाओं के शब्दों की बहुलता है। हालांकि एक ही शब्द कई रूपों में लिखे गए हैं; यथा – शैल के लिए सैल, सयल, सइल; एक के लिए इक, इकह, इकि आदि। निस्सन्देह भाटों की विभिन्न पीढ़ियों द्वारा गाए जाने के कारण ऐसी भाषागत अव्यवस्था का मिलना स्वाभाविक है।

2.3.3. लौकिक साहित्य

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में लौकिक साहित्य एवं लोक गीतों की एक विकसित परम्परा रही है जिसमें मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की प्रवृत्तियों को विभिन्न प्रकार के लोक गीत, लोक कहानियाँ, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ आदि के माध्यम से सफल अभिव्यक्ति मिली है। वस्तुतः लोक की भाँति लौकिक साहित्य भी जीवन के पारस्परिक समवाय का बोधक है और उसके आधार पर किसी कालखण्ड की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का विवेचन किया जा सकता है। इस आलोक में आदिकालीन लौकिक साहित्य का अध्ययन एवं विश्लेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

2.3.3.1. ढोला-मारू रा दूहा

ग्यारहवीं शताब्दी में रचित यह एक लोकभाषा काव्य है जो राजस्थान में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इस लौकिक काव्य को सत्रहवीं शताब्दी में कुशलराय वाचक ने कुछ चौपाइयाँ जोड़कर विस्तार दिया। वैसे इसका मूल रूप दोहों में मिलता है। कथ्य के सन्दर्भ में इस काव्य के अन्तर्गत 'ढोला' नामक राजकुमार और 'मारू' नामक राजकुमारी की प्रेम कथा का वर्णन 'दोहा' छन्द में मिलता है। यह लोक प्रसिद्ध प्रेमगाथा आदिकालीन शृंगारी काव्य-परम्परा की एक उल्लेखनीय कड़ी है। वस्तुतः इसमें कच्छवाहा वंश के राजा नल के तीन वर्षीय पुत्र ढोला का विवाह पूंगल के राजा पिंगल की डेढ़ वर्षीय कन्या मारू से कर दिया गया था। जब ढोला बड़ा हो गया तब उसका दूसरा विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से हो गया जिससे मारू दुखी रहने लगी। उसने ढोला के पास विरह सन्देश भिजवाया पर मालवणी ने उस सन्देश को ढोला तक नहीं पहुँचने दिया। अन्त में मारू अपने उद्देश्य में सफल हो गई तथा ढोला से उसका पुनर्मिलन हो गया। इस प्रकार आलोच्य काव्य ग्रन्थ में विरहणी मारू के हृदय की व्यथा का अत्यन्त ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्रेम का सात्विक और सरस रूप इस काव्य में बहुत ही सहज ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। हालांकि संस्कृत के प्रेम काव्यों के आधार पर ही इसमें विरह निरूपण की परम्परा का अनुकरण हुआ है। प्रकृति का चित्रण भी इसमें अभिप्रेरक के रूप में हुआ है।

साहित्यिक अवदान के सन्दर्भ में 'ढोला-मारू-रा दूहा' से जो परम्परा आरम्भ हुई उसी का प्रतिफल बिहारी के शृंगारपरक दोहों (सतसई) में परिलक्षित होता है। 'मारू' के वियोग पक्ष एवं संयोग पक्ष के वर्णन

अत्यन्त भावपूर्ण एवं मार्मिक बन पड़े हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नरोत्तमदास स्वामी और पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे आलोचकों ने 'ढोला-मारू-रा दूहा' के भाव गांभीर्य्य को परिष्कृत लोक रुचि का प्रतीक बताते हुए इसकी प्रशंसा की है।

2.3.3.2. जयचन्द-प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका

आदिकालीन लौकिक साहित्य के आलोक में विशेष रूप से उल्लेखनीय कवि भट्टकेदार ने 'जयचन्द प्रकाश' की रचना की है, जबकि 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' की रचना का श्रेय मधुकर कवि को दिया जाता है। वैसे ये दोनों ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। इन दोनों ग्रन्थों की चर्चा दयालदास द्वारा रचित 'राठौडाँ री ख्यात' नामक कृति में की गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि भट्ट केदार द्वारा रचित 'जयचन्द-प्रकाश' कन्नौज के यशस्वी सम्राट जयचन्द के जीवन चरित को आधार बनाकर लिखा गया महाकाव्य है जिसमें जयचन्द के शौर्य एवं प्रताप का चित्रण मिलता है। इसी प्रकार मधुकर कवि ने जयचन्द के ही जीवन चरित पर 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' लिखी थी। 'राठौड़ाँ री ख्यात' में यह जिक्र है कि इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर दयालदास ने कन्नौज का वृत्तान्त लिखा था। भले ही इन दोनों ग्रन्थों की उपलब्धता न हो किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इनका अवदान अवश्य उल्लेखनीय है।

2.3.3.3. वसन्त विलास

'वसन्त विलास' आदिकालीन लौकिक साहित्य की एक सरस रचना है। सबसे पहले वर्ष 1952 ई. में इसका प्रकाशन 'हाजी मुहम्मद स्मारक ग्रन्थ' में हुआ। इसके प्रथम सम्पादक श्री केशवलाल हर्षादराय ध्रुव थे जिन्होंने 1451 ई. की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसका सम्पादन किया था। इस कृति के रचनाकार के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। इसमें कुल चौरासी दोहों के माध्यम से वसन्त और स्त्रियों पर उसके प्रभाव का बड़ा ही मनोरम चित्रण प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का साहित्यिक अवदान इस रूप में है कि इसने रोडा द्वारा रचित 'राउलवेल' की शृंगारी परम्परा को चरम विकास तक पहुँचा दिया है। उदाहरण देखिए –

इण परि कोइलि कूजइ पूजइ युवति मणोर।
विधुर वियोगिनी धूजइं कूजइ मयण किसोर॥

इस ग्रन्थ को पढ़ने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर के पदों की शृंगार भावना या रीतिकालीन शृंगार भावना किसी पूर्व परम्परा का ही विकास है। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त जैसे विद्वान् इस कृति का समय तेरहवीं शताब्दी ईसवी स्वीकार करते हैं। जहाँ तक इस ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा का सवाल है तो उसे अपभ्रंश मिश्रित ब्रजभाषा माना जा सकता है जिसमें आलंकारिता भी मौजूद है।

2.3.3.4. खुसरो की पहेलियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अमीर खुसरो का रचना काल 1823 ई. के आस-पास का है। उनके द्वारा रचित उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या बीस-इक्कीस ठहरती है जिनमें खालिकबारी, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो-सखुन, गजल आदि प्रमुख हैं। वस्तुतः अमीर खुसरो ने मुख्यतः मनोरंजनपरक साहित्य की रचना की। इतना ही नहीं, खुसरो सुप्रसिद्ध संगीतकार भी थे। यही वजह है कि उनकी रचनाओं में संगीतात्मकता की अनुभूति होती है। खुसरो की भाषा खड़ीबोली का वह स्वरूप है जो आधुनिक खड़ीबोली का है। उनमें उक्ति वैचित्र्य की प्रमुखता है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है कि – "अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अपनी मौलिकता एवं विनोदप्रियता के कारण सदैव स्मरणीय रहेगा।"

खुसरो ने अपनी रचनाओं में बोलचाल की हिन्दी का प्रयोग किया है। उनके काव्य का एकमात्र लक्ष्य जनता का मनोरंजन करना था, इसलिए उन्होंने भाषा को बिना सजाए स्वाभाविक 'आमजन की भाषा' को अपनाया। खुसरो की रचनाओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं; यथा –

पहेली :

एक थाल मोती से भरा,
सबके सिर पर औंधा धरा ॥
चारों ओर वह थाली फिरे,
मोती उससे एक न गिरे ॥

(आकाश)

मुकरी :

मेरा मोसे सिंगार करावत,
आगे बैठ के मान बढ़ावत ॥
बासे चिक्कन न कोउ दिसा,
ए सखि साजन ना सखि सीसा ॥

(दर्पण)

दो-सखुने :

पान सड़ा क्यों ?
घोड़ा अड़ा क्यों ?

(फेरा न था)

ढकोसला :

खीर पकाई जतन से चरखा दिया चला।
आया कुत्ता खा गया बैठी ढोल बजा॥

इस प्रकार भावों की गहनता के आलोक में खुसरो का काव्य भले ही अधिक महत्त्व का न हो, लेकिन सरल, सहज भाषा एवं मनोरंजकता की दृष्टि से उनकी पहेलियाँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य सम्पदा स्वीकार की जा सकती हैं।

2.3.4. गद्य साहित्य

आदिकाल में हिन्दी काव्य-परम्परा के साथ-साथ गद्य साहित्य के क्षेत्र में भी स्फुट प्रयास परिलक्षित होते हैं। इस आलोक में राउलवेल, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण और वर्णरत्नाकर उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

2.3.4.1. राउलवेल

इस कृति का रचयिता रोडा नामक कवि माना जाता है। यह एक शिलांकित रचना है। दसवीं शताब्दी को विद्वानों ने इसका रचना काल स्वीकार किया है। वस्तुतः यह गद्य-पद्य-मिश्रित चम्पू काव्य की प्राचीनतम रचना है। 'राउल' नायिका के नख-शिख वर्णन के प्रसंग में इसकी रचना हुई है। वैसे तो आरम्भ में कवि ने राउल के सौन्दर्य का वर्णन पद्य में किया है और फिर आगे गद्य का प्रयोग किया है।

'राउलवेल' की भाषा में हिन्दी की सात बोलियों के शब्द मिलते हैं, हालांकि राजस्थानी हिन्दी का प्रयोग बहुलता से किया गया है। कवि ने विषय-वर्णन बड़ा ही मनोरम एवं प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। नायिका राउल का शृंगार-वर्णन कवि ने अत्यन्त आकर्षक ढंग से किया है। वह सहज व स्वाभाविक रूप से जितनी सुन्दर है, उसकी साज-सज्जा भी उतनी ही आकर्षक है। इतना ही नहीं, सौन्दर्य के अनुकूल ही उसकी भाव दशा का भी चित्रण मिलता है। रचनाकार रोडा ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करके रूप वर्णन को बड़ा ही प्रभावशाली बना दिया है। रचनाकार ने गद्य में भी अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त विशिष्टता के साथ किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

"एहु गौड़ तुहुं एकु को पनु अउर वर .... को ... तइं सहुं या बालइ। जणुणु मालवीय देसुहि आवंतु आम्बदेउ जाउं (जानूं) आपणा हथिआरहु भूलहू। इहां अम्हारइ दुभगी खौंप हरिउ भइ।"

आलोच्य कृति में भाषा का समाज सापेक्ष रूप ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है।

2.3.4.2. उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण

बारहवीं शताब्दी में पण्डित दामोदर शर्मा ने इस पुस्तक की रचना की थी। पण्डित दामोदर शर्मा महाराज गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित थे । महाराज गोविन्दचन्द्र का शासनकाल 1154 ई. माना गया है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि – " 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इससे बनारस और आस-पास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और उस युग के काव्य-रूपों के सम्बन्ध में भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है।"

इस सन्दर्भ में डॉ॰ मोतीचन्द भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतों का समर्थन करते हैं । आलोच्य कृति में गद्य और पद्य दोनों ही शैलियों का प्रयोग मिलता है जिसमें तत्सम शब्दावली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का पता चलता है । साथ ही, इससे यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दी व्याकरण की ओर भी रचनाकारों ने अपना ध्यान दिया है।

2.3.4.3. वर्णरत्नाकर

इस पुस्तक की रचना मैथिली हिन्दी में हुई है । डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी और पण्डित बबुआ मिश्र के सम्पादन में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से इसका प्रकाशन हुआ । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस ग्रन्थ की रचना चौदहवीं शताब्दी में स्वीकार करते हैं । ज्योतिरीश्वर ठाकुर नामक एक मैथिल कवि ने 'वर्णरत्नाकर' की रचना की थी। इसकी भाषा में कवित्व, आलंकारिता तथा शब्दों की तत्सम बहुलता आदि प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। गद्य में नायिका का वर्णन सम्बन्धी एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"उज्ज्वल कोमल लोहित सम सुंतल सालंकार पंचगुणसम्पूर्ण चरण अकठिन सुकुमार गज हस्त प्राय जानु युगल पीन मंसाले कूर्म्म पृष्ठाकार श्रोणी गम्भीर दक्षिणावर्त मण्डलाकृति नाभि क्षीण सुकुमार वलित तिनि गुणे समन्वित पुष्टि-ग्राह वेकण्य स्याम सदृश सुकुमार सुक्ष्म सुवेष दीर्घ छह गुणे सम्पूर्ण कोमलता । पुन कयिसनि नायिका। कामदेवक नगर अइसन शरीर। निष्कलंक चांद अइसन मुह। कंदल खंजीरी अइसन लोचन। यमुना क तरंग अइसन भुजह।"

प्रस्तुत पंक्तियों के आलोक में 'वर्णरत्नाकर' एक शब्दकोश लगता है, लेकिन सौन्दर्य-चित्रण की प्रतिभा भी साथ-ही-साथ परिलक्षित हो रही है।

हिन्दी गद्य के विकास में 'राउलवेल' के बाद 'वर्णरत्नाकर' का योगदान भी किसी भी मायने में कम नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही इन रचनाओं के बीच की अवधि में भी गद्य रचनाएँ हुई होंगी, यद्यपि वे उपलब्ध नहीं हैं तथापि आदिकालीन गद्य रचनाएँ हिन्दी साहित्य की गद्य-धारा के प्रवाह की अखण्डता को सिद्ध करती हैं।

2.3.5. पाठ-सार

वस्तुतः रासो काव्य-परम्परा, लौकिक साहित्य, गद्य साहित्य के आलोक में आदिकालीन हिन्दी साहित्य भाषा और साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है। भाषिक संरचना एवं विकास के सन्दर्भ में इस काल की रचनाएँ अपनी बोलियों की एकरूपता को बढ़ाकर एकसूत्र में पिरोया है। जीवन के विविध पक्षों का चित्रण आदिकालीन साहित्य की रचनाओं में अत्यन्त सरल एवं प्रभावशाली ढंग से हुआ है।

इतना ही नहीं, परवर्ती हिन्दी साहित्य की कई परम्पराएँ आदिकालीन हिन्दी साहित्य की देन हैं। अनेक काव्यरूप और शिल्पविधान आदिकालीन हिन्दी काव्य (साहित्य) में प्रकट एवं पुष्ट हुए हैं। हालांकि उनके साहित्यिक अवदान का अभी तक सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाया है। चूँकि इस दिशा में विभिन्न विद्वान् भाषा एवं प्रामाणिकता के विवाद में उलझे हुए हैं इसलिए इस दिशा में एक शोधपरक प्रयास की अत्यन्त आवश्यकता है।

2.3.6. शब्दावली

रासो काव्य	:	रस युक्त प्रबन्ध काव्य
युगबोध	:	युग चेतना
लौकिक साहित्य	:	लोक से जुड़ा साहित्य
सम्यक् दृष्टि	:	समेकित दृष्टि

2.3.7. उपयोगी ग्रन्थ सूची

1. पाण्डेय, मैनेजर (1981). साहित्य और इतिहास दृष्टि. वाणी प्रकाशन : नई दिल्ली.
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1980). हिन्दी साहित्य का आदिकाल. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् : पटना.
3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (2005). हिन्दी साहित्य की भूमिका. राजकमल प्रकाशन : नई दिल्ली.
4. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद. हिन्दी साहित्य का अतीत. वाणी प्रकाशन : नई दिल्ली.
5. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर (2009). हिन्दी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन : इलाहाबाद.
6. वर्मा, धीरेन्द्र. हिन्दी साहित्य, भारतीय हिन्दी परिषद् : प्रयाग.

2.3.8. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बीसलदेव रासो काव्य किस प्रकार का काव्य है ?
2. रासो काव्य-परम्परा के राजनैतिक-सामाजिक परिदृश्यों पर प्रकाश डालिए।
3. लौकिक साहित्य से आपका क्या अभिप्राय है ?
4. आदिकालीन प्रमुख लौकिक साहित्यों का उल्लेख कीजिए।

5. आदिकालीन गद्य साहित्य के अवदान पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "रासो काव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।" इस कथन पर युक्तियुक्तविचार प्रकट कीजिए।
2. आदिकालीन लौकिक साहित्य पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'पृथ्वीराज रासो' किसकी रचना है ?

(क) दलपति विजय
(ख) चन्दबरदाई
(ग) सरहपा
(घ) अमीर खुसरो

2. 'बीसलदेव रासो' किस प्रकार का काव्य है ?

(क) प्रबन्ध काव्य
(ख) खण्ड काव्य
(ग) मुक्तक काव्य
(घ) इनमें से कोई नहीं

3. 'परमाल रासो' के रचयिता कौन हैं ?

(क) गोरखनाथ
(ख) जगनिक
(ग) जलंधर
(घ) इनमें से कोई नहीं

4. 'ढोला-मारू रा दूहा' किस प्रकार की रचना है ?

(क) रासो काव्य
(ख) लौकिक काव्य
(ग) भक्तिकाव्य
(घ) उपर्युक्त सभी

5. पण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'हम्मीर रासो' के रचयिता हैं ?

(क) जगनिक
(ख) जज्जल
(ग) भरतमुनि
(घ) शारंगधर कवि

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : आदिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 4 : आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधारसामग्री की साहित्यिकता, प्रामाणिकता तथा काव्य-भाषा

इकाई की रूपरेखा

2.4.00. उद्देश्य
2.4.01. प्रस्तावना
2.4.02. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री
  2.4.02.1. सिद्ध साहित्य
  2.4.02.2. नाथ साहित्य
  2.4.02.3. जैन साहित्य
  2.4.02.4. रासो साहित्य
2.4.03. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री की साहित्यिकता
2.4.04. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री की प्रामाणिकता
2.4.05. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की काव्यभाषा
2.4.06. पाठ-सार
2.4.07. बोध प्रश्न
2.4.08. कठिन शब्दावली
2.4.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.4.00. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री के रूप में विचारणीय रचनाओं और रचनाकारों के बारे में जानकारी हासिल कर सकेंगे।
ii. आदिकाल के अध्ययन के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली रचनाओं की साहित्यिकता और असाहित्यिकता से जुड़े पक्षों पर चर्चा कर पाएँगे।
iii. आदिकाल की साहित्यिक रचनाओं की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर बात कर पाएँगे।
iv. आदिकाल की रचनाओं के एक से अधिक प्राप्त पाठ (हस्तलिखित प्रतियों) के अन्तर को जान पाएँगे।
v. आदिकाल की काव्यभाषा के स्वरूप और विशेषताओं को जान पाएँगे।

2.4.01. प्रस्तावना

i. **सामग्री की साहित्यिकता –** आदिकाल के हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री के रूप में सिद्ध, नाथ, जैन और रासो साहित्य को रखा जाता है। विद्यापति और अमीर खुसरो को इन वर्गीकरणों के बाहर रखकर लोक-विख्यात कवि के रूप में अध्ययन किया जाता है। अल्प मात्रा में उपलब्ध आदिकालीन गद्य का विशेष महत्त्व नहीं है, किन्तु अपनी विधागत दुर्लभता के कारण सदैव उल्लेखनीय है। सिद्ध और नाथ साहित्य की साहित्यिकता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मान्यता नहीं दी, किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोक-साहित्य की विस्तृत अवधारणा के आधार पर इन्हें साहित्यिक मानने पर बल दिया है। शेष आधार सामग्री की साहित्यिकता पर कोई सन्देह प्रकट नहीं किया गया है।

ii. **प्रामाणिकता –** विद्यापति, अमीर खुसरो और जैन साहित्य की प्रामाणिकता पर कोई सवाल नहीं किया गया है; लेकिन सिद्ध, नाथ और रासो साहित्य के उपलब्ध पाठ पर अनेक प्रश्न किए गए हैं। सिद्ध और नाथ साहित्य के लिखित रूप प्रामाणिक नहीं हैं और रासो साहित्य के अनेक पाठ हैं। 'पृथ्वीराजरासो' की उपलब्ध पोथियों में इतना अधिक अन्तर है कि उसके मूल पाठ की सही खोज असम्भव है।

iii. **काव्यभाषा –** आदिकाल में उपलब्ध कविता की भाषा मूलतः अपभ्रंश से मुक्त होती देशी भाषाएँ हैं। क्षेत्र के अनुसार प्रत्येक कवि अपने अपभ्रंश की काव्यभाषा से मुक्त होकर वहाँ प्रयुक्त हो रही देशी भाषा को काव्यभाषा के रूप में अपनाने की कोशिश कर रहा था। फलतः आदिकाल में अपभ्रंश, मैथिली, राजस्थानी, ब्रज, भोजपुरी, मगही, खड़ी बोली, पंजाबी आदि भाषाओं का प्रयोग कविता में मिलता है। आदिकाल की काव्यभाषा इतिवृत्तात्मक, आलंकारिक, अतिशयोक्तिपूर्ण होने के साथ लोकभाषा की विशेषताओं (मुहावरा, चुटीलापन, व्यंग्य, भदेस रुचि आदि) से युक्त है।

2.4.02. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री के रूप में सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य और रासो साहित्य के अलावा अमीर खुसरो और विद्यापति की कविताओं का अध्ययन किया जाता है। अत्यन्त अल्प मात्रा में उपलब्ध गद्य को नमूने के रूप में ही पढ़ा जाता रहा है। यह कालखण्ड मूलतः कविता का है। इस वर्गीकरण को एक-एक कर व्याख्यायित करना उचित होगा।

2.4.02.1. सिद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म की महायान शाखा में आगे चलकर कई रूप सामने आए, जिनमें से एक था 'वज्रयान'। इस सम्प्रदाय में तन्त्र साधना की प्रधानता थी, जिसे सीखने का अधिकार शूद्रों तथा स्त्रियों को भी था। अनेक प्रकार की रहस्यमयी बातों की ताकत से सिद्ध सम्प्रदाय के लोग हिन्दू धर्म के वर्णवादी विचारों-व्यवहारों पर चोट करते थे। यद्यपि बौद्ध धर्म के मूल रूप से ये बहुत दूर आ चुके थे, मगर ब्राह्मण धर्म-विचार से इनके मतभेद पहले से भी तीखे हो गए थे। इसका प्रसार असम, बंगाल, नेपाल से लेकर बिहार तक था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा

है, "चौरासी सिद्ध इन्हीं में हुए हैं जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है।" इनके नाम शुक्लजी ने गिनवाए हैं, मगर इन सभी सिद्धों का साहित्य की दृष्टि से महत्त्व नहीं है। इनमें साहित्य के लिहाज से सरहपा, शबरपा, लुइपा या लुहिपा, विरूपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा, तांतिपा आदि महत्त्वपूर्णहैं। महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस प्रकार हैं –

1. सरहपा – दोहाकोश
2. शबरपा – चर्यापद
3. डोंभिपा – डोंभि-गीतिका, योगचर्या, अक्षरद्विकोपदेश
4. सिद्धों की रचनाओं का संकलन हरप्रसाद शास्त्री के द्वारा बांग्ला लिपि में सम्पादित 'बौद्ध गान ओ दोहा' में मिलता है।
5. राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी-काव्यधारा'(1945) पुस्तक में 8वीं से लेकर 13वीं शताब्दी के सिद्धों की रचनाओं को संकलित और विश्लेषित किया।
6. हरप्रसाद शास्त्री और राहुल सांकृत्यायन के इन संकलनों को सिद्ध साहित्य का प्रमुख स्रोत मानना चाहिए।
7. लुइपा, विरूपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा, तांतिपा आदि की कविताओं को जानने का स्रोत उपयुक्त संकलन हैं।
8. यद्यपि इन कवियों के अनेक ग्रन्थ होने के दावे किए गए हैं, मगर अधिकतर अनुपलब्ध हैं।
9. राहुल सांकृत्यायन ने भोट भाषा (तिब्बत) के ग्रन्थों से इन कवियों की रचनाओं को प्राप्त किया।

सिद्धों की इन उपलब्ध रचनाओं के आधार पर साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने सिद्ध साहित्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है तथा उनके महत्त्व का निर्धारण भी। इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं – पाखण्ड और आडम्बर का विरोध, गुरु-सेवा को महत्त्व, सहज भोग-मार्ग से महासुख की प्राप्ति, माया-मोह का विरोध, रहस्य-भावना, दार्शनिकता आदि।

2.4.02.2. नाथ साहित्य

इसका सम्बन्ध भी वज्रयान शाखा से है। शैव दर्शन और पतंजलि के योग का नाथ साहित्य पर प्रभाव है। हठयोग, अन्तःसाधना, ब्रह्मचर्य, शारीरिक-मानसिक पवित्रता, मद्य-मांस का त्याग, वर्णाश्रम का विरोध आदि नाथ साहित्य की विशेषताएँ हैं। सिद्धों और नाथों के साहित्य और रचनाकारों में कई ऐसे हैं जो दोनों में मौजूद हैं। नाथ पंथ के प्रवर्त्तक गोरखनाथ को 84 सिद्धों की सूची में भी शामिल रखा गया है, यद्यपि सिद्धों के आचरण से इस पंथ की घोर असहमति रही. नाथ पंथ का प्रचास-प्रसार पश्चिमी भारत के पंजाब और राजस्थान में रहा। नाथों की संख्या नौ बताई गई है। गोरखनाथ के अलावा इस पंथ के अन्य कवि हैं – चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्धीपाव आदि। नाथ साहित्य को जानने का आधार कुछ संस्कृत पुस्तकें भी हैं जिनमें 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' (सं. – गोपीनाथ कविराज) प्रमुख है। संस्कृत में लिखित गोरखपंथ की कुछ अन्य पुस्तकें हैं – सिद्ध-सिद्धान्त-

पद्धति, विवेक मार्तण्ड, शक्ति-संगम-तन्त्र, निरंजन पुराण, वैराट पुराण। देशीभाषा (हिन्दी) में गोरखपंथ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनों में हैं। इन पुस्तकों में साहित्य से ज्यादा अपने पंथ के बारे में बात की गई है, जैसे – गोरख-गणेश-गोष्ठी, नरवइ बोध, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी आदि। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की सम्पादित पुस्तक 'गोरखबानी' की अनेक रचनाएँ नाथ साहित्य के अन्तर्गत आती हैं।

2.4.02.3. जैन साहित्य

जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से इस साहित्य का निर्माण किया गया। जैन साधुओं ने साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से अपने मत का प्रचार किया। उत्तर भारत के पश्चिमी भाग (गुजरात, राजस्थान आदि) में इस साहित्य की रचना हुई। इनकी कविताएँ रास, फागु, चरित आदि शैली में रची गईं। अपने तीर्थंकरों और वैष्णव अवतारों की जीवनी को आधार बनाकर चरित्र-प्रधान महाकाव्यों की रचना इन कवियों ने की। इनमें आदर्श की प्रधानता रही। जैन साधु रास शैली में रचित कविताओं का गायन करते थे। जैन साहित्य के प्रमुख रचनाकार और रचनाएँ इस प्रकार हैं –

रचनाकार	रचना	प्रयुक्त भाषा
हेमचन्द्र	सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन	संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश
हेमचन्द्र	द्वयाश्रय काव्य ('कुमारपालचरित' सहित)	प्राकृत, अपभ्रंश
सोमप्रभसूरि	कुमारपालप्रतिबोध (गद्यपद्यमय)	संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश
मेरुतुंग	प्रबन्धचिन्तामणि	अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी
देवसेन	श्रावकाचार	अपभ्रंश
शालिभद्र सूरि	भरतेश्वर बाहुबली रास	अपभ्रंश, देशीभाषा
आसगु	चन्दनबालारास	अपभ्रंश मिश्रित देशीभाषा
जिनधर्मसूरि	स्थूलिभद्ररास	अपभ्रंश मिश्रित देशीभाषा
विजयसेन सूरि	रेवंतगिरिरास	अपभ्रंश मिश्रित देशीभाषा
सुमतिगणि	नेमिनाथरास	अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी

जैन कवियों में स्वयंभू (8वीं सदी) और पुष्पदंत (10वीं सदी) की रचनाओं का उल्लेख आवश्यक है, यद्यपि इनका समय आदिकाल के प्रारम्भ की सीमा से पहले का है। आदिकाल के जैन साहित्य पर इन दोनों महाकवियों का गहरा प्रभाव है। स्वयंभू की तीन रचनाएँ हैं – पउमचरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ, स्वयंभू-छन्द। पुष्पदंत की भी तीन रचनाएँ मिलती हैं – महापुराण, णायकुमारचरित-चरिउ, जसहर-चरिउ।

2.4.02.4. रासो साहित्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'देशभाषा काव्य' के अन्तर्गत रासो साहित्य को रखा है। उन्होंने रासो साहित्य को मुख्य रूप से वीरागाथात्मक माना है । राजा के आश्रय में रहनेवाले कवि अपने राजा के शौर्य, पराक्रम, दानशीलता आदि की प्रशंसा में गाथात्मक कविताएँ लिखते थे। राजसभाओं में सुनाई जानेवाली ऐसी कविताएँ अतिशयोक्तियों से भरी रहती थीं। रासो साहित्य के प्रमुख रचनाकार और रचनाएँ इस प्रकार हैं –

रचनाकार	रचना
दलपतविजय (संदिग्ध)	खुमानरासो
नरपतिनाल्ह	बीसलदेवरासो
चन्दबरदाई	पृथ्वीराजरासो
जगनिक	परमालरासो (आल्हा का मूल रूप)
श्रीधर	रणमल्ल छन्द

इस श्रेणी की कुछ अन्य पुस्तकों की चर्चा हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुस्तकों में मिलती है, जिनमें से अधिकतर अप्राप्य या संदिग्ध या आदिकाल के बाद की हैं, जैसे – विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, जयचन्दप्रकाश, जयमयंक जस चन्द्रिका आदि।

सिद्ध, नाथ, जैन और रासो साहित्य के अलावा विद्यापति और अमीर खुसरो की कविताओं को आदिकाल की आधार सामग्री में शामिल किया जाता है। विद्यापति की पदावली और अमीर खुसरो की पहेलियाँ लोकजीवन में सुनी-सुनाई जाती रही हैं । रोडा (11वीं सदी) की रचना 'ढोला-मारू रा दूहा' लोकप्रसिद्ध (राजस्थान) प्रेमगाथा पर आधारित कविता है। मूल रूप से दोहा छन्द में रचित यह पुस्तक आदिकालीन शृंगार-काव्य-परम्परा को जानने का एक माध्यम है। इन सबसे पता चलता है कि आदिकालीन साहित्य का लोक-जीवन पर प्रभाव था। आदिकाल में गद्य का प्रचलन अत्यन्त कम था। कुछ गद्य रचनाओं का जिक्र साहित्य के इतिहास की पुस्तकों में मिलता है – यथा, राउलवेल (10वीं सदी, रोडा), उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण (12वीं सदी, दामोदर शर्मा), वर्णरत्नाकर (14वीं सदी, ज्योतिरीश्वर ठाकुर)।

आदिकाल का अपभ्रंश साहित्य से गहरा रिश्ता है। भाषा और साहित्य के विकास की दृष्टि से अपभ्रंश का आदिकाल की उपर्युक्त आधार सामग्री पर गहरा असर है, इसलिए आदिकाल के साहित्य के अध्ययन का यह भी अर्थ होता है कि अपभ्रंश की कुछ प्रभावशाली रचनाओं को ध्यान में रखा जाए। उल्लिखित रचनाओं के अलावा कुछ अन्य रचनाएँ हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। धनपाल (10वीं सदी) ने 'भविसयत्तकहा' में चरितकाव्य की नींव डाली, जिसका विकास आदिकाल की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। अब्दुल रहमान (12-13वीं सदी) ने 'सन्देशरासक' में नख-शिख तथा सन्देश काव्य की शृंगारिक प्रवृत्ति को काव्यात्मक ऊँचाई दी। जिनदत्त सूरि (12वीं सदी) ने 'उपदेशरसायन सार' में रास-काव्य की मूल शृंगारिक परम्परा को कविता का आधार

बनाया। रामसिंह (11वीं सदी) ने 'पाहुड़ दोहा' नामक पुस्तक की रचना की, जो दोहा काव्य-परम्परा की पुस्तकों को आदिकाल से रीतिकाल तक आधार प्रदान करती है।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री के रूप में उपर्युक्त रचनाओं और रचनाकारों की विशेषताओं का अध्ययन अपेक्षित है।

2.4.03. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री की साहित्यिकता

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री की साहित्यिकता के बारे में अनेक मतभेद हैं। सिद्धों-नाथों की रचनाओं को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य की कोटि में नहीं मानते थे। केवल दो उद्देश्य से इनका विवरण-विश्लेषण शुक्लजी ने अपनी पुस्तक में रखा है–

(i) देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी से निर्मित सर्वमान्य काव्यभाषा को दिखाने के लिए।

(ii) साम्प्रदायिक (धार्मिक सम्प्रदाय) प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परम्परा को दिखाने के लिए।

इन उद्देश्यों के अनुसार सिद्ध और नाथ साहित्य का परिचय कराने के बाद शुक्लजी लिखते हैं, "ये ही दो बातें दिखाने के लिए इस इतिहास में सिद्धों और योगियों का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।"

इसके विपरीत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने माना है कि धर्म या सम्प्रदाय से जुड़ाव होने के कारण सिद्धों-नाथों या जैन साधुओं की रचनाओं को साहित्य की कोटि से बाहर नहीं रखा जाना चाहिए। उन्होंने लिखा है, "बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक-कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय सन्तों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविच्छिन्न भाव से चली आई है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे, तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दंडवत करके विदा कर देना होगा।"

इन दो इतिहास-दृष्टियों के साथ आदिकाल के साहित्य पर विचार-विमर्श होता रहा है। रासो साहित्य, विद्यापति और अमीर खुसरो के सम्बन्ध में इस तरह के विवाद नहीं हैं। सिद्ध साहित्य लोकभाषा में रचित होने के साथ-साथ जिस सामाजिक-दृष्टि से युक्त है, उससे लम्बे समय तक हिन्दी के आचार्यों की असहमति बनी रही। इन सन्तों-कवियों की धार्मिक दृष्टि पहले से स्थापित मतों के खिलाफ़ थी, अतः असहमति यहाँ भी हो जाती थी। आज हिन्दी साहित्य में जितने प्रकार के वैविध्य उत्पन्न हो गए हैं, उन्हें ध्यान में रखा जाए तो मानना पड़ेगा कि

साहित्य के परिवेश और सीमा में अत्यधिक विस्तार हुआ है। अतः आदिकाल की जिन रचनाओं में साहित्य की सम्भावना दिखाई पड़े, उन्हें साहित्य की कोटि में मान लेना चाहिए तभी उस कालखण्ड की साहित्यिकता का पूरा मूल्यांकन हो पाएगा।

2.4.04. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री की प्रामाणिकता

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री में प्रामाणिकता की अनेक समस्याएँ हैं। ज्यादातर रचनाएँ अपने मूल रूप में मौजूद नहीं हैं। उचित संरक्षण के अभाव में इन रचनाओं की खण्डित प्रतियाँ आज मिल पाती हैं। कुछ रचनाओं की एक से अधिक प्राप्त प्रतियों में पाठ का अन्तर मिलता है और कुछ में आकार का। कुछ रचनाओं के दो-चार छन्द दूसरी पुस्तक में प्राप्त होने के आधार पर उन रचनाओं के बारे में मत निर्धारित किए गए हैं। ऐसी रचनाएँ आज तक अपने स्वतन्त्र रूप में प्राप्त नहीं हुई हैं। अनुमान है कि वे बाद में संरक्षित नहीं रह पाई होंगी। अन्य रचयिताओं ने अपने समय में उन रचनाओं को देख-पढ़कर अपनी पुस्तक में उनका उल्लेख किया होगा. ऐसी पुस्तकों में कुछ रचनाओं का नामोल्लेख तो हुआ, मगर उनका कोई अंश नहीं दिया गया है। अतः आज इन रचनाओं के नाम के अलावा हमें कुछ भी नहीं मालूम है।

सिद्ध-साहित्य लिखित से ज्यादा मौखिक रूप में सुना-सुनाया गया। इसके लिखित रूप के संरक्षण की समस्या गम्भीर रही, क्योंकि इसके रचयिता और श्रोता समाज के साधनहीन वर्गों से आते थे। वे इतने साधन-सम्पन्न नहीं थे कि इस साहित्य को उचित तरीके से लिपिबद्ध करके लम्बे समय तक अविकल रूप से संरक्षित रख सकें। रासो-साहित्य के रचयिता कवियों में ज्यादातर भाट-चारण थे, जिनके परिवार में विरासत की तरह इस पेशे को अपनाया जाता था। इसके कारण परिवार के प्रयास से ये रचनाएँ सुरक्षित रहीं, मगर आगे की पीढ़ी ने इन रचनाओं में अपनी तरफ से बहुत कुछ जोड़ कर प्रक्षेप की समस्या पैदा की। आदिकाल में ऐसी अनेक रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में कई शताब्दियों का विस्तार है अर्थात् प्रक्षेप के कारण बाद की भाषा प्रयुक्त हो गई है। इस मामले में जैन साहित्य सर्वाधिक सुरक्षित रूप में हमें प्राप्त हुआ है। जैन समाज और मन्दिर साधन-सम्पन्न थे, अतः इनसे जुड़े साहित्य को अविकल रूप से सुरक्षित रखा गया। अमीर खुसरो की रचनाएँ प्रामाणिकता की समस्या से मुक्त हैं। विद्यापति की पदावली लम्बे समय तक बांग्ला लिपि में संरक्षित रहीं, बाद में उसका लिप्यंतरण हिन्दी में हुआ। इस तरह, हम कह सकते हैं कि आदिकालीन हिन्दी साहित्य का बड़ा हिस्सा अप्रामाणिकता की समस्या से ग्रस्त है, जिसके महत्त्वपूर्ण पक्षों को बिन्दुवार रखा जा सकता है –

i. सिद्धों की रचनाओं का पहला संस्करण हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा' बांग्ला लिपि में प्रकाशित कराया था। इनके बाद राहुल सांकृत्यायन ने भोट भाषा में लिपिबद्ध सिद्ध साहित्य को 'हिन्दी-काव्यधारा' (1945) नाम से हिन्दी में प्रकाशित कराया। इस तरह, सिद्ध साहित्य हमें मुख्य रूप से इन दो स्रोतों से पढ़ने को मिलता है – मौखिक परम्परा और भोट भाषा. मौखिक परम्परा में होने के कारण सिद्ध साहित्य में प्रक्षेप और भाषा-संशोधन की सम्भावना बढ़ जाती है। भोट भाषा से पुनः हिन्दी में काव्यान्तरण का अर्थ यह हुआ कि इससे सिद्धों के भाव और विचार को तो जाना जा सकता है, मगर

उनकी मूल कविता तक नहीं पहुँचा जा सकता है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि उपलब्ध सिद्ध साहित्य को सिद्ध कवियों की मूल रचना मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

ii. दलपतविजय की रचना 'खुमानरासो' का उपलब्ध रूप 17वीं सदी का है अर्थात् आदिकाल की सीमा से बाहर का है।

iii. नरपति नाल्ह की रचना 'बीसलदेव रासो' को मोतीलाल मेनारिया ने 16वीं सदी की रचना माना है। चारण कवि अपनी रचनाओं की भाषा में पुरानापन दे दिया करते थे, इसलिए लिखित रूप में उपलब्ध होने के बावजूद ऐसी रचनाएँ भाषा की दृष्टि से पुरानी मालूम होते हुए भी उतनी पुरानी नहीं होती थीं।

iv. शारङ्गधर की रचना 'हम्मीर रासो' आज तक प्राप्त नहीं हुई है। 'प्राकृतपैंगलम्' में इसके कई छन्द मिलने की जो बात शुक्लजी ने कही थी। उसका विवेचन करते हुए द्विवेदीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह स्पष्ट नहीं है कि उपर्युक्त छन्द शारङ्गधर के हैं। राहुल संकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-काव्यधारा' में इन छन्दों को जज्जल कवि की रचना माना है। द्विवेदीजी की आपत्ति है कि 'प्राकृतपैंगलम्' में बब्बर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों का रचनासहित उल्लेख है, तो इनका विवेचन भी होना चाहिए।

v. भट्ट केदार (दो कवि) की दो रचनाओं (जयचन्दप्रकाश, जयमयंक जस चन्द्रिका) का उल्लेख 'राठौडां री ख्यात' (सिंघायच दयालदास-कृत) में मिलता है, मगर ये दोनों रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इन दोनों कवियों की चर्चा अन्य पुस्तकों में भी मिलती है। इन्हें मुहम्मद गोरी के दरबार का कवि बताया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये दोनों कवि प्रामाणिक रूप से आदिकाल में मौजूद थे, मगर इनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो पाई हैं।

vi. चन्दबरदाई के महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता के बारे सर्वाधिक विचार हुआ है। यह पुस्तक हिन्दी का पहला महाकाव्य कही जाती है। इसके साथ अनेक विवादास्पद प्रकरण जुड़े हुए हैं। 'पृथ्वीराजरासो' के चार रूप उपलब्ध हैं –

(i) इसमें 69 समय (खण्ड) तथा 16306 छन्द हैं। इसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी से हुआ है। यह सबसे बड़ा संस्करण है।

(ii) इसमें 7000 छन्द हैं। इसका प्रकाशन नहीं हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ अबोहर तथा बीकानेर में सुरक्षित हैं।

(iii) इसमें 19 समय तथा 3500 छन्द हैं। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर में सुरक्षित हैं।

(iv) इसमें केवल 1300 छन्द हैं।

इन चार रूपों के कारण इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध तो हो ही जाती है, साथ ही, यह समस्या खड़ी होती है कि इस लोक प्रसिद्ध महाकाव्य के साहित्यिक महत्त्व के बारे में क्या राय बनायी जाए। इसकी प्रामाणिकता के बारे में जो विचार उपलब्ध हैं, उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है –

1. **प्रामाणिक :** श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, कर्नल टॉड आदि विद्वानों ने बनारस से प्रकाशित संस्करण को प्रामाणिक माना है।

2. **अप्रामाणिक :** रामचन्द्र शुक्ल, श्यामलदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बूलर, मुंशी देवीप्रसाद आदि ने इस पुस्तक को अप्रामाणिक माना है।
3. **अर्द्धप्रामाणिक :** हजारीप्रसाद द्विवेदी का तर्क है कि यह ग्रन्थ निश्चित रूप से रचा गया था, मगर प्रक्षिप्त (बाद में जोड़ा हुआ) अंश के कारण इसके मूल स्वरूप को लेकर भ्रम खड़ा हुआ है। इसके प्रामाणिक और अप्रामाणिक अंश को ठीक-ठीक अलग कर पाना अब सम्भव नहीं है इसलिए इसे न तो पूरी तरह प्रामाणिक कहा जा सकता है और न ही अप्रामाणिक। ऐसी स्थिति में 'पृथ्वीराजरासो' को अर्द्धप्रामाणिक कहना उचित है। मुनि जिनविजय और सुनीतिकुमार चटर्जी भी इससे सहमत हैं।

'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता को इतिहास की कसौटी पर भी कसने की कोशिश की गई है। इतिहास के तथ्यों से इस महाकाव्य के तथ्यों में भिन्नता को देखते हुए कई प्रकार के निष्कर्ष निकाले गए हैं। यहाँ ध्यान रखने की जरूरत है कि यह एक साहित्यिक पुस्तक है, इसे इतिहास की कसौटी पर नहीं कसा जाना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इसकी भाषा को 'बेठिकाने' (व्याकरण की व्यवस्था का अभाव) की बताया है। समय और स्थान से इसकी भाषा का तालमेल नहीं है अर्थात् संस्कृत-प्राकृत की नक़ल से लेकर अपभ्रंश और सत्रहवीं सदी की भाषा तक का इसमें इस्तेमाल हुआ है। शुक्लजी ने लिखा है कि "भाटों के इस वाग्जाल के बीच से असली अंश को निकालना असम्भव है"। फिर भी, हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस तर्क में दम है कि यह पुस्तक तथा इसके कवि चन्दबरदाई के मौजूद होने के प्रामाणिक साक्ष्य होने के कारण इस पुस्तक को छोड़ देना उचित नहीं है। उन्होंने शुक-शुकी-संवाद से जुड़े अंशों को प्रामाणिक मानने की एक युक्ति सुझाई है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री का बड़ा हिस्सा अपने मूल रूप में आज उपलब्ध नहीं है। लोक-परम्परा में संरक्षित होने के कारण इसमें कुछ न कुछ बदलता रहा है। यद्यपि लिखित रूप में प्राप्त साहित्य भी पाठ-भेद की सम्भावनाओं से युक्त है। जैन साहित्य सर्वाधिक प्रामाणिक और मूल रूप में प्राप्त हो सका है।

2.4.05. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की काव्यभाषा

आदिकाल का साहित्य काव्य-भाषा की दृष्टि से सम्पन्न है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषा का प्रयोग इस कालखण्ड की कविताओं में मिलता है। नाथ साहित्य का बड़ा हिस्सा संस्कृत में रचित है, जिसे हम हिन्दी साहित्य में शामिल नहीं करते हैं, लेकिन इसका जो हिस्सा हिन्दी में रचित है उस पर संस्कृत का गहरा असर है। भाट और चारण की परम्परा में रचित रासो ग्रन्थों में प्राकृतमिश्रित देशी भाषा का उपयोग हुआ है। विद्यापति अपनी भाषा को 'अवहट्ठा' कहते हैं जो अपभ्रंश है। दिल्ली में रहकर कविता रच रहे अमीर खुसरो ने ब्रज और खड़ी बोली का अद्भुत प्रयोग किया है। जैन साहित्य में अपभ्रंश का ज्यादा प्रयोग हुआ है। सिद्धों ने बड़े क्षेत्र में समझे जाने लायक जनभाषा को काव्यभाषा में ढालने का ऐतिहासिक काम किया, आगे चलकर कबीर आदि सन्तकवियों की काव्यभाषा को बुनियाद यहीं से मिली। एक साथ इतनी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी साहित्य के

इतिहास के किसी दूसरे कालखण्ड में नहीं मिलता है। काव्यभाषा की विविधता की दृष्टि से आदिकाल अत्यन्त समृद्ध है।

आदिकाल की काव्यभाषा के एक रूप को शुक्लजी ने 'सधुक्कड़ी' कहा है, "इस प्रकार नाथपंथ के इन जोगियों ने परम्परा साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।" आदिकाल की काव्य-भाषा का बड़ा हिस्सा कई भाषाओं के मिश्रण से बना है, ऐसा प्रयोग बाद के कालखण्ड की कविताओं में कम ही दिखाई पड़ता है।

सिद्धों की काव्य-भाषा के बारे में शुक्लजी यह टिप्पणी देखने योग्य है, "सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण कुछ पूरबी प्रयोग भी (जैसे, भइले, बूड़िलि) मिले हुए हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य-भाषा का ढाँचा शौरसेनीप्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली (पश्चिमी हिन्दी) का था।" इस तरह सिद्धों की कविताओं में ब्रज, खड़ी बोली, मगही, भोजपुरी आदि से निर्मित ऐसी काव्य-भाषा का प्रयोग मिलता है जो बिहार से लेकर गुजरात-राजस्थान तक समझी जा सके। आगे चलकर हिन्दी का जो रूप 'मध्यदेश' में विकसित हुआ उसके काव्यात्मक रूप की झलक सिद्धों की भाषा में मिलती है।

जैन साहित्य की काव्य-भाषा में अपभ्रंश की मात्रा अधिक है। इसकी भाषा का विश्लेषण करते हुए शुक्लजी लिखते हैं, "अपभ्रंश की कविताओं के जो नए-पुराने नमूने अब तक दिए जा चुके हैं, उनसे इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि काव्य-भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से कितनी बँधी हुई चलती रही। बोलचाल तक के तत्सम संस्कृत शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाताहै।"

रासो साहित्य की काव्य-भाषा में कुछ भिन्न प्रयोग मिलते हैं। इसमें 'डिंगल' तथा 'पिंगल' शैली की प्रमुखता दिखाई पड़ती है। इस दौर में ब्रज और खड़ी बोली को मिला-जुलाकर बनने वाली काव्य-भाषा का प्रयोग साहित्य की सामान्य भाषा के रूप में होता था। इसमें क्षेत्र के अनुसार कवि अपनी भाषा का भी मिश्रण कर लिया करते थे, मगर प्रधानता ब्रज और खड़ी बोली की बनी रहती थी। रासो साहित्य में प्रयुक्त काव्य-भाषा के इस रूप को 'पिंगल' कहा जाता था। इसमें अरबी, फारसी और तुर्की भाषा के शब्द भी मिलते हैं। 'डिंगल' शैली के निर्माण में अपभ्रंश और शुद्ध राजस्थानी भाषा के साहित्यिक रूप की भूमिका रहती थी। शुक्लजी ने 'डिंगल' में रचित ग्रन्थों को हिन्दी साहित्य के इतिहास में विचारयोग्य नहीं माना है, "अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था वह 'डिंगल' कहलाता था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल पिंगल भाषा में लिखे हुए ग्रन्थों का ही विचार कर सकते हैं।"

अमीर खुसरो ने 'पश्चिम की बोलचाल, गीत और मुखप्रचलित पद्य' (आचार्य शुक्ल) की भाषा का उपयोग अपनी कविताओं में किया। इनकी कविताओं में खड़ी बोली और ब्रज का उपयोग अत्यन्त सहज रूप में मिलता है। भाषा के साहित्यिक रूप के बजाए जनभाषा को कविता बनाने की कोशिश अमीर खुसरो की उपलब्धि है। यही काम विद्यापति ने पूरब की भाषा की सहायता से किया। जन-जन में अपनी कविता को पिरोने की बेमिसाल ताकत विद्यापति की काव्य-भाषा में है। मिथिला से लेकर बंगाल के कुछ भीतर तक विद्यापति की कविता को व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई. लम्बे समय तक यह बहस चली कि विद्यापति बांग्ला भाषा के कवि हैं। उनकी पदावली बांग्ला की लिपि में प्रकाशित भी हुईथी।

2.4.06. पाठ-सार

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री विस्तृत है। इसे मुख्य रूप से छह भागों में बाँटा गया है – सिद्ध, नाथ, जैन, रासो, जनप्रचलित और गद्य साहित्य। सिद्धों का साहित्य प्रायः मौखिक परम्परा का साहित्य है, इसका लिखित रूप भी मौजूद है। नाथ और जैन साहित्य अपने लिखित रूप में मौजूद है। रासो साहित्य पाठ-भेद के कारण अप्रामाणिकता की समस्या से ग्रस्त है। जन-जन के बीच प्रसिद्ध अमीर खुसरो और विद्यापति की कविताएँ आदिकाल की विशेष उपलब्धि हैं। धार्मिकता और अपने सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के आग्रह के कारण आदिकाल के साहित्य का एक बड़ा भाग साहित्यिक गुणों से रहित है। सिद्धों-नाथों की कविताएँ सामाजिक विषयों के प्रति इतनी आग्रहशील और तर्कप्रधान हैं कि उनकी साहित्यिकता कमतर मालूम पड़ती है। मौखिक परम्परा, पाठ-भेद और प्रक्षेप के कारण आदिकाल का साहित्य अप्रामाणिकता के संकट से सदैव गुजरता रहाहै। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषाओं के विविधतापूर्ण प्रयोग के कारण इस साहित्य की काव्य-भाषा के अनेक रूप हैं। हिन्दी क्षेत्र के पूरब से लेकर पश्चिम के बीच काव्य-भाषा के कई रूप इस युग में मिलते हैं। इसी के साथ इस बड़े क्षेत्र में समझी जाने लायक काव्य-भाषा के नमूने भी आदिकाल की कविता में मौजूद हैं।

2.4.07. बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की आधार सामग्री का निर्धारण कीजिए।
2. आदिकाल के अध्ययन की सामग्री की साहित्यिकता पर विचार कीजिए।
3. आदिकाल का साहित्य प्रामाणिकता की कसौटी पर कैसा है ? विवेचन कीजिए।
4. आदिकाल की काव्य-भाषा के वैविध्य पर विचार कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पिंगल से आप क्या समझते हैं ?
2. डिंगल से आप क्या समझते हैं ?

3. विद्यापति और अमीर खुसरो की काव्य-भाषा की विशेषताएँ बताइए।
4. पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता पर विचार कीजिए।
5. सिद्ध साहित्य की साहित्यिकता के बारे में अपने विचार प्रकट कीजिए।

2.4.08. कठिन शब्दावली

मध्यदेश	:	हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र को हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्यदेश कहा है।
पोथियाँ	:	हस्तलिखित पुस्तकें
प्रक्षेप	:	मूल पुस्तक में दूसरे के द्वारा जोड़ा गया अंश
पिंगल	:	ब्रज और खड़ी बोली मिश्रित काव्य-भाषा
डिंगल	:	अपभ्रंश और शुद्ध राजस्थानी के साहित्यिक रूप के मिश्रण से बनी काव्य-भाषा
पुरानी हिन्दी	:	अपभ्रंश मिश्रित देशी भाषा
शुक-शुकी-संवाद	:	वक्ता और श्रोता की शैली में कविता रचने की पद्धति हुआ करती थी। महाकाव्य की पूरी कथा वक्ता सुनाता था और श्रोता न केवल सुनता था, बल्कि बीच-बीच में प्रश्न भी करता था। 'पृथ्वीराजरासो' में शुक (नर तोता) वक्ता है और शुकी (मादा तोता) श्रोता। 'रामचरितमानस' की रचना भी वक्ता-श्रोता शैली में हुई है।
सधुक्कड़ी भाषा	:	खड़ी बोली और राजस्थानी के मेल से निर्मित काव्यभाषा, जिसका उपयोग सिद्धों-नाथों की कविता में हुआ है।

2.4.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी. वाराणसी : नागरीप्रचारिणी सभा.
2. द्विवेदी,आचार्य हजारीप्रसाद. हिन्दी साहित्य का आदिकाल. पटना : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्.
3. नगेन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. नोएडा : मयूर पेपरबैक्स.

2.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (सं.2047 वि.). हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी. नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी. पृष्ठ संख्या : 05
2. वही, पृष्ठ संख्या : 12
3. द्विवेदी,आचार्य हजारीप्रसाद (1980 ई.). हिन्दी साहित्य का आदिकाल. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना- 4. पृष्ठ संख्या : 11

4. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (सं.2047 वि.). हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी. नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी. पृष्ठ संख्या :11
5. वही, पृष्ठ संख्या : 12
6. वही, पृष्ठ संख्या : 16
7. वही, पृष्ठ संख्या : 21

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : भक्ति-आन्दोलन का उदय, तत्त्व-दृष्टि एवं जीवन-दर्शन

इकाई – 1 : भक्ति-आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप और अन्तःप्रादेशिक वैशिष्ट्य, भक्ति-आन्दोलन और लोक-जागरण

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य
3.1.1. प्रस्तावना
  3.1.1.1. भक्ति-आन्दोलन की स्थानीय विशेषताएँ
  3.1.1.2. भक्ति-आन्दोलन और लोकजागरण
3.1.2. भक्ति-आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप
  3.1.2.1. दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन
  3.1.2.2. महाराष्ट्र का भक्ति-आन्दोलन
  3.1.2.3. पूर्वी प्रान्तों में भक्ति-आन्दोलन
  3.1.2.4. उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन
  3.1.2.5. अन्य प्रान्तों में भक्ति-आन्दोलन
3.1.3. भक्ति-आन्दोलन का अन्तःप्रादेशिक वैशिष्ट्य
3.1.4. भक्ति-आन्दोलन और लोकजागरण
  3.1.4.1. मानुष सत्य और लोकजागरण
  3.1.4.2. वर्णव्यवस्था की अस्वीकृति और लोकजागरण
  3.1.4.3. स्त्री जाग्रति और लोकजागरण
  3.1.4.4. प्रेमाभिव्यक्ति और लोकजागरण
  3.1.4.5. लोकभाषा और लोकजागरण
3.1.5. पाठ-सार
3.1.6. बोध प्रश्न
3.1.7. उपयोगी ग्रन्थ सूची
3.1.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.1.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भक्ति-आन्दोलन के अखिल भारतीय स्वरूप को समझ पाएँगे, उसके विस्तार और फैलाव का जान पाएँगे।
ii. भक्ति-आन्दोलन के अन्तःप्रादेशिक वैशिष्ट्य से परिचित होने के साथ-साथ भक्ति-आन्दोलन और लोकजागरण की अवधारणा को समझ पाएँगे।

3.1.1. प्रस्तावना

मध्यकाल में हमारे देश में भक्ति-आन्दोलन ऐतिहासिक आन्दोलन के रूप में उभरा। दक्षिण भारत से आरम्भ हुआ यह आन्दोलन धीरे-धीरे पूरे देश में फैल गया। इस आन्दोलन का सम्बन्ध भारत की प्रायः समस्त आधुनिक भाषाओं से रहा है। भक्ति के साथ-साथ इस आन्दोलन का गहरा सरोकार सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। भक्ति-आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसने भाषाई दीवारों को तोड़ दिया। दक्षिण के भक्तकवियों ने उत्तर भारत की यात्रा की और उत्तर भारत के भक्तकवियों ने दक्षिण भारत की। इन भक्तकवियों की आवाजाही ने भक्ति-आन्दोलन की गति को तो तेज किया ही, साथ ही भाषा सम्बन्धी संकीर्णता को भी दूर किया। बांग्लाभाषी चैतन्य को उड़ीसा ने हाथों-हाथ लिया तो मैथिली भाषी विद्यापति को बांग्ला के भक्तकवियों ने आदर सहित स्वीकार किया। दक्षिण भारत से आए आचार्य रामानन्द ने तो सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति का परचम लहराया ही। इसमें दो राय नहीं कि देश की आधुनिक भाषाएँ भक्ति-आन्दोलन के कारण जीवन्त, लोकप्रिय और बलवान हुई।

3.1.1.1. भक्ति-आन्दोलन की स्थानीय विशेषताएँ

भक्ति-आन्दोलन के इस अखिल भारतीय स्वरूप में ध्यान देने की बात यह है कि इसकी मूल सम्वेदना लगभग एक-सी है। सभी स्थानों पर भक्ति को रूढ़ियों, आडम्बरों और धार्मिक अनुष्ठानों से मुक्त कर सहज, सरल भक्ति की प्रस्तावना ही भक्ति-आन्दोलन का मूल स्वर है। लेकिन इस मूल सम्वेदना या प्रेरणा को सुरक्षित रखते हुए अलग-अलग प्रदेशों और स्थानों पर भक्ति-आन्दोलन की अपनी आन्तरिक विशेषताएँ भी मौजूद रहीं हैं। यह विशिष्टताएँ प्रदेश विशेष की संस्कृति और भाषा की बहुलता के कारण देखने को मिलती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही विशिष्टताएँ भक्ति-आन्दोलन को अनूठा बनाते हुए उसे विविधता और व्यापकता प्रदान करती हैं।

3.1.1.2. भक्ति-आन्दोलन और लोकजागरण

भक्ति-आन्दोलन को विद्वानों ने लोकजागरण की संज्ञा दी है, क्योंकि पहली बार आम आदमी की चेतना के दर्शन भक्ति-आन्दोलन में ही होते हैं। निम्न जाति के लोगों तथा स्त्रियों को अपनी हीन और दीन दशा का बोध होता है। यह अकारण नहीं है कि भक्ति-आन्दोलन में निम्न जाति के भक्तकवियों का अद्‌भुत उन्मेष होता है। सामाजिक दमन से मुक्ति की आकांक्षा भक्ति-आन्दोलन से जुड़े कवियों की कविताओं में सहज रूप से देखने को मिलती है इसलिए भक्ति-आन्दोलन को कुछ विद्वानों ने पुनर्जागरण की संज्ञा दी है तो कुछ विद्वानों ने लोकजागरण की।

3.1.2. भक्ति-आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप

श्रीमद्भागवत में कुछ श्लोक हैं जो भक्ति-आन्दोलन के अखिल भारतीय स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है –

उत्पन्ना द्राविणे साहं वृद्धिं कर्नाटके गता।
क्वचित्क्वचिद् महाराष्ट्रे गुजरे जीर्णतां गता।
तत्र घोरे कलेयोगात पाखण्डे खण्डिताक का।
दुर्बलाहं चिरंयाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्।
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनैव सरूपिणी।
जातां युवती, सम्यक् श्रेष्ठरूपा तु सांप्रतम्।

उक्त श्लोक का सन्दर्भ यह है कि नारद ने एक दिन यमुना नदी के किनारे एक तरुणी के पास दो जीर्ण-शीर्ण वृद्धों को देखा। परिचय पूछने पर तरुणी बताती है – मैं भक्ति हूँ। ये दोनों मेरे पुत्र हैं। इनके नाम ज्ञान और वैराग्य हैं। काल के प्रभाव से ये दोनों ही जर्जर हो गए हैं। मेरा जन्म द्रविण देश में हुआ है। मेरा लालन-पालन कर्नाटक में हुआ। वहाँ पर मैं बड़ी हुई। महाराष्ट्र में पहुँचकर कुछ जीर्ण हुई, गुजरात में और कुछ जीर्ण हुई। यह कलियुग के पाखण्ड का प्रभाव है। मैं अपने पुत्रों के साथ दुर्बल हो गई किन्तु यहाँ वृन्दावन में आते ही मैं तो पुनः तरुणी हो गई किन्तु मेरे ये दोनों पुत्र वैसे ही हैं। इसी कारण दुखी हूँ। विद्वानों का अनुमान है कि इस भागवत महापुराण का रचयिता कोई तमिल प्रदेश का दक्षिणात्य होगा। इसका रचनाकाल 9वीं या 10वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। उक्त श्लोक से भक्ति-आन्दोलन के एक प्रवाह की जानकारी प्राप्त होती है। इसी श्लोक को पुष्ट करता हिन्दी में भी एक अत्यन्त लोकप्रिय दोहा है –

भक्ति द्राविणी ऊपजै जाए रामानन्द।
परगट कियो कबीरने सप्तद्वीप नवखण्ड।

इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन के अखिल भारतीय स्वरूप का आरम्भ दक्षिण भारत से हुआ, इसमें मत-भिन्नता नहीं है। भारतवर्ष में भक्ति का उत्स या इसकी जड़ दक्षिण भारत में समायी हुई है।

3.1.2.1. दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन

वैष्णव भक्ति का आकर ग्रन्थ भागवत पुराण को माना जाता है किन्तु इस ग्रन्थ की रचना से पहले ही आलवार सन्तों ने वैष्णव भक्ति के गीत मुक्त कण्ठ से गाने शुरू कर दिए थे। द्रविण भाषा में सन्तों को 'आलवार' कहते हैं, जिस शब्द का अर्थ है – 'मग्न'। "ये सन्त भगवान के प्रेम में मगन रहते हैं। ये नित्यसूरियों के अंश कहलाते हैं जो (नित्यसूरि) भूषण, अस्त्र रूप में वैकुण्ठ में श्रीमन्नारायण का गुणानुभव और सेवा करते हैं। ये संसारी जीव के उद्धार के लिए परमात्मा की आज्ञा से अवतरित हैं और पूर्ण ज्ञान तथा भक्ति से सम्पन्न होते हैं। (दिव्य प्रबन्धम्, भाग-1, सम्पादक - राममनोहर तोमर, विश्वभारती, प्रथम संस्करण 1989, पृष्ठ सं. 10) आलवार

की वाणियों का रचनाकाल ईसवी सन् की पाँचवीं शती से आरम्भ होता है। दक्षिण भारत के मध्ययुग में पाँचवीं-छठी से ग्यारहवीं शताब्दी धर्म की जाग्रति का काल माना जाता है। उत्तर भारत की भाषाओं में भक्ति-आन्दोलन का प्रवाह पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती से आरम्भ हुआ। उत्तर भारत से लगभग हजार वर्ष पहले ही दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन की अनुगूँज आरम्भ हो गई थी।

दक्षिण भारत के लिए पाँचवीं-छठी शताब्दी एक धार्मिक उथल-पुथल की शताब्दी है। इसी समय सभी धर्म उदारता के आधार पर एकजुट होने लगते हैं और भक्ति एक जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट होती है। यही समय है जब शैव भक्त नायनार और वैष्णव भक्त आलवार का भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश होता है। नायनार भक्त शिव के आराधक होते हैं और शिव भक्ति में उनकी गहरी आस्था होती है। तमिल भाषा में 'पेरिय पुराण' में तिरसठ नायनार सन्तों की भगवान शंकर के प्रति विलक्षण भक्ति का परिचय मिलता है। शैव सन्त 'शैव समयाचार्य' के नाम से जाते हैं। शिव की लीलाओं का वर्णन इनके 'तैवरम' नामक ग्रन्थ में मिलता है। यालपन नायनार, कण्णप्प आदि प्रसिद्ध नायनार सन्तकवि हैं। नायनार निष्काम सेवा में विश्वास करते हैं, वे भक्त की सेवा को भगवान की ही सेवा समझते हैं।

दक्षिण भारत में वैष्णव सन्त 'आलवार' के नाम से जाने जाते हैं। यहाँ के दार्शनिक सन्त आचार्य की श्रेणी में आते हैं। भक्ति-आन्दोलन में सन्तों एवं आचार्यों दोनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इन आलवारों की संख्या बारह मानी गई है। इन आलवार सन्तों की वाणियों का संग्रह 'दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से जाना जाता है, जिसमें लगभग चार हजार पद्यात्मक स्तुतियाँ हैं। इसे तमिल भाषा का वेद भी कहा जाता है। श्री विष्णुचित्त पेरि-आलवार, तिरुमंगैयालवार, कुलशेखर आलवार, तिरुप्पनालवार, श्री पोगए आलवार, भूत्तालवार, पेयालवार, नाम्मलवार, श्री मधुर कवि आलवार, श्री विप्रनारायण आलवार, भक्तिमती आंडाल आदि आलवार सन्त हैं। दक्षिण भारत में भक्ति का स्वरूप दर्शन और शास्त्रीय कम, भावमूलक अधिक था, जिसे सर्व ग्राह्य बनाने के लिए 'लोकभाषा' का उपयोग किया गया था। "मध्ययुगीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में 'मधुरोपासना' का जो प्रचलन रहा, उसके मूल में आलवार प्रतिपादित मधुर-भक्ति-भावना परिलक्षित होती है। उपलब्ध भक्ति साहित्य में प्रथम बार आलवारों ने ही मधुर भक्ति के सुन्दर गीत रचे हैं।" (हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, 2003, नई दिल्ली, पृ. सं. 126) काफी समय तक इन भक्ति गीतों का प्रचलन मौखिक रूप में होता रहा, नौवीं शताब्दी में आचार्य नाथमुनि ने इसका संकलन किया।

भक्ति-आन्दोलन को तमिल प्रदेश के बाहर ले जाने का श्रेय वहाँ के आचार्यों को है, जिन्होंने भक्ति की दार्शनिक एवं शास्त्रीय भूमिका प्रस्तुत की। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का काल इन्हीं आचार्यों का है। इनकी भूमिका जहाँ शास्त्रीय विवेचन की है वहीं भक्ति गीत रचनाकार भक्तों की। इसी युग में श्री सम्प्रदाय का गठन हुआ जो आगे चलकर बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। वैष्णव मठों एवं मन्दिरों ने भी भक्ति-आन्दोलन के प्रसार में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

तमिल प्रदेश के निकट तेलुगु प्रदेश में मौलिक रूप से भक्ति-आन्दोलन उत्पन्न नहीं हुआ, वरन् आलवार भक्ति-गीतों के अनुवाद के क्रम में हुआ। बाद में श्री रामानुजाचार्य के प्रभाव के कारण वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार कर्नाटक प्रदेश में हुआ। तेरहवीं शताब्दी के कृष्णाचार्य तेलुगु के प्रथम कवि हैं, जिन्होंने 'वचन' और 'विष्णप्प' लिखकर 'कीर्तन' साहित्य की नींव डाली। इसके बाद वैष्णव साहित्य मुख्यतः पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद लिखा गया। इसी प्रकार की स्थिति मलयालम में भी दिखाई देती है, जिसका विकास अन्य द्रविण समूह की भाषाओं की अपेक्षा कुछ देर से हुआ। यहाँ भी भक्ति साहित्य तेरहवीं शताब्दी के बाद अस्तित्व में आया और उस पर तमिल के 'दिव्यप्रबन्धम्' का बहुत अधिक प्रभाव है।

कन्नड़ भाषा में भी भक्ति-आन्दोलन की नींव अत्यन्त मजबूत रही है। यहाँ आकर वैष्णव भक्ति के विकास में 'विठोबा' नाम जुड़ जाता है। डॉ॰ भण्डारकर का मानना है कि विट्ठल मूलतः कर्नाटक की कल्पना है। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कर्नाटक में वीरशैव सम्प्रदाय का पुनः संगठन हुआ जिनके प्रभाव से कन्नड़ में भक्ति-भाव का समावेश हुआ, परन्तु निर्गुण पर विशेष बल देने के कारण वह लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका। माध्व मतावलम्बी हरिदासों ने भक्ति के उन्मेष में विशेष सक्रियता दिखलाई, परन्तु उनका आचार्य रूप विशेष प्रमुख है, कवि रूप नहीं। यहाँ मधुर भक्ति का भी अधिक विकास नहीं हुआ। अक्क महादेवी कन्नड़ भक्ति-आन्दोलन की विशेष उपलब्धि रही हैं। सन् 1130 ई. के आसपास पैदा हुईं अक्क महादेवी वीरशिवा की अनूठी भक्त कवयित्री थीं। आंडाल, अक्क महादेवी और मीराबाई का नाम भक्त कवयित्रियों में विशेष उल्लेखनीय है। अक्क महादेवी ने पति को छोड़कर शिव को ही अपना पति मान लिया था। महादेवी कहतीं है कि – "नाम ही मेरा अपना है, इसके अतिरिक्त मेरा दिमाग, मेरी देह और मेरी आत्मा शिव की है।" उन्होंने विलक्षण 430 वचनों की रचना कीं, साथ ही, 'मंत्रोगोप्या' नाम की पुस्तक भक्ति के क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

अक्क महादेवी से लगभग सौ वर्ष पूर्व कर्नाटक में वसवन्ना नामक अभूतपूर्व भक्तकवि हुए। वे जन्मना ब्राह्मण थे, किन्तु जाति व्यवस्था के पदानुक्रम को नहीं मानते थे। वे भक्ति के क्षेत्र में सभी वर्णों को स्वीकार करने के पक्ष में थे। यहाँ तक कि वे स्त्री-पुरुष के बीच के अन्तर को भी नहीं मानते थे। 'काबे काबा' अर्थात् 'कर्म ही पूजा है' उनका मूल मन्त्र था। वर्णाश्रम धर्म को एक सिरे से खारिज करना भक्ति-आन्दोलन का बीज भाव था। प्रत्येक प्रदेश की भक्ति कविता में हम इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं।

3.1.2.2. महाराष्ट्र का भक्ति-आन्दोलन

कन्नड़ के समकालीन ही महाराष्ट्र का भक्ति-आन्दोलन है, जिसका प्रमुख केन्द्र भीमा नदी के किनारे बसा पंढरपुर है। भीमा नदी ही कर्नाटक और महाराष्ट्र के बीच सीमा का कार्य करता है। दोनों की भक्ति का आश्रय 'विठोबा' हैं। महाराष्ट्र में कृष्ण ही 'विट्ठल' कहलाए जिनका गुणगान महाराष्ट्र के भक्तों ने किया। यहाँ विट्ठल भक्त सन्तों की भक्ति से समाज में धर्म सुधार एक आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। इसके कारण निम्न वर्ण के लोग जो जाति से बहिष्कृत कर दिए गए थे, उन्हें भी भक्ति का अधिकार मिला।

महाराष्ट्र के भक्ति-आन्दोलन और भक्ति-परम्परा में 'वारकरी' सम्प्रदाय का विशेष योगदान है। इस सम्प्रदाय की स्थापना भक्त नामदेव ने की थी। ये व्यवसाय से दर्जी थे। इसलिए इनकी भक्ति कविता में सिलाई-कढ़ाई के शब्द बहुतायत से मिलते हैं। स्मरण की सुई और प्रेम के धागे से हरि नाम की सिलाई में मन मग्न हुआ है –

सुरति की सुई प्रेमका धागा, नामा का मन हरि सूलागा।

इनके प्रभाव और लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पंजाब के दर्जी आज भी अपने आपको नामदेव सम्प्रदायी कहलाने में गर्व महसूस करते हैं।

महाराष्ट्र के भक्ति-आन्दोलन में सन्तकवियों की लम्बी परम्परा रही है, जिन्होंने जन जीवन में ज्ञान की जोत जलाई, भक्ति की अखण्ड धारा प्रवाहित की। इनमें प्रमुख पाण्डुरङ्ग के प्रचारक सन्त नामदेव, एकता के एकनिष्ठ उपासक सन्त एकनाथ, विट्ठल के व्याकुल वारकरी सन्त माणिकदेव आदि हैं। दूसरी ओर एक-से-एक निरे भक्त भी हुए जैसे गोरा कुम्हार, विसोबा सराफ, सावता माली, राका-बाँका और नरहरि सुनार आदि।

सन्त ज्ञानेश्वर को ज्ञानियों का ज्ञानी कहा जाता है। इनकी रचना 'ज्ञानेश्वरी' जो गीता का भाष्य है, कहा जाता है कि इन्होंने 16 वर्ष की उम्र में ही लिख डाली थी। ज्ञानेश्वरी का स्थान वहाँ वही है जो उत्तर भारत में 'रामचरितमानस' का है। इनकी दूसरी रचना 'भावार्थ दीपिका' को भी महाराष्ट्र में अत्यन्त सम्मान से पढ़ा जाता है। सन्त तुकाराम भी वारकरी सम्प्रदाय के एक महान् सन्त हुए। ये सभी सन्त वर्ण-व्यवस्था के घोर विरोधी थे। तुकाराम की रचना 'मन्त्रगीत' को तो वहाँ के ब्राह्मणों ने जल समाधि दे दी। उन्होंने पहली बार गीता का अनुवाद किसी लोकभाषा (मराठी) में करने का प्रयास किया था, जो ब्राह्मणों को रास नहीं आया था।

महाराष्ट्र में भक्ति प्रवाह के सम्बन्ध में कहा गया है कि "सन्त ज्ञानेश्वर ने वारकरी मन्दिर की नींव डाली। ज्ञानेश्वर सेवक नामदेव ने उस मन्दिर का विस्तार किया। जनार्दन स्वामी के शिष्य एकनाथ ने इस मन्दिर पर भागवत धर्म की ध्वजा फहराई और इस मन्दिर का कलश बन तुकाराम ने पूर्णता देकर इसकी शोभा बढ़ायी। (भारत में भक्ति साधना, डॉ॰ आशा श्रीवास्तव, प्रिय साहित्य सदन, दिल्ली, पृ.सं. 417)

3.1.2.3. पूर्वी प्रान्तों में भक्ति-आन्दोलन

पूर्वी प्रान्त के अन्तर्गत बंगाल, उड़ीसा और बिहार (मिथिला) के क्षेत्र को लिया जा सकता है। सुविधा के लिए आसाम को भी इसमें शामिल किया जा सकता है। पूर्वी प्रान्तों में भक्ति का उद्घोष जयदेव रचित 'गीत गोविन्द' से हुआ। यद्यपि यह संस्कृत की रचना है, किन्तु इसका अत्यन्त व्यापक प्रभाव भक्ति-आन्दोलन पर पड़ा। यहाँ आकर भक्ति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लक्षित होता है, ओर वह है, 'राधा भाव की खोज'। कर्णाट राजवंश की स्थापना के कारण यहाँ ग्यारहवीं शताब्दी में ही वैष्णव धर्म की स्थापना हो चुकी थी, किन्तु यहाँ की जनता में शैव और शाक्त साधनाएँ प्रचलित थीं।

बंगाल की भक्ति में चण्डीदास का नाम अग्रणी है। इन्होंने ही भक्ति-आन्दोलन में 'मनुष्यता' की प्रतिष्ठा की ओर सबसे ऊपर मनुष्य को रखा 'सबार ऊपर मानुष सत्'। चण्डीदास के बाद भक्ति के क्षेत्र में चैतन्य महाप्रभु का प्रादुर्भाव होता है, पूरा पूर्वी प्रान्त इनकी आभा से चमक उठता है। बंगाल में नवद्वीप वैष्णव भक्ति का केन्द्र माना गया। इनका जन्म एक नीम वृक्ष के नीचे हुआ इसलिए इनका नाम निमाई भी था। चैतन्य ने रसकीर्तन को जन आन्दोलन बना दिया, जहाँ हरिनाम धरती से आसमान तक गूँज उठा। जो जाति, वर्ण कीर्तन में भाग नहीं ले सकते थे, चैतन्य ने उन सभी को कीर्तन में समेट लिया। उन्होंने दक्षिण भारत की यात्रा की और अन्त में वृन्दावन में आकर बस गए।

चैतन्य का प्रभाव इतना व्यापक था कि उड़ीसा में भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ भी इन्हीं के द्वारा हुआ। उड़ीसा की इनकी यात्रा लगातार हुआ करती। उड़ीसा में वैष्णव पंथ और भक्ति-आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में इनकी उड़ीसा यात्रा का बहुत महत्त्व है। उड़ीसा की भक्ति-धारा में 'पंचसखा' का नाम अत्यन्त आदर से लिया जाता है। इन प्रमुख पंचसखा के नाम हैं – जगन्नाथ दास, बलरामदास, अच्युतानन्द, अनन्त और यशोवंतदास। ये पाँचों भक्तकवि पूर्व में बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। कहा जाता है कि चैतन्य के प्रभाव में ये वैष्णव भक्ति की ओर मुड़ गए। पंचसखाओं के नाम और चैतन्य से उनके सम्बन्धों का उल्लेख 'चौरासी आज्ञा' नामक पुस्तक में हुआ है। इस पुस्तक के लेखक सुदर्शनदास पंचसखाओं में से एक यशोवंतदास के पट्ट शिष्य थे।

बिहार में मिथिला भक्ति-आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र था। विद्यापति भक्ति-धारा के अग्रणी कवि थे। सन् 1350 ई. के आसपास मिथिला में ये अत्यन्त सक्रिय थे। बंगाल, आसाम और उड़ीसा में विद्यापति का प्रभाव अत्यधिक था। कहा जाता है कि विद्यापति के पदों को गाते-गाते चैतन्य भक्ति-भाव से मूर्च्छित हो जाते। इन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। इनकी विशेषता यह है कि इनकी 'पदावली' वैष्णव, शैव और शाक्त मत को मिलाने वाली है। शैव मत से सम्बन्धित विद्यापति की पदावली को 'नचारी' और 'महेशवाणी' कहा जाता है।

असम में 'ब्रजबुलि' भक्ति साहित्य का प्रवेश शंकरदेव के साथ होता है। इन पर विद्यापति का गहरा प्रभाव था। शंकरदेव के बाद माधवदेव भी हुए। दास्य भाव, राधा भाव की प्रधानता के साथ-साथ भक्ति का लोकनाट्य रूप 'किर्तनियाँ' यहाँ की भक्ति की विशेषता है।

3.1.2.4. उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन

उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति का अन्तर सर्वाधिक स्पष्ट है। निर्गुण भक्ति की परम्परा जहाँ एक ओर बौद्ध धर्म अनुस्यूत नाथ और सिद्ध परम्परा से जुड़ती है, वहीं दूसरी ओर इस्लाम के सूफीमत से भी। इसलिए इस धारा में स्पष्टता, आक्रामकता और समावेशी संस्कृति का आग्रह दिखाई देता है। कबीर, नानक, दादूदयाल, रैदास, पीपा, धन्ना आदि निर्गुण भक्ति के ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि माने जाते हैं। कबीर इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। इस शाखा में निम्न जाति के भक्तकवियों की संख्या अधिक है। प्रेमाश्रयी शाखा के भक्तकवियों को निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत रखा गया है। पद्मावत, अखरावट और आखरी कलाम के रचयिता

मल्लिक मुहम्मद जायसी इस धारा के प्रमुख कवि हैं। प्रेमतत्त्व इनकी भक्ति कविता का स्थायी भाव है। इनके अनुसार प्रेम ही मनुष्य के जीवन का चरम मूल्य है, जिसे पाकर मनुष्य वैकुण्ठी होता है, 'मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी'। सूफी सन्तों का उन पर गहरा प्रभाव है।

रामचन्द्र शुक्ल ने कृष्णभक्ति शाखा और रामभक्ति शाखा को सगुण भक्ति के अन्तर्गत स्थान दिया है। सूरदास कृष्णभक्ति के अनन्य कवि हैं। कृष्ण के बाललीला का उन्होंने अद्भुत वर्णन किया है। सूरसागर में उनके अधिकांश पद संकलित हैं। सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास, कुम्भनदास आदि 'अष्टछाप' के प्रमुख कवि माने जाते हैं। अष्टछाप आठ कृष्णभक्त-कवियों का समूह है। इन भक्तों ने ब्रजभाषा में अपनी रचना की है। गोस्वामी तुलसीदास रामभक्ति शाखा के प्रमुख भक्तकवि हैं। सम्पूर्ण उत्तर भारत में तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि के रूप में जाना जाता है। रामचरितमानस, विनयपत्रिका तथा कवितावली इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

3.1.2.5. अन्य प्रान्तों में भक्ति-आन्दोलन

गुजरात में भक्ति-आन्दोलन में एक नया आयाम जुड़ता है – जैन धर्म का प्रभाव। इसलिए यहाँ भागवत धर्म के प्रचीन चिह्न मिलने पर भी, काव्य-रचना पहले की नहीं मिलती। जैन प्रभाव के कारण कृष्ण कथा के जैन रूपान्तर यहाँ अधिक मिलते हैं। रचनाओं में कृष्ण केवल गोकुल तक सीमित नहीं हैं, यहाँ उनका राजसी वैभव और विवाहित जीवन प्रमुख है। केवल नरसी मेहता और मीरा ही रागानुरागी भक्ति से जुड़े हैं। यहाँ निर्गण-सगुण में भेद न के बराबर मिलता है। एक ही कवि दोनों प्रकार की रचनाएँ करते हैं। कश्मीरी भक्तिकाव्य का प्रारम्भ भी लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी में मना जाता है। यहाँ भक्ति-आन्दोलन का प्रारम्भ एक नारी भक्त कवयित्री से होता है। लल्लदद कश्मीर की प्रसिद्ध भक्त कवयित्री हैं। इन पर सूफी और शैव का मिला जुला प्रभाव था।

पंजाब की भक्ति पर सूफी दर्शन का प्रभाव सर्वाधिक है। सन्त काव्य से पहले यहाँ सूफी काव्य ही लिखा गया। इसलिए यह प्रभाव तो पड़ा परन्तु मूल स्वर निर्गुण प्रेमा भक्ति का ही है। विनय और सदाचार की यहाँ भी उतनी ही प्रतिष्ठा है। बुल्लेशाह पंजाब के प्रतिनिधिभक्तकवि माने जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव भक्ति की धारा दक्षिण में आलवार उत्तर तेलंगाना से होकर उत्तर भारत में आई। महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय के साथ भक्ति का सामंजस्य घटित हुआ, फलस्वरूप सन्त ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि की परम्परा चली। नामदेव ने निर्गुण परम्परा की नींव डाली, लेकिन जो भक्ति-धारा रामभक्ति और कृष्णभक्ति के साथ तमिलनाडू से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई वही गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, बांग्ला, उड़िया और असमी क्षेत्रों तक विस्तार पाकर व्यापक 'लोक आन्दोलन' में परिणत हो गई।

3.1.3. भक्ति-आन्दोलन का अन्तःप्रादेशिक वैशिष्ट्य

भक्ति-आन्दोलन की उपर्युक्त अखिल भारतीय यात्रा में हम देखते हैं कि इसमें कुछ तत्त्व समान हैं, जो सभी पड़ावों पर मिलते हैं अर्थात् उनमें कुछ ऐसे अन्तःसूत्र हैं जो एक दूसरे को जोड़ते हैं। इसका कारण यह है कि

समग्र रूप से भक्ति-आन्दोलन के प्रेरक तत्त्व समान हैं। यद्यपि सभी भषाएँ एक परिवार की नहीं हैं किन्तु उनका साहित्यिक अवदान समान है। इस अन्तःसूत्र की खोज करती हुई सुमन राजे लिखती हैं, "रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत संस्कृत का आभिजात्य साहित्य, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में लिखा बौद्ध, जैन तथा इतर साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। ... इस प्रेरक साहित्य के कारण मूलभूत समानता स्वयं आ गई हैं। दूसरी बात समान परम्पराओं की है। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सभी भाषाओं में जैन, बौद्ध, नाथ एवं कुछ अंशों में सूफी प्रभाव रहे हैं। इसलिए भी समान परम्पराएँ पनप सकी हैं। (हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003, पृ.सं. 131)

सुमन राजे डॉ॰ नगेन्द्र को उद्धृत करती हुई इस समानता से अलग भक्ति-आन्दोलन में विभिन्नता को रेखांकित करती हुई लिखती हैं, "आत्मा का एक्य होते हुए भी, स्थानीय एवं जन संस्कृति का प्रभाव सभी स्थानों पर पड़ा है। इसलिए समस्त तत्त्व होते हुए भी प्रत्येक भाषा के भक्तिकाव्य की अपनी मौलिक विशेषताएँ भी हैं। तमिल का संगम साहित्य, तेलुगु के द्विअर्थी काव्य, अवधान तथा उदाहरण साहित्य, मलयालम के सन्देश काव्य एवं वीरगीत (किलिपपाटु) तथा मणि-प्रवालम शैली, मराठी के पावड़े, गुजराती के आख्यान एवं फागु, बांग्ला का मंगल-काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की गज़ल और हिन्दी के रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।" (मूल-भारतीय वाङ्मय, डॉ॰ नगेन्द्र, पृ.सं. 6)

उत्तर भारत की भक्ति में सगुण और निर्गुण का भेद बहुत स्पष्ट है और इस मामले में भक्तकवि बहुत सचेत रहे हैं। तुलसीदास ने बगैर नाम लिए हुए निर्गुण भक्तकवियों की खूब आलोचना की है। कृष्ण भक्त सूरदास ने भी 'भ्रमरगीत' के उद्धव-गोपी संवाद में सगुण भक्ति को निर्गुण भक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। उत्तर भारत की जनता की आस्था सगुण भक्ति की ओर रही है किन्तु यहाँ लम्बे समय से बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ आदि भक्ति की उपस्थिति के कारण सगुण और निर्गुण का द्वन्द्व उपस्थित हो गया है। यह सगुण और निर्गुण का द्वन्द्व उत्तर भारत की भक्ति की आन्तरिक विशेषता प्रतीत होती है।

इसके विपरीत मराठी भक्तिकाव्य में सगुण-निर्गुण का भेद नहीं हैं, वहाँ यथासाध्य सगुण और निर्गुण के बीच संश्लेष की बात देखने को मिलती है। तमिल भक्तिकाव्य में भी सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व देखने को नहीं मिलता है, किन्तु यहाँ वैष्णव भक्ति और शैव भक्ति की प्रतिस्पर्धा अधिक मुखर है। कन्नड़ भक्तिकाव्य में शैव भक्ति की प्रमुखता है। इस तरह की प्रमुखता या द्वन्द्व स्थानीय लोक-रुचि, लोक-पर्व तथा धार्मिक परम्पराओं आदि से निर्धारित होता रहा है।

दक्षिण भारत के आलवार भक्त कुशल गायक थे। वे दूर-दूर तक की यात्राएँ कर भक्ति गीतों का गान करते थे। पारम्परिक लोक गीतों का आधार लेकर भक्तों ने अपने गीत लिखे और गाए। आलवार भक्त जब टोली बनाकर भक्ति गीत गाते चलते तो अद्भुत भक्तिमय समां बंध जाता। गाए जाने की दृष्टि से लिखे जाने के कारण आलवार भक्तों के पदों में अद्भुत संगीतात्मकता के दर्शन होते हैं। इन भक्ति पदों में जितना अधिक लोक तत्त्व है,

वह यहाँ के अन्तःवैशिष्ट्य को प्रदर्शित करता है। तेलुगु भक्तकवि त्यागराज ने रासलीला प्रसंग को यक्षगान के रूप में प्रस्तुत किया है। यक्षगान यहाँ की प्रसिद्ध लोकनृत्य शैली है। दक्षिण भारत में मन्दिरों की संख्या अत्यधिक है। यही कारण है कि यहाँ के भक्तकवियों में मन्दिर निर्माण की उत्कट अभिलाषा देखने को मिलती है। बंगाल की भक्ति में जयदेव, चण्डीदास और चैतन्य के प्रभाव स्वरूप नाम-संकीर्तन की महिमा अत्यधिक है। यहाँ की भक्ति-परम्परा में कीर्तन-गायन के साथ नृत्य का योग अनूठा है। चैतन्य के जीवनीकारों के अनुसार नृत्य-कीर्तन संगीत का अनिवार्य अंग था। जब उन्होंने उत्कट धार्मिक गान के रूप में कीर्तन की प्रतिष्ठा की, तब नृत्य को भी उसका अभिन्न अंग माना गया। इस प्रकार नृत्य आधारित नाम-संकीर्तन चैतन्य मत के आन्दोलन और उपासना का अंग हो गया।

असम के भक्ति-आन्दोलन में 'कीर्तनिया नाटक' का योगदान उसे सर्वथा अलग पहचान दिलाता है। कीर्तनिया नाटक यहाँ के स्थानीय लोक नाट्य का एक रूप है। गुजरात की भक्ति की विशेषता यह है कि यहाँ कृष्ण कथा में जैन रूपान्तर अधिक लोकप्रिय है। निश्चित रूप से इस भिन्नता का कारण गुजरात में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव है। साथ ही यहाँ के कृष्ण गोकुलवासी कम द्वारिकाधीश अधिक हैं। राजसी वैभव तथा भव्यता का ठाट-बाट तथा कृष्ण का विवाहित रूप अधिक प्रसिद्ध है।

पंचनदियों की भूमि पंजाब इस्लाम बहुल इलाका था। इसलिए पंजाब के भक्ति-आन्दोलन में सूफी भक्ति का जोर अधिक है। क्योंकि इस क्षेत्र में सूफी सम्प्रदायों की पकड़ मजबूत थी। सूफी में प्रेमतत्त्व को विशेष अहमियत दी गई है। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उत्तर भारत की भक्ति में सगुण धारा के अन्तर्गत रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति को ही रखा है, शैव ओर शाक्त धारा उनकी नजरों से ओझल ही रही तथापि मिथिला के भक्ति-आन्दोलन में शैव और शाक्त धारा का वजूद कम नहीं है। इसके अतिरिक्त विद्यापति की पदावली में मिथिला की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों और समस्याओं की अत्यन्त मुखर अभिव्यक्ति हुई है। चौदहवीं शताब्दी के भक्ति पदों में बेरोजगारी, पलायन, गरीबी और कृषि संस्कृति की मौजूनियत मिथिला की भक्ति-आन्दोलन की आन्तरिक विशेषताएँ हैं।

मराठी भक्तकवि एकनाथ ने 'भारूण' नाट्य गीत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। यह शैली एकनाथ ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मराठी भक्तिकाव्य को अलग वजूद प्रदान करता है। भारूण नाट्य गीत अभिनय के साथ होता है। इस अभिनय में गीत के पात्र विशेष रूप से लोक-जीवन से सम्बन्धित होते हैं। भक्ति को अधिक से अधिक लोकमुखी बनाने की दृष्टि से ही उन्होंने इस रूप को अपनाया होगा। इसमें साँप-सपेरे के खेल के माध्यम से कवि अपनी बात कह जाते हैं। जहाँ कहीं जन समुदाय इकट्ठा होता था, वहाँ 'भारूणी' खेल शुरू हो जाता। इसके लिए मंच विशेष की आवश्यकता नहीं होती थी। आश्चर्य नहीं कि आज के नुक्कड़ नाटक की शैली को भारूण से प्रेरणा मिली हो।

3.1.4. भक्ति-आन्दोलन और लोकजागरण

डॉ॰ रामविलास शर्मा भक्ति-आन्दोलन को लोकजागरण की संज्ञा देते हैं। उन्होंने 'लोकजागरण और हिन्दी साहित्य' की भूमिका में लिखा है, "आत्मकल्याण और लोककल्याण करने वालो कर्मों की ओर जनता को भक्तकवि ले गए। इसलिए भक्तिकाल को लोकजागरण काल कहना उचित होगा।" (लोकजागरण और हिन्दी साहित्य, सं. : रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, भूमिका से) आगे उन्होंने कहा कि "कबीर, जायसी, सूर और तुलसी का युग लोकजागरण का युग है। यह जागरण पश्चिमी एशिया के कई देशों के लोगजागरण से जुड़ा हुआ है।"

3.1.4.1. मानुष सत्य और लोकजागरण

सर्वप्रथम लोकजागरण का स्वर प्रस्फुटित हुआ बौद्ध धर्म में। किन्तु भक्ति-आन्दोलन ने लोकजागरण को व्यापकता ही प्रदान नहीं किया, बल्कि उसे विस्तारित भी किया। भक्ति-आन्दोलन में लोकशक्ति की पहचान है और 'मनुष्य' की प्रतिष्ठा उसका उद्देश्य। जहाँ भारतीय भक्ति साधना में सामान्यतः ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ माना गया है और उसे ही परम सत्य कहा गया है, वहीं भक्ति-आन्दोलन 'मानुष शत' की तलाश के लिए बेचैन है। बंगाल के भक्तकवि चण्डीदास ने घोषणा की –

जानहु मानुष भाई,
शबार ऊपरे मानुष शत्तो, ताहर ऊपरे नाईं।

भक्ति-आन्दोलन में पहली बार कविता के केन्द्र में मनुष्य आया। भक्ति-आन्दोलन से पूर्व कविता के केन्द्र में या तो ईश्वर होते या कोई अलौकिक शक्ति या फिर राजा-महराजा या सामन्त। मनुष्य को कविता के केन्द्र में लाने के लिए भक्तकवियों को राजदरबार की सुख-समृद्धि और सम्पन्नता की तिलांजलि अनिवार्य था। यह अकारण नहीं कि भक्ति-आन्दोलन से जुड़े अधिकांश भक्तकवियों ने राजदरबार को सिरे से खारिज कर दिया। अष्टछाप के कृष्ण भक्त कुम्भनदास ने साफ-साफ कहा –

सन्तन कहा सिकरी सँ काम
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम
जाको देखे दु :ख उपजत है, तिनको करिबे परी सलाम।

रामभक्त तुलसीदास को 'मनसबदार' होना स्वीकार नहीं था। उन्होंने अपनी रचनाओं में सामन्ती मनोवृत्ति के शासकों की तीखी आलोचना की है। कबीर की पूरी चिन्ता लोक के लिए है। कबीर जब कहते हैं, "कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ" तो वे 'लुकाठी' से लोक विरोधी तमाम चीजों को जला डालना चाहते हैं, समाप्त कर देना चाहते हैं।

3.1.4.2. वर्णव्यवस्था की अस्वीकृति और लोकजागरण

मनुष्य-मनुष्य के बीच फर्क़, ऊँच-नीच का भेद घोर लोक विरोधी मान्यता है और इस मान्यता के विरोध में उठा स्वर लोकजागरण। भक्ति-आन्दोलन ने भक्ति के क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था को पूर्णतः खारिज कर दिया। भक्ति-आन्दोलन का मूल स्वर है –

जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।

यह स्थापना क्रान्तिकारी स्थापना थी जो भक्ति-आन्दोलन को लोकजागरण तक पहुँचा देती है। शिवकुमार मिश्र के शब्दों में, "भक्ति-आन्दोलन अपने समय की राजनैतिक, धार्मिक ओर सामाजिक परिस्थितियों की अनिवार्य देन था। इस तथ्य का अनुमान महज इस बात से लगाया जा सकता है कि इसने न केवल अपने समय की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जड़ता को तोड़ा, चली आती हुई सांस्कृतिक जीवन की धारा के साथ विजेता की नई संस्कृति को घुलाते-मिलाते हुए पहली बार जाति, धर्म, वर्ण आदि से निरपेक्ष एक मानव धर्म तथा एक मानव संस्कृति की परिकल्पना सामने रखी। इसने शताब्दियों से कुण्ठित और अपमानित देश के करोड़ों साधारण जनों के लिए उनकी सामाजिक मुक्ति तथा आध्यात्मिक परितृप्ति के द्वार भी उन्मुक्त कर दिए। समाज तथा धर्म के ठेकेदारों ने जिनके लिए कब का बंद कर रखा था। इस आधार पर यदि कहा जाए कि एक स्तर पर यह भक्ति-आन्दोलन रूढ़ीग्रस्त धर्म तथा उसके द्वारा अभिशप्त एक अनैतिक और अमानवीय समाज-व्यवस्था के प्रति सामान्य जन के सात्विक रोष तथा उसकी दुर्दम जिजीविषा की भावात्मक अभिव्यक्ति था तो कोई अतिशयाक्ति न होगी।" (भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य, शिवकुमार मिश्र, पृ. सं. 73)

3.1.4.3. स्त्री जाग्रति और लोकजागरण

भक्ति-आन्दोलन से पूर्व आधी आबादी यानी स्त्री-स्वर की अनुगूँज सामान्यतया नहीं मिल पाती है। भक्ति-आन्दोलन में स्त्रियों की पीड़ा, उनकी आकांक्षा उन्हीं के शब्दों में अभिव्यक्त हुई है। तमिलभाषी आंडाल गोदा, कन्नड़ भाषा में अक्क महादेवी, कश्मीरी भाषा में लल्लदद तथा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी भाषा में मीरा इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। नाभादास ने 'भक्तमाल' में दर्जनों भक्त कवयित्रियों का उल्लेख किया है। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में "मीरा की कविता में एक ओर सामन्ती समाज में स्त्री की पराधीनता और यातना की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर उस व्यवस्था के बन्धनों का पूरी तरह निषेध और उससे स्वतन्त्रता के लिए दीवानगी की हद तक संघर्ष भी है। उस युग में एक स्त्री के लिए ऐसा संघर्ष अत्यन्त कठिन था। ... उन्होंने निर्भय होकर भ्रामक युगधर्म और लोक भय का सामना करते हुए स्पष्ट कहा –

भजन करस्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घण नामी।

3.1.4.4. प्रेमाभिव्यक्ति और लोकजागरण

पुरुष प्रधान रूढ़िबद्ध समाज में प्रेम करना अपराध की कोटि में गिना जाता है। किन्तु प्रेम मनुष्यता की अनिवार्य शर्त है। प्रेम विहीन समाज की कल्पना दुष्कर है। प्रेम का विरोध अपने चरित्र में लोक विरोधी है और प्रेम पूर्ण समाज के लिए खड़ा होना, उसके पक्ष में आवाज बुलंद करना लोकजागरण। भक्तिकाल के सभी रचनाकारों ने अकुण्ठ भाव से प्रेम की महिमा का गान किया है। भक्तिकालीन प्रेमाभिव्यक्ति को नितान्त आध्यात्मिक मानना भूल है। यहाँ प्रेम की अलौकिक महिमा उसके नितान्त लौकिक सन्दर्भ और संघर्ष के ही कारण सम्भव होती है। रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेम के इस स्वरूप को समझते हुए लिखा है, "भक्ति मार्ग शुद्ध भावमार्ग या प्रेम मार्ग है। उसका आधार मनुष्य की सहज रागात्मक वृत्ति है। उसकी पद्धति वह प्रेम पद्धति है जिसे सब लोग स्वभावतः जानते हैं।" कबीर की कविता में प्रेम एक सामाजिक मूल्य है। प्रेम उनकी कविता का केन्द्रीय विषय है। जायसी की कविता में प्रेम का लोकपक्ष विलक्षण ढंग से व्यक्त हुआ है। उनके लिए संसार में प्रेम से अधिक सुन्दरतम और कुछ नहीं। विद्यापति तो प्रेम डगर के पथिक ही हैं। सूरदास के काव्य में प्रेम कबीर से अधिक स्वाभाविक और जायसी से अधिक लौकिक है। सूर की गोपियाँ तो प्रेम की सारी हदें तोड़ डालती हैं। मीरा को अपने प्रेम के लिए लोक-लाज और कुल-हानि तक को छोड़ना पड़ता है। भक्तिकालीन कविता में प्रेम नानार्थ रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

3.1.4.5. लोकभाषा और लोकजागरण

आधुनिक भारतीय भाषाओं और लोकभाषाओं का सर्वाधिक उभार भक्ति-आन्दोलन के साथ ही हुआ। भक्ति-आन्दोलन ने लोकभाषाओं को सम्मान करते हुए अभिव्यक्ति का माध्यम उन्हें ही बनाया। लोक की भाषा को माध्यम भाषा बनाने के कारण ही सामान्य व्यक्ति, निम्न जाति के भक्त इस आन्दोलन से सीधे-सीधे जुड़ पाए। 'देववाणी' संस्कृत को छोड़कर लोक की अपनी बोली, बानी और उसके अपने छन्दों में उन्होंने अपनी बानियाँ अपने पद लिखे और कहे। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भाषाई चेतना लोकजागरण का परिचायक है। कबीर ने संस्कृत को 'कूप जल' की संज्ञा इसलिए दी कि इसमें अत्यन्त सीमित लोगों की भावना सीमित लोगों के द्वारा व्यक्त की जा रही थी। जन-जन तक भक्तकवियों की पहुँच का कारण उनका भाषाई सामर्थ्य है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़, कश्मीरी, मराठी, मैथिली, बांग्ला, अवधी, ब्रजभाषा तथा असमी आदि आधुनिक लोकभाषाओं से भक्तिकालीन कविता जगमगा रही है। विद्यापति ने तो 'देसी' भाषा को सबसे मधुर भाषा की संज्ञा दी–

देसिल बयना सब जन मिट्ठा, ते तेसन जम्पय अवहट्ठा।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भक्ति-आन्दोलन ने अपनी सीमाओं में ही सही शास्त्रसत्ता, राजसत्ता, रूढ़िसत्ता, पुरुषसत्ता तथा भाषासत्ता का प्रतिरोध किया, जो उसके लोकजागरण का परिचायक है।

3.1.5. पाठ-सार

भक्ति-आन्दोलन का वैशिष्ट्य उसका अखिल भारतीय स्वरूप है। देश में पहली बार व्यापक पैमाने पर आम जन की आवाज राष्ट्रीय फलक पर अनुगूँजित होती है। पूरब से लेकर पश्चिम तक और उत्तर से लेकर दक्षिण तक के भक्तकवियों ने अपने-अपने अंदाज में भक्ति के स्वर को गरिमामय ऊँचाई प्रदान की। शास्त्रीय धर्म के समानान्तर लोकधर्म की प्रतिष्ठा की गई। धर्मेतर अध्यात्म की खोज भक्ति-आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण खोज साबित हुई। आडम्बर, यज्ञादि के स्थान पर सरल, सहज, सुगम भक्ति ने आम लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया। श्रमिकों के साथ-साथ छोटे-छोटे कारीगर, व्यापारी एवं किसान आदि व्यापक पैमाने पर भक्ति-आन्दोलन से जुड़े। भारी मात्रा में निम्नजाति के भक्तों ने भक्ति-आन्दोलन का प्रतिनिधित्व किया।

पूरे देश में भक्ति-आन्दोलन की मूल आत्मा एक थी, प्रेरणा के स्रोत एक थे। नाना प्रकार के बन्धनों से मुक्ति भक्ति-आन्दोलन का वह अन्तःसूत्र था जो सभी प्रदेशों को एक डोर में बाँध रखा था। इसके बावजूद प्रत्येक क्षेत्र की भौगौलिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आधार की भिन्नता के कारण उसमें कुछ-कुछ भिन्नताएँ भी आ गई थीं, जो उनके अन्तःप्रादेशिक वैशिष्ट्य के सूचक थे। भक्ति-आन्दोलन को कई विद्वानों ने लोकजागरण की संज्ञा दी है। लोक की चिन्ता, लोक की आकांक्षा, लोक की पीड़ा को भक्तों ने ईश्वर तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। पहली बार भगवान और भक्त के बीच से पण्डा, पुरोहित और मौलवी रूपी बिचौलिए के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा। यही कारण है कि भक्ति-आन्दोलन लोकजागरण की संज्ञा से अभिहित हुआ।

3.1.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अक्क महादेवी का सम्बन्ध किस प्रदेश से है –

(क) मिथिला
(ख) वृन्दावन
(ग) महाराष्ट्र
(घ) कर्नाटक

सही उत्तर – (घ)

2. आलवार भक्तों की कुल संख्या है–

(क) 12
(ख) 09
(ग) 05
(घ) 08

सही उत्तर – (क)

3. ज्ञानेश्वरी किनकी रचना है –

(क) रामानन्द

(ख) तुलसीदास

(ग) सन्त ज्ञानेश्वर

(घ) सूरदास

सही उत्तर – (ग)

4. 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' किन्होंने कहा है ?

(क) विद्यापति

(ख) कुम्भनदास

(ग) लल्लदद

(घ) चण्डीदास

सही उत्तर – (क)

5. निम्नलिखित किस भक्तकवि का सम्बन्ध गुजरात से है ?

(क) आंडाल

(ख) एकनाथ

(ग) नरसी मेहता

(घ) मीरा

सही उत्तर – (ग)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भक्ति-आन्दोलन में पूर्वी प्रदेश के योगदान को उद्घाटित कीजिए।
2. दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन के वैशिष्ट्य को रेखांकित कीजिए।
3. भक्ति-आन्दोलन के अन्तःवैशिष्ट्य को स्पष्ट कीजिए।
4. भक्ति-आन्दोलन को लोकजागरण कहने के औचित्य को सिद्ध कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आलवार सन्तों की भक्ति प़द्धति पर विचार कीजिए।
2. भक्ति-आन्दोलन में स्त्री भक्त कवयित्री के योगदान पर प्रकाश डालिए।
3. नायनार भक्तों की भक्ति को रेखांकित कीजिए।
4. भक्ति-आन्दोलन में प्रेमतत्त्व के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
5. 'जाति पाँति पूछे नहिं कोई' को व्याख्यायित कीजिए।

3.1.7. उपयोगी ग्रन्थ सूची

01. जयरामन, पी. (2003). भक्ति के आयाम. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
02. अवस्थी, देवशंकर (1997). भक्ति के सन्दर्भ. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
03. शुक्ल, रामचन्द्र (2010). त्रिवेणी. नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन.
04. कुमार, मधुप (2004). विनयपत्रिका और निराला के विनयगीत. दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन.
05. त्रिपाठी, विश्वनाथ (1989). मीरा का काव्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
06. कोहली, सुरेन्द्र सिंह (1992). बुल्लेशाह. नई दिल्ली : साहित्य अकादेमी.
07. मुकर्जी, दिलीप कुमार (1972). चैतन्य. नई दिल्ली : साहित्य अकादेमी.
08. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1989). सूर साहित्य. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
09. शर्मा, रामविलास (1973). आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
10. अग्रवाल, पुरुषोत्तम (2007). नई दिल्ली : एनबीटी.
11. नवल, नन्दकिशोर (2011). तुलसीदास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.

3.1.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. तोमर, रामसिंह (1989). दिव्य प्रबन्धम्. भाग-7. विश्वभारती प्रकाशन : कोलकाता. पृ. सं. 10
2. राजे, सुमन (2003). हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. सं. 126
3. श्रीवास्तव, आशा (2009). भारत में भक्ति साधना. दिल्ली : प्रिय साहित्य सदन. पृ. सं. 417
4. राजे, सुमन (2003). हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. सं. 131
5. शर्मा, रामविलास (1982). लोकजागरण और हिन्दी साहित्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 11
6. मिश्र, शिवकुमार (1982).भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य. नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन. पृ. सं. 73
7. पाण्डेय, मेनैजर (1995). भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 27

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : भक्ति-आन्दोलन का उदय, तत्त्व-दृष्टि एवं जीवन-दर्शन

इकाई – 2 : भक्ति-आन्दोलन के उदय की पृष्ठभूमि, वैष्णव भक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रमुख सम्प्रदाय, प्रमुख आचार्य, आलवार सन्त

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य
3.2.1. प्रस्तावना
  3.2.1.1. देव-बिहारी विवाद
  3.2.1.2. भक्ति की प्रमुख शाखाएँ
3.2.2. भक्ति-आन्दोलन
  3.2.2.1. भक्ति-आन्दोलन का उद्भव
  3.2.2.2. दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन का उद्भव
  3.2.2.3. भक्ति-आन्दोलन में स्त्री-स्वर
  3.2.2.4. भक्ति-आन्दोलन : ऐतिहासिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि
  3.2.2.5. भक्ति-आन्दोलन की आर्थिक पृष्ठभूमि
  3.2.2.6. भक्ति-आन्दोलन की शास्त्रीय पृष्ठभूमि
  3.2.2.7. भक्ति-आन्दोलन और सामाजिक-धार्मिक सुधार
3.2.3. वैष्णव भक्ति
  3.2.3.1. वैष्णव भक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
  3.2.3.2. वैष्णव भक्ति का उद्भव और विकास
  3.2.3.3. वैष्णव भक्ति का सामाजिक-सांस्कृतिक आधार
3.2.4. प्रमुख सम्प्रदाय एवं आचार्य
  3.2.4.1. निम्बार्काचार्य का निम्बार्क सम्प्रदाय
  3.2.4.2. रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय
  3.2.4.3. श्री मध्वाचार्य का द्वैतवादी सम्प्रदाय
  3.2.4.4. आचार्य रामानन्द का सम्प्रदाय
  3.2.4.5. वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग
  3.2.4.6. आलवार सन्त
3.2.5. पाठ-सार
3.2.6. बोध प्रश्न
3.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भक्ति-आन्दोलन के उद्‌भव और विकास को समझने के साथ-साथ उसकी व्यापक पृष्ठभूमि से परिचित हो पाएँगे।
ii. वैष्णव भक्ति की सामाजिक परिस्थिति से अवगत हो पाएँगे और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को भी जान पाएँगे।
iii. भक्तिकाव्य के प्रमुख सम्प्रदायों के भक्ति-आन्दोलन में योगदान पर चर्चा कर पाएँगे।
iv. दक्षिण भारत के आलवार सन्तों की भक्ति की विशिष्टताएँ बता पाएँगे।

3.2.1. प्रस्तावना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में संवत् 1375 से संवत् 1700 तक की अवधि को 'भक्तिकाल' या पूर्व मध्यकाल की संज्ञा दी है। उन्होंने भक्तिकाल को 'स्वर्णकाल' की संज्ञा दी। शुक्लजी से पूर्व भक्तिकाव्य का साहित्यिक मूल्य अधिक न था। इस काल की कविता को कदाचित् भजन-कीर्तन की कविता माना जाता था। हिन्दी साहित्य में पहली बार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति साहित्य के महत्त्व को समझा, उसके सामाजिक सांस्कृतिक अवदान को समझकर उसकी विस्तृत और व्यापक व्याख्या की।

3.2.1.1. देव-बिहारी विवाद

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व सामन्ती परिवेश में रची-पची शृंगारिक कविताओं के काल 'रीतिकाल' को प्रमुखता दी जाती थी। शुक्ल पूर्व आलोचक रीतिकालीन शृंगारिक कविताओं की कलात्मकता के मुरीद थे। वे इन कविताओं पर इतने मुग्ध थे कि भक्तिकालीन कविताओं पर उनकी नज़र जा ही नहीं पायी। इन आलोचकों के लिए रीतिकालीन कवि बिहारी और देव हिन्दी के सबसे बड़े कवि थे। हिन्दी साहित्य में उन दिनों देव और बिहारी विवाद अत्यन्त जोरों पर था। कुछ विद्वान् देव को सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित कर रहे थे तो कुछ बिहारी को। आचार्य शुक्ल ने देव और बिहारी के स्थान पर तुलसीदास और सूरदास को स्थापित किया। इस प्रकार भक्तिकालीन साहित्य की प्रतिष्ठा आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी देन है।

3.2.1.2. भक्ति की प्रमुख शाखाएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सम्पूर्ण भक्ति साहित्य को क्रमशः सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति में विभाजित किया। शुक्लजी ने कदाचित् यह विभाजन भक्ति की अवधारणा को समझने भर के लिए किया होगा। साकार ईश्वर की भक्ति को शुक्लजी ने सगुण भक्ति की कोटि में रखा। इन्होंने सगुण भक्ति को रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा में विभाजित किया। गोस्वामी तुलसीदास रामभक्ति शाखा में सबसे महत्त्वपूर्ण भक्ति कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। रामचरितमानस, कवितावली तथा गीतावली उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य-ग्रन्थ है। सूरदास कृष्णभक्ति शाखा के अग्रणी कवि माने जाते हैं। सूरसागर उनकी प्रसिद्ध रचना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निर्गुण भक्ति के भी दो भेद किए – एक ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरा प्रेमाश्रयी शाखा। कबीर ज्ञानाश्रयी शाखा के

और मल्लिक मुहम्मद जायसी प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन में इन शाखाओं का बहुमूल्य योगदान है।

3.2.2. भक्ति-आन्दोलन

भक्ति-आन्दोलन धार्मिक स्वरूप में देश के साधारण जन की व्यथा-कथा का आन्दोलन है। 'भक्ति' हृदय की उस भावना की संज्ञा है जिसमें भक्त एक ओर पूर्ण भाव से भगवान में अनुरक्त हो और सभी तरह से उनमें समर्पित होने वाला हो और दूसरी ओर भगवान की इस सारी सृष्टि के प्रति सेवा भाव से अनुप्राणित हो। भागवत पुराण के अनुसार अहैतुक, निष्काम तथा निरन्तर होना 'भक्ति' की आवश्यक शर्त है।

एक समग्र राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष की सही पहचान कराने वाली घटनाओं में भक्ति-आन्दोलन को प्रायः सभी विद्वानों ने महान् और युगान्तकारी घटना के रूप में रेखांकित किया है, क्योंकि इस आन्दोलन में पहली बार देश की साधारण जनता ही हिस्सा नहीं लेती, बल्कि पूरे देश की धमनियों में इस आन्दोलन की ऊर्जा स्पन्दित होती है। भक्ति की ऐसी आँधी चलती है कि उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक सब मिलकर एक हो जाते हैं। भक्ति के ऐसे अखिल भारतीय स्वरूप से भारतीय जनता का साक्षात्कार होता है, जिसमें शोक-सन्तप्त लोगों को अद्‌भुत विश्रान्ति मिली। सामान्यतः चौदहवीं-पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक का काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है, जिसमें भक्ति-आन्दोलन अपना स्वरूप ग्रहण करता है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में भक्ति-आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण भूमिका सर्वविदित है। कला के लगभग सभी रूपों, यथा – संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, तथा स्थापत्य के साथ-साथ धर्म तथा दर्शन की जो सजीव और सार्थक परम्पराएँ भारतीय जनजीवन में घुली-मिली है, उनमें से अधिकांश भक्ति-आन्दोलन की देन है। भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता को रेखांकित करते हुए आलोचक मैनेजर पाण्डेय 'भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य' नाम पुस्तक में लिखते हैं, "भक्ति-आन्दोलन में भारतीय संस्कृति के अतीत की स्मृति है, अपने समय के समाज तथा संस्कृति की सजग चेतना है और भविष्य की गहरी चिन्ता भी है। यह केवल सांस्कृतिक ही नहीं है, बल्कि एक व्यापक सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। (भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरे संस्करण की भूमिका से)

3.2.2.1. भक्ति-आन्दोलन का उद्‌भव

भक्ति-आन्दोलन के उद्‌भव की पृष्ठभूमि या हिन्दी भाषा-भाषी उत्तर भारत में भक्ति के उदय के कारणों की पड़ताल में विद्वानों के बीच मत भिन्नता है। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक इतिहासकार जार्ज ग्रियर्सन भक्ति-आन्दोलन के उदय को नेस्टोरियन सम्प्रदाय के ईसाइयत से जोड़ते हैं। उन्होंने लिखा है, "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता है कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता।" (द्विवेदी हजारीप्रसाद, 1990 का संस्करण, हिन्दी साहित्य : उद्‌भव एवं विकास, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं.

62) ग्रियर्सन के अनुसार, "ईसवी सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुछ हिस्से में आ बसे और रामानुजाचार्य को इन्हीं 'ईसाई' भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का सन्देश मिला। (उपर्युक्त) ग्रियर्सन की यह स्थापना बाद में पूर्णतः गलत साबित हो गई। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि की स्थापनाओं में ग्रियर्सन के तर्कों को एक सिरे से खण्डित कर दिया।

रामचन्द शुक्ल भक्ति-आन्दोलन के उदय की पृष्ठभूमि में उत्तर भारत में इस्लाम के आगमन को एक महत्त्वपूर्ण कारण मानते हैं। उनके अनुसार हम्मीर के शासन की समाप्ति के साथ वीरगाथाकाल समाप्त होता है और भक्तिकाल की शुरुआत होती है। उन्हीं के शब्दों में, "हम्मीर के शासन के उपरान्त मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिन्दू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हराकर अपने धर्म की रक्षा का वीर प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदयग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।" (शुक्ल, रामचन्द्र, संवत् 2045, हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ.सं. 42)

ग्रियर्सन, आचार्य शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति के उदय की व्याख्या तीन भिन्न रूपों में करते हैं। ग्रियर्सन के लिए वह एक बाहरी प्रभाव है, रामचन्द्र शुक्ल के लिए बाहरी आक्रमण की प्रतिक्रिया है, द्विवेदीजी उसे भारतीय परम्परा का सहज विकास मानते हैं। एक तरह से देखें तो यह विदेशी, देशी और लोकपक्ष को महत्त्व देने की अलग-अलग परिणतियाँ हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शुक्ल इस बात से अनभिज्ञ थे कि भक्ति-आन्दोलन दक्षिण से उत्तर की ओर अग्रसर हुआ। उन्होंने अपने इतिहास में स्पष्ट रूप से लिखा है, "भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनैतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।" (उपर्युक्त) इस्लाम की आक्रामक परिस्थितियों ने भक्ति के इस प्रभाव को तीव्र कर दिया, यह उनकी मूल स्थापना है। इसमें दो राय नहीं कि आचार्य शुक्ल ने भक्ति के उदय में इस्लाम के प्रतिक्रिया को पहला स्थान दिया है। अपने इतिहास तथा भक्तकवियों के विवेचन के क्रम में वे हिन्दुओं के पराभव और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को भक्तिकाल के विकास का प्रमुख कारण मानते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'भक्तिकाल' का आरम्भ ही इन पंक्तियों से करते हैं, "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव-गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उनके देव मन्दिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और ना बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" (उपर्युक्त, पृ.सं. 43) कई विद्वानों ने शुक्लजी की इन मान्यताओं की आलोचना करते हुए उन पर साम्राज्यवादी इतिहासकार हेवेल का प्रभाव माना है और ब्रिटिश सरकार की साम्प्रदायिक दृष्टि का असर भी। किन्तु शुक्लजी के समग्र चिन्तन को देखने पर यह आरोप सही सिद्ध नहीं होता।

शुक्लजी की इतिहास-दृष्टि की आलोचना करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति को भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास माना। उनके अनुसार अगर उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन का कारण इस्लाम था तो दक्षिण भारत में कई सौ वर्ष पहले भक्ति-आन्दोलन कैसे सम्भव हो पाया, जबकि उस समय तक दक्षिण में इस्लाम का प्रवेश तक नहीं हुआ था। द्विवेदीजी के शब्दों में, "असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने 'अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना' लिखा है, वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे।" (द्विवेदी, हजारीप्रसाद, 1990 का संस्करण, हिन्दी साहित्य : उद्भव एवं विकास, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं. 62)

3.2.2.2. दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन का उद्भव

दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन का उदय पाँचवीं-छठवी शताब्दी में ही हुआ। इतिहासकारों ने भक्ति-आन्दोलन के उदय का प्रमुख कारण दक्षिण भारत में जाति व्यवस्था की जकड़बंदी को माना है। उस समय वहाँ जाति व्यवस्था अपनी चरम सीमा पर थी। अस्पृश्यता अपनी हदें पार कर चुकी थी। भक्ति-आन्दोलन भक्ति के क्षेत्र में जाति व्यवस्था के नकार का आन्दोलन है। यही वजह है कि भक्ति-आन्दोलन में निम्न वर्णों के भक्तकवियों की संख्या अधिक है। दक्षिण भारत में आलवार भक्तों ने भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के उदय की पृष्ठभूमि में आलवार भक्तों को याद करते हुए लिखते हैं, "स्पष्ट है कि आलवारों का भक्तिवाद भी जन साधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया।"

3.2.2.3. भक्ति-आन्दोलन में स्त्री-स्वर

मध्यकाल में निम्न जातियों के साथ-साथ औरतों की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय थी। यह अकारण नहीं है कि भक्ति-आन्दोलन में पहली बार भारी संख्या में स्त्री-अभिव्यक्ति का उन्मेष होता है। दक्षिण में अण्डाल गोदा और उत्तर-पश्चिम में मीरा स्त्री अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। नाभादास ने 'भक्तमाल' में कई भक्त कवयित्रियों उल्लेख किया है। इनमें सीता, सहचरी, झाली, सुमति, भटियानी, गंगा, गौरी, उबीठी, गोपाली, गनेश देई, मानमती, सत्यभामा, यमुना, कोली, रामा, मृगा, जगजेबी, कीकी, कमला, देवकी, हीरा तथा हरिचेरी आदि प्रमुख हैं। आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने भक्ति-आन्दोलन के उदय में निम्न वर्णों के साथ-साथ स्त्री जागरण को भी प्रमुखता दी है। उनके अनुसार, "मध्यकाल का पुरुष कवि भक्त होने के लिए 'जाति-पाँति, धन, धरम, बड़ाई' छोड़ता था तो स्त्री को लोक-लाज, कुल-हानि' तोड़नी पड़ती थी।" (त्रिपाठी, विश्वनाथ, 1989, मीरा का काव्य, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.सं. 83)

3.2.2.4. भक्ति-आन्दोलन : ऐतिहासिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि

भक्तिकाल का विस्तार मुख्य रूप से तुगलक वंश से लेकर मुगल वंश के बादशाह शाहजहाँ के शासन काल तक है। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमोत्तरी मार्ग से तुर्कों का भारत पर आक्रमण हुआ। राजपूत राजाओं की पारस्परिक फूट तथा शत्रुता के परिणामस्वरूप पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गोरी के हाथों तथा जयचन्द

कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा मारा गया। इसके पश्चात् ही दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। तुगलक वंश का शासन 1320-1412 ई. तक रहा। दिल्ली सल्तनत का शासनकाल सम्राज्य के विस्तार और विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अलाउद्दीन खिलजी के सत्ता में आने से पच्चीस वर्षों के भीतर दिल्ली सल्तनत की सेनाओं ने गुजरात और मालवा पर अधिकार कर लिया। साथ ही, राजस्थान के अधिकांश राजाओं को हराने के बाद दक्षिण भारत में दक्कन और मदुरै तक के क्षेत्रों को जीत लिया गया। आगे इस विस्तृत क्षेत्र को सीधे दिल्ली प्रशासन के अधीन रखने का प्रयास किया गया। विस्तार नीति की शुरुआत अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा हुई। उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस नीति को जारी रखा।

बाबर ने मुगल साम्राज्य का विस्तार दूर-दूर तक किया। 1530 ई. में बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ उत्तराधिकारी बना। लेकिन कई युद्धों में सफलता प्राप्त करने के बाद शेरशाह से वह युद्ध में परास्त हो गया और उसे दिल्ली शासन से अपदस्थ होना पड़ा। वे एक कुशल योद्धा और दक्ष शासक साबित हुए। उन्होंने न सिर्फ अपने साम्राज्य का विस्तार पूरे भारत में किया, अपितु कुशल प्रशासन और केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप व्यापार को भी बढ़ाया। 1556 ई. में मात्र 13 वर्ष की छोटी उम्र में अकबर के कुशल नेतृत्व में विशाल और स्थिर मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। अकबर के शासनकाल में राज्य मूलतः धर्मनिरपेक्ष तथा सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहित करने वाला बन गया। अकबर के बाद 17वीं सदी का पूर्वार्द्ध कुल मिलाकर प्रगति और विकास का काल रहा। इस अवधि में मुगल साम्राज्य जहाँगीर (1605-1627) तथा शाहजहाँ (1628-1658) इन दो शासकों के कुशल नेतृत्व में रहा। इन शासकों ने अकबर द्वारा विकसित प्रशासन व्यवस्था का और भी अधिक प्रसार किया। शाहजहाँ के अन्त के साथ हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की भी समाप्ति हो गई।

3.2.2.5. भक्ति-आन्दोलन की आर्थिक पृष्ठभूमि

मध्यकाल में भारतीय इतिहासकार भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में मुगलकालीन स्थिरता, वैभव, सम्पन्नता और सांस्कृतिक विकास आदि को मानते हैं। इन इतिहासकारों ने मध्यकालीन आर्थिक विकास को भक्ति-आन्दोलन के उदय का प्रमुख कारण माना है। इतिहासकार इरफान हबीब के अनुसार मध्यकाल से पूर्व श्रमिक मुख्य रूप से बंधुआ मजदूर थे। मुगलकाल में व्यापक पैमाने पर भवन, इमारत तथा सड़कें आदि बनीं। इसके लिए बड़े पैमाने पर मजदूरों की आवश्यकता हुई। अब ये मजदूर बंधुआ नहीं थे। उन्हें काम के बदले पैसा मिलता था। अर्थोपार्जन की वजह से उनकी स्थितियाँ सुधरीं। उनमें आत्मसम्मान का भाव जगा। तब उन्हें लगा कि उनकी सामाजिक-धार्मिक हैसियत कुछ है ही नहीं। एक तरह से भक्ति-आन्दोलन निम्न वर्ण के श्रमिकों का सामाजिक-धार्मिक हैसियत प्राप्ति का आन्दोलन है।

3.2.2.6. भक्ति-आन्दोलन की शास्त्रीय पृष्ठभूमि

भक्ति-आन्दोलन के उदय की पृष्ठभूमि में हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति को जिस भारतीय परम्परा का सहज विकास कहते हैं, वह वैदिक भक्ति से लेकर आलवार सन्तों की भक्ति से होते हुए कबीर, सूर, तुलसी तथा मीरा

आदि तक की भक्ति-यात्रा है। वैदिक वाङ्मय का सम्यक् अनुशीलन करने पर स्पष्टतः विदित होता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना करनेवाले आर्यों में भक्ति के मूल तत्त्व विद्यमान थे। ब्राह्मण युग में यज्ञ तथा अनुष्ठान की प्रधानता होने के कारण कर्मकाण्ड का अधिक विस्तार हुआ। इसके अनन्तर उपनिषद् काल में ज्ञानकाण्ड का पथ प्रशस्त हुआ। उपनिषदों के अनुसार "ब्रह्म या आत्मा सर्वव्यापक है और मानव-जीवन की समस्त चेष्टाओं का एकमात्र चरम लक्ष्य है। अतः वही हमारी पूजा, प्रशंसा तथा श्रद्धा का पात्र होना चाहिए।" (जयरामन, डॉ॰ पी॰, 2003, भक्ति के आयाम, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.सं. 31)

भक्तिवाद का व्यापक प्रचार महाभारत काल में हुआ। महाभारत के भीष्म पर्व का नारायणीय अंश भक्ति सिद्धान्त की घोषणा करता है। गीता के अनेक प्रसंगों में भगवत प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन भक्ति को ही स्वीकार किया गया है। अनन्य भक्ति की श्रेष्ठता की जो घोषणा पहले से कर दी गई थी उसकी प्रतिष्ठा पुराण साहित्य के साथ और भी बढ़ गई। पौराणिक भक्ति धर्म के उद्भव के साथ ही शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, नारद भक्ति सूत्र ग्रन्थों में भक्ति का दार्शनिक विवेचन होने लगा।

भक्ति-आन्दोलन के दार्शनिक पहलुओं का सीधा सम्बन्ध नारदीय भक्ति से है। नारदीय भक्ति के अनुसार ईश्वर की परम प्रेम-प्राप्ति ही भक्ति है। नारद ने भगवत् कृपा प्राप्ति के सिद्धान्त को श्रेष्ठ ठहराकर भगवान के गुण-श्रवण, स्मरण, कीर्तन आदि का विधान किया। इन सूत्रों की सर्वाधिक विशेषता प्रेमा भक्ति का आख्यान है जिसका व्यापक एवं विशद् रूप मध्यकालीन निम्बार्क, वल्लभ, राधा बल्लभीय, गौड़ीय आदि सम्प्रदायों में पाया जाता है।

3.2.2.7. भक्ति-आन्दोलन और सामाजिक-धार्मिक सुधार

भक्ति-आन्दोलन के मूलवर्ती धार्मिक चरित्र के नाते उसकी प्रगतिशील सामाजिक अन्तर्वस्तु की ओर सम्यक् ध्यान नहीं दिया गया। आलोचक शिवकुमार मिश्र के अनुसार, "धर्म को साधारण जन को बरगलाने तथा भरमाने वाली प्रवृत्ति मानते हुए उसे एक मध्यकालीन दकियानूसी प्रवृत्ति को उभारने वाला तथा इस प्रकार साधारण जन को उसकी आवश्यक सामाजिक चेतना से पराङ्मुख करनेवाला आन्दोलन मानकर उसकी व्याख्या की गई है।" (मिश्र, शिवकुमार, 1982, भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य, नई दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन, पृ. सं. 16) उन्होंने ठीक ही लिखा है कि इस प्रकार के विद्वान् केवल युग विशेष के वास्तविक चरित्र को सही रूप से पहचानने से इनकार करते हैं, वे किसी युग के अन्तर्विरोधों तथा उनके पीछे काम कर रही सामाजिक-आर्थिक शक्तियों को भी न पहचानने के दोषी हो जाते हैं।

मध्यकाल में धार्मिक आन्दोलन जिस सन्दर्भ के अनुसार सामाजिक आन्दोलन भी होता है, भारत ही नहीं, बल्कि यूरोप तथा दुनिया के अन्य देशों में भी अपनी पहचान कराता है। मध्ययुग में उभरकर सामने आने वाला कोई भी जनतांत्रिक अभियान धर्म की चौहद्दियों के भीतर ही अपनी अभिव्यक्ति करता है। यूरोप के महान् सुधार आन्दोलन का उल्लेख करते हुए 'लुडविग फारबाख' नामक पुस्तक में जो बातें एंगेल्स लिखते हैं, वह भारत

के चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के भक्ति-आन्दोलन के उदय से सीधे जुड़ते हैं, "मध्ययुग ने धर्म दर्शन के साथ विचारधारा के अन्य सभी रूपों दर्शन, राजनीति, विधिशास्त्र को जोड़ दिया, और इन्हें धर्म, दर्शन की उपशाखाएँ बना दिया। इस तरह उसने हर सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलन को धार्मिक जामा पहनाने के लिए विवश किया। आम जनता की भावनाओं को धर्म का चारा देकर और सब चीजों से अलग रखा गया। इसलिए कोई भी प्रभावशाली आन्दोलन आरम्भ करने के लिए अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक था।" (उपर्युक्त, पृ. सं. 16)

भक्ति-आन्दोलन के उदय में पाँचवीं-छठी से लेकर चौदहवी-पन्द्रहवीं शताब्दी तक भक्त आचार्यें ने समय-समय पर जो धार्मिक सुधार के कदम बढ़ाए, उनका महत्त्व कम नहीं है। श्री दामोदरन ने इन धार्मिक सुधार आन्दोलन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं, "भारत में धर्म पर आस्था सदा सामाजिक प्रगति के लिए प्रतिकूल नहीं रहा। वास्तव में इसने प्रायः ही उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का रूप धारण किया। भारत में कितने ही सामाजिक और राजनैतिक संघर्ष धार्मिक सुधारों के आवरण में लड़े गए। इस प्रकार धार्मिक आन्दोलन ने विशेषकर उस समय जब वे प्रारम्भिक अवस्था में थे, और उन्होंने किसी पंथ या सम्प्रदाय का रूप धारण नहीं किया था, एक गतिपूर्ण और प्रगतिशील भूमिका ही अदा की। हमारे इतिहास के कितने ही मोड़ों पर जनता में धार्मिक शिक्षाओं के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने विलक्षण सृजनात्मक शक्ति को जन्म दिया, ऐसी शक्ति को जन्म दिया जो अभूतपूर्व सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक हुए।" (दामोदरन, के०, 1994, भारतीय चिन्तन परम्परा, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं. 76)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा लैंगिक आदि कई कारक मौजूद थे। सामाजिक कारणों में जहाँ वर्ण-व्यवस्था का स्तरीकरण प्रमुख था वहीं लैंगिक कारणों में स्त्रियों की हीन अवस्था। धार्मिक कारणों में देश में धर्म की विविध परम्पराएँ एवं धार्मिक आचार्यों द्वारा किए गए धार्मिक सुधार आन्दोलनों का योगदान प्रमुख था तो आर्थिक कारणों में मुगलकालीन आर्थिक व्यवस्थाएँ और शिल्पकारों, बुनकरों, कारीगरों तथा जाटों आदि की अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। राजनैतिक कारणों में मुगलकालीन शासन-व्यवस्था और उसके प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया को नज़रंदाज नहीं किया जा सकता है, वहीं सांस्कृतिक कारकों में भारत की सांस्कृतिक बहुलता और बहुभाषिकता को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

3.2.3. वैष्णव भक्ति

3.2.3.1. वैष्णव भक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

विष्णु की भक्ति वैष्णव भक्ति है। विष्णु ही वासुदेव हैं, नारायण हैं, कृष्ण हैं और राम हैं। इसलिए इन सभी की भक्ति वैष्णव भक्ति कहलाती है। विष्णु शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'व्याप्त होना'। सर्वव्यापी सत्ता को 'विष्णु' कहा जाता है। इस अर्थ में विष्णु 'ब्रह्म' का ही पर्यायवाची हो जाता है। "विष्णु भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म का प्रचीन

नाम भागवत धर्म या पंचरात मत है। इस सम्प्रदाय के प्रधान उपास्य वासुदेव हैं, जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज इन छह गुणों से सम्पन्न होने के कारण भगवान् या भगवत् कहा गया और भगवत् के उपासक भागवत कहलाते हैं।" (वर्मा, धीरेन्द्र तथा अन्य, 1964, हिन्दी साहित्य कोश, नई दिल्ली, ज्ञानमण्डल, पृ. 433)

3.2.3.2. वैष्णव भक्ति का उद्‌भव और विकास

वैष्णव भक्ति का आधार ग्रन्थ भागवत पुराण को माना जाता है। हिन्दी के समूचे मध्यकालीन भक्ति साहित्य को ही नहीं किन्तु समस्त भारतीय भाषाओं के भक्ति साहित्य को भागवत पुराण ने अत्यन्त गम्भीर एवं व्यापक रूप से प्रभावित किया है। भागवत पुराण के सम्बन्ध में इतिहासकारों का मत है कि उसकी रचना लगभग दसवीं शती ईसवी के प्रारम्भ में दक्षिण भारत में हुई। सामान्यतया वैष्णव भक्ति का सम्बन्ध सगुण भक्ति से जोड़ा जाता है और सूर, तुलसी तथा मीरा आदि को वैष्णव भक्तकवि / कवयित्री की संज्ञा दी जाती है। किन्तु यह बात सही नहीं है। निर्गुण भक्ति भी वैष्णव भक्ति ही है। इसलिए निर्गुण भक्तकवि कबीर भी वैष्णव भक्त माने जाते हैं। भागवत पुराण ने सगुण एवं निर्गुण दोनों तरह की भक्ति को वैष्णव भक्तिकी संज्ञा दी है। भागवत के दशम स्कन्ध में ब्रह्म का सगुण-साकार रूप का तथा बारहवें स्कन्ध में निर्गुण-निराकार रूप का वर्णन किया गया है।

वैष्णव भक्ति का आकार-प्रकार एवं प्रसार अत्यन्त व्यापक है। दक्षिण भारत में आलवार भक्ति से लेकर उत्तरभारत में रामभक्ति और कृष्णभक्ति तथा कबीर, नानक, दादू सरीखे कवियों की निर्गुण भक्ति, बंगाल में चैतन्य की कृष्णभक्ति से लेकर महाराष्ट्र में विट्ठल भक्ति तक अर्थात् समूचे देश में वैष्णव भक्ति का अभूतपूर्व प्रसार देखने को मिलता है। वैष्णव भक्ति का वैविध्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सगुण वैष्णव भक्ति और निर्गुण वैष्णव भक्ति के मध्य तात्त्विक भेद नहीं है किन्तु दोनों वैष्णव भक्ति में वैचारिक अन्तर देखने को अवश्य मिलता है। और यही अन्तर वैष्णव भक्ति के पाट को चौरस करता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निर्गुण और सगुण के रूप में वैष्णव भक्ति के दोनों आयामों को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "पौराणिक अवतारों को केन्द्र में करके सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण परब्रह्म, जो योगियों का ध्येय था, उसे केन्द्र में करके निर्गुण प्रेम भक्ति की साधना के रूप में। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौता का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का। एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का। एक ने श्रद्धा को पथ प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को। एक ने सगुण साकार भगवान को अपनाया, दूसरी निर्गुण निराकार भगवान को । पर दोनों का ही मार्ग प्रेम था। सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था। केवल बाह्याचार दोनों को ही सम्मत नहीं थे। आन्तरिक प्रेम निवेदन दोनों का ही अभीष्ट था। अहैतुक भक्ति दोनों को ही काम्य थी। बिना शर्त भगवान के समक्ष आत्मसमर्पण दोनों को ही प्रिय थे।" (द्विवेदी, हजारीप्रसाद, 1983, कबीर, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं. 283)

3.2.3.3. वैष्णव भक्ति का सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

वैष्णव भक्त की यह विविधता भारतीय संस्कृति की विविधता को अपने में समेटे हुए है। शंकराचार्य के वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लामी धर्म आदि के मिश्रण से भारत की जो मिली-जुली संस्कृति निर्मित हुई, वैष्णव भक्ति की मूल आत्मा में इसे देखा जा सकता है। वैष्णव भक्ति के अध्ययन से इस बात को स्वीकार कर लेने मे कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि "हर्षवर्धन के समय तक भारत के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अनेक प्रकार के लोगों और जातियों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान की एक जीवित क्रिया चलती रही और यद्यपि भारतीय सांस्कृतिक जीवन की प्रधान धारा में बाहर से आई हुई अनेक जातियों, कबीलों, नस्लों और घुमक्कड़ खानाबदोशों के झुंड अपने आचार-विचारों को लिए हुए घुल-मिल गए, फिर भी उन्होंने चले आते हुए सांस्कृतिक प्रवाह को ज्यों-का-त्यों नहीं रहने दिया, उसे अपने रंग में भी रंगा। फलतः भारतीय सांस्कृतिक जीवन की एक ऐसी छवि उभरी जो यहाँ पर रहने वाली किसी एक खास जाति की देन न होकर सबके सम्मिलित प्रयासों का परिणाम थी।" (मिश्र, शिवकुमार, 1982, भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य, नई दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन, पृ.सं. 69) वैष्णव भक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति और सामाजिक यथार्थ की कई चेतनाएँ यहाँ एक साथ क्रियाशील थीं। नाथ और सिद्ध परम्परा के वाहक निर्गुण वैष्णव भक्तों द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों के बाह्याचार, धार्मिक पाखण्ड, जाति-पाँति की कट्टरता, सामाजिक रूढ़ीवाद और धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध भारत के पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी भागों में आन्दोलन चलाया गया। सगुण वैष्णव भक्ति में भी प्रेम ,गुरु-महिमा, सामन्ती मनोवृत्ति का विरोध के साथ-साथ जाति-पाँति की संकीर्णता के बरक्स उदार-दृष्टि को रेखांकित किया जा सकता है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वैष्णव भक्ति अपने आप में शुद्ध धार्मिक आन्दोलन की अभिव्यक्ति न होकर तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक यथार्थ की टकराहटों और असंगतियों की आदर्शवादी अभिव्यक्ति है। इस पृष्ठभूमि में प्रख्यात चिन्तक के. दामोदरन को याद किया जा सकता है, जिन्होंने लिखा है, "भक्ति-आन्दोलन के रचनाकारों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया, सामाजिक विषय-वस्तु में वे जाति प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे। इस आन्दोलन ने भारत में विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों के उदय को नया बल प्रदान किया, साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं और उनके सृजनशीलता को जैसी अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य में हुई है, वैसी भक्तिकाल के पहले की भारतीय कविता में कम ही मिलती है।" (दामोदरन, के०, 1994, भारतीय चिन्तन परम्परा, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं. 111)

वैष्णव भक्तकवियों की कविता की अन्तर्वस्तु, रचना-दृष्टि और अभिव्यक्ति पद्धति का जो नया विकास हुआ वह संस्कृत काव्य और काव्य शास्त्र से बहुत कुछ स्वतन्त्र है। इनकी अन्तर्वस्तु जन-संस्कृति और जनजीवन के अनुभवों से निर्मित है। वैष्णव भक्तकवियों की प्रगीतात्मकता ग्रामगीतों की मौखिक परम्परा की देन है। इसके अधिकांश छन्द हिन्दी के जातीय छन्द हैं। इनकी कविताओं में आम जन की आकांक्षा, अभिलाषा और स्वप्न पलते हैं। तभी तो वैष्णव भक्त चण्डीदास ने मनुष्य और मनुष्यता को सबसे ऊपर रखते हुए कहा –

सबार ऊपर मानुष सत।

3.2.4. प्रमुख सम्प्रदाय एवं आचार्य

3.2.4.1. निम्बार्काचार्य का निम्बार्क सम्प्रदाय

पण्डित बलदेव उपाध्याय तथा निम्बार्क मतानुयायी अनेक आधुनिक विद्वान् निम्बार्काचार्य को वैष्णव सम्प्रदायों में प्राचीनतम मानते हैं, किन्तु भण्डारकर, परशुराम चतुर्वेदी तथा हरवंश लाल शर्मा आदिविद्वानों ने इनका समय 1162 ई. के आसपास माना है। उत्तर भारत में राधा-कृष्णभक्ति का प्रचार करने का श्रेय इन्हीं को जाता है। इनका जन्म दक्षिण के जिले के निम्ब ग्राम में माना जाता है। इनके माता का नाम सरस्वती तथा पिता का नाम जगन्नाथ था। कृष्णभक्ति में वे दक्षिण से उत्तर आ गए और ब्रज में गिरिराज गोवर्धन के पास इन्होंने अपनी साधना स्थली बनायी। प्रत्येक साधु, महात्मा एवं महापुरुषों के साथ अनेक चमत्कारी कथाएँ जुड़ जाया करती हैं। निम्बार्क के साथ भी एक कथा जुड़ी हुई हैं कि नीम के वृक्ष पर सुदर्शन चक्र का आह्वान कर इन्होंने कुछ देर के लिए सूर्यास्त को रोक लिया था, जिससे कि कुछ उपासक सूर्यास्त के बाद भी भोजन कर सकें। तभी से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ गया था। वैसे इनका पुराना नाम नियमानन्द था।

वैष्णवों के चार प्रमुख सम्प्रदायों में एक है द्वैताद्वैत सम्प्रदाय, इसे निम्बार्क सम्प्रदाय भी कहते हैं। इसके अनुसार ब्रह्म सर्वशक्तिमान है। इस जगत् के रूप में परिणत होकर भी वे निर्विकार हैं, जगत् की 'स्थिति' सृष्टि एवं 'लय' उनसे ही होते हैं। वे जगत् के निमित्त एवं उपादन कारण हैं, जगत् उनका परिणाम है। जीव अणु है और ब्रह्म का अंग है। ब्रह्म जीव से पृथक् और अपृथक् भी हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव की मुक्ति का साधन भक्ति है। निम्बार्काचार्य के दो ग्रन्थ माने जाते हैं – एक, वेदान्त पारिजात सौरभ तथा दूसरा दशश्लोकी। इनके अनुसार विश्व के कण-कण में प्रभु हैं –

राधया सहितो देवो माधवो वैष्णवोत्तमेः।
अर्च्यो वन्द्यश्च ध्येयश्च श्री निम्बार्क पदानुगैः॥

3.2.4.2. रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय

रामानुजाचार्य का जन्म पेरुम्बुपुरम में संवत् 1074 विक्रम में हुआ। इनकी माँ का नाम कान्तिमती एवं पिता का नाम केशवभट्ट था। बचपन में ही इनके पिता का देहान्त हो गया था, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। ये भारत के महान् तत्त्वचिन्तक आचार्यों में से एक माने जाते हैं। रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना है।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार संसार के सभी प्राणी में चिदचिद्वशिष्ट ब्रह्म का ही अंश है, जो उसी से उत्पन्न होकर भी उसी में लीन हो जाता है। अतः इन जीवों के लिए उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य लाभ करने का यत्न करें। रामानुजाचार्य ने भगवान के सगुण एवं निर्गुण रूप दोनों को स्वीकार किया। इनका मानना है कि ब्रह्म यद्यपि निराकार है, पर वही जगत् के रूप में परिणत होता है। ब्रह्म

और जीव दोनों चेतन हैं। शंकराचार्य ने जहाँ कहा – "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या", वहीं रामानुजाचार्य ने कहा – "जगत् भी सत्य है, मिथ्या नहीं है"। वेदान्तसार, वेदार्थ संग्रह और वेदान्त दीपिका इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

3.2.4.3. श्री मध्वाचार्य का द्वैतवादी सम्प्रदाय

इनका काल सन् 1238 से 1317 था। दक्षिण भारत के तीन प्रसिद्ध मत प्रवर्तकों में मध्वाचार्य एक हैं। इनके सिद्धान्त का नाम द्वैतवादी सिद्धान्त था। इन्हें 'पूर्णप्रज्ञ' और आनन्द तीर्थ के नाम से भी जाना जाता है। इनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व श्री मध्व सिद्धान्त के नाम से जना जाता है।

मध्वाचार्य का जन्म मंगलूर जिले के उडीपि के पास वेलालिग्राम में पिता नारायण भट्ट एवं माता वेदवती परिवार में हुआ था। ये जगह-जगह विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने जाते थे और वेदों की प्रामाणिकता बताते। मायावाद का खण्डन, मर्यादा का संरक्षण एवं भक्ति का प्रचार करते। इन्होंने कितने ही मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना की।

मध्वाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार भगवान पर दृढ़ प्रेम ही भक्ति है। इसी से जीव सांसारिक दुःखों को पार करके मुक्तिलाभ कर सकता है। इनके मत से ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव अणु परिणाम है और भगवान का दास है। वेद नित्य और अपौरुषेय है। श्री मध्वाचार्य रचित 37 ग्रथों में ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य, गीताभाष्य, श्री कृष्णामृत-महार्णव आदि प्रमुख हैं।

3.2.4.4. आचार्य रामानन्द का सम्प्रदाय

रामानन्द रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में दीक्षित थे और चौदहवीं पीढ़ी के आचार्य माने जाते हैं। इनके गुरु श्री सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य राघवानन्दजी थे। रामानन्द के सम्बन्ध में प्रचलित कथन – "भक्ति द्रावणी ऊपजै लाये रामानन्द। परगट कियो कबीर ने सप्तद्वीप नवखण्ड।" से पता चलता है कि बहुत पहले से ही भक्ति का सम्बन्ध दक्षिण भारत से मान लिया गया था। दक्षिण से भक्ति रामानन्द के गुरु राघवानन्द लाये थे, उन्हीं के माध्यम से रामानन्द ने उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। रामानन्द की अवधि संवत् 1425 से 1515 तक मानी जाती है। भक्तमाल के अनुसार ये पुण्यसदन शर्मा तथा सुशीला देवी के पुत्र थे। इनका जन्म स्थान प्रयाग था। मध्यकाल के भक्त आचार्यों में सबसे बड़े यात्री रामानन्द ही माने जाते हैं, कदाचित् इन्हीं यात्राओं ने इनके मन पर समानता-सिद्धान्त का तर्क बैठाया होगा। भक्ति के क्षेत्र में रामानन्दजी का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने विष्णु के अन्य रूपों में 'रामरूप' को ही लोक के लिए अधिक कल्याणकारी माना।

रामानन्द क्रान्तिकारी आचार्यों के रूप में भक्ति-आख्यान में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने कदाचित् पहली बार उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को सगुण भक्ति का अधिकारी माना और देशभेद, वर्णभेद आदि का विचार भक्ति मार्ग से दूर रखा। रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षा केवल द्विज जातियों को ही दी जाती थी, पर स्वामी रामानन्दजी ने रामभक्ति के द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संगठन किया जो आज भी 'वैरागी' के

नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ध्यान रखने के बात यह है कि ये आचार्य भक्ति के क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था को खारिज करते थे, किन्तु सामाजिक जीवन यथा खान-पान में वर्ण-व्यवस्थागत पदानुक्रम के पक्षधर थे।

रामानन्दजी के रचे केवल दो संस्कृत ग्रन्थ मिलते हैं – वैष्णवमताब्जभाष्कर और रामार्चन पद्धति। रामानन्दजी के प्रमुख शिष्य – कबीरदास, रैदास, पीपा, सेन आदि हैं। रामानन्द के योगदान को रेखांकित करते हुए वरिष्ठ आलोचक शिवकुमार मिश्र लिखते हैं, "रामानुज की शिष्य परम्परा में रामानन्द ने एक कदम और आगे बढ़कर परम्परागत वैष्णव धर्म की व्यवस्था पर चोट करते हुए भगवत्भक्ति का अधिकारी न केवल शूद्रों और चाण्डालों को माना, वरन् मुसलमानों को भी अपनी शिष्य परम्परा में स्वीकार करते हुए एक सामान्य मानव धर्म के लिए रास्ता साफ कर दिया। ... 'जाति पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' शूद्रों, अंत्यजों और मुसलमानों के बीच से रूढ़ियों के सड़े-गले जम्बाल जाल को काटते हुए, भक्ति के सहज निर्मल प्रवाह में अवगाहन करती हुई और उपेक्षितों, पीड़ितों तथा पददलितों की जनम-जनम की आकांक्षा को फलवती करते हुए सन्तों की, अंत्यज, शूद्र और मुसलमान सन्तों की ऐसी पंक्ति सामने आई, अब तक के सांस्कृतिक जीवन के इतिहास में जिसकी मिसाल नहीं है।"

3.2.4.5. वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग

पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री वल्लभाचार्य का जन्म समय संवत् 1535 विक्रम एवं मृत्यु काल संवत् 1587 विक्रम माना जाता है। इनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट तथा माता का नाम एल्लमागारु था। इनका परिवार तैलंग निवासी था, किन्तु वे उत्तर भारत में आकर बस गए थे। वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय में दीक्षा ली तथा अद्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

रामानुजाचार्य से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त आचार्य हुए हैं, उनका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था, जिसके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती है। शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था, वल्लभाचार्य ने उलटकर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा। भक्ति में इन्होंने 'प्रेम' के महत्त्व को स्थापित किया। प्रेमलक्षणा भक्ति ही इन्होंने ग्रहण की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि प्रेम साधना में वल्लभ ने लोकमर्यादा और वेदमर्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान का अनुग्रह होता है, जिसे 'पोषण' या 'पुष्टि' कहते हैं। इसी से वल्लभाचार्य ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टिमार्ग' रखा। उपासना के क्षेत्र में वल्लभाचार्य की मुख्य देन बाल-कृष्ण पूजा का प्रचार-प्रसार है। इन्होंने अपनी भक्ति में 'प्रपत्ति' को विशेष स्थान दिया। कृष्ण के साथ राधा की उपासना को भी उन्होंने स्वीकार किया, लीला को वल्लभाचार्य ने बहुत ऊँचा स्थान दिया है।

कृष्णभक्ति के अमर गायक सूरदास की निर्मिति में वल्लभाचार्य का भारी योगदान है। सूरदास पहले केवल विनय के पद गाया करते थे, वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर बाल कृष्ण की लीला गायन की ओर प्रेरित किया। नन्ददास, कृष्णदास तथा परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवि भी इनके शिष्य थे। पूर्व मीमांसा भाष्य, उत्तर मीमांसा या ब्रह्मसूत्र भाष्य, तत्त्वदीपनिबन्ध आदि इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

3.2.4.6. आलवार सन्त

दक्षिण भारत में भक्ति की मुख्यतः दो धाराएँ विकसित हुईं – आलवार और नयनार। आलवार सन्त जहाँ वैष्णव धर्म के पुरोधा माने गए वहीं नयनार सन्त शैव भक्ति के। शैव सन्त 'शैव समयाचार्य' के नाम से जाने जाते हैं। शिव में इनकी परम निष्ठा रही और शिव की लीलाओं का वर्णन उनके 'तैवरम्' नामक ग्रन्थ में मिलता है। नयनार सन्तों की शिवनिष्ठा प्रसिद्ध है। शिवभक्तों में तिरसठ भक्त बहुत विख्यात हैं, जिनकी जीवन कथा को 'महापुराण' नाम से जाना जाता है।

दक्षिण भारत में जो वैष्णव सन्त थे, वे आलवारों के नाम से जाने गए। आलवारों का समय पाँचवीं शती से लेकर आठवीं-नौंवी शती तक माना जाता है। आलवार सन्तों की संख्या बारह है। आलवार भक्ति का प्रमुख ग्रन्थ 'दिव्य प्रबन्धम्' है, जिसमें सभी आलवार भक्तों के पद संकलित हैं। यह चार हजार पद्यात्मक स्तुतियों का भण्डार है। इसे तमिल भाषा का वेद माना गया है। आलवार भक्तों ने अपनी रचनाओं में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है। फिर भी इन्होंने अनेक पदों में भक्ति के महत्त्व का गान किया है।

आलवारों के 'दिव्य प्रबन्धम्' में कृष्ण जन्मोत्सव से लेकर उनकी बाल लीलाओं, पूतना वध, शकटासुर वध, कलिया दमन, कंस वध, माखन चोरी, वेणुवादन, वन-भोजन, चीर हरण, रासलीला, गोवर्धन धारण, रुक्मिणी हरण, द्रोपदी रक्षा, गीता उपदेश आदि कृष्ण सम्बन्धी अनेक पौराणिक कथाओं के वर्णन मिलते हैं।

प्रथम आलवार भक्त पोयगै आलवार ने ज्ञान, योग, कर्म, अहंकार आदि की निष्प्रयोजनता का वर्णन करते हुए भक्ति के महत्त्व की स्थापना की। उनका कहना है, "भगवान् नारायण ने ब्रह्मा की सृष्टि की जो समस्त जगत् का कारण है।" पोयगै आलवार की विशेषता यह है कि वे शिव भक्ति को नकारते नहीं हैं। उन्होंने कहा है कि "विश्व में नाना प्रकार के देवताओं की उपासना की जाती है, किन्तु उनमें त्रिदेव – ब्रह्मा, विष्णु और शिव ही महत्त्वपूर्ण देवता हैं त्रिदेवों में भी क्षीरसागरवासी विष्णु प्रधान है।" (जयरामन, डॉ॰ पी॰, 2003, भक्ति के आयाम, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. सं. 290)

आलवार भक्तों में नम्मालवार कृष्ण के बाल रूप का वर्णन सर्वाधिक किया है। बाद में चलकर सूरदास ने कृष्ण के बाल-लीला वर्णन को व्यापकता प्रदान की। भक्ति की विशेषता समझाते हुए ये लिखते हैं कि कलियुग के समस्त दुष्प्रभावों को दूर करने का एकमात्र साधन भक्ति है।

बारह आलवार सन्तों में आंडाल गोदा (रंगनायकी) स्त्री भक्त कवयित्री थीं। मीरा को दक्षिण की आंडाल कहा जाता है। दक्षिण में भक्ति का साक्षात् स्वरूप आंडाल थीं जो विष्णु भगवान के प्रति पूर्णतः समर्पित थीं। आंडाल का शरीर विष्णुचित्त के बगीचे में रहता था। वह गोपियों के साथ खेलती थी। उसका मन वृन्दावन में अपने प्रियतम कृष्ण को ढूँढता फिरता था। श्री रंगनाथ के नाम पर व्याकुल आंडाल कह उठती हैं –

मधुरं मधुरं बहुरम्य विभोमधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
गधुगन्धि मृदु स्मितमेत्दहो मधुरं मधुरं मधुरंमधुरम्॥

आलवार सन्तों ने वैष्णव भक्ति को अद्भुत ऊँचाई प्रदान की है। भक्ति के साथ-साथ मनुष्यता की रक्षा इन भक्तकवियों का ध्येय था। उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति के प्रसार में आलवार सन्तों की प्रमुख भूमिका रही है।

3.2.5. पाठ-सार

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में भक्ति-आन्दोलन का मूल्य और महत्त्व सर्वाधिक है। इस आन्दोलन ने लगभग समग्र भारतीय जनता को प्रभावित किया है। भक्ति का आरम्भ दक्षिण भारत में हुआ। वहाँ के आलवार और नयनार सन्तों ने भक्ति-आन्दोलन को व्यापकता प्रदान की। 'दिव्य प्रबन्धम्' में आलवार भक्तकवियों की कविताएँ संकलित हैं। आचार्य रामानुजाचार्य और आचार्य रामानन्द के माध्यम से भक्ति-आन्दोलन सम्पूर्ण उत्तर भारत फैल गया। मिथिला के कवि कोकिल विद्यापति उत्तर भारत के पहले भक्तकवि हुए। विद्यापति के भक्ति पदों में कृष्ण और शिव दोनों की भक्ति की गई है। वैष्णव भक्ति और शिव भक्ति के बीच सन्तुलन-सामंजस्य की कोशिश विद्यापति का महत्त्वपूर्ण अवदान है। उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन को प्रचारित करने में कवि कबीरदास की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस्लाम के आगमन को उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के उदय का प्रमुख कारण मानते हैं। उनकी धारणा है कि मुसलमानों के आगमन के बाद यहाँ के 'हताश' और 'निराश' मानव जाति को भक्ति की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। इससे अलग हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में भारत में आरम्भ से ही भक्ति की अविच्छिन्न परम्परा और दक्षिण भारत में कई वर्ष पूर्व हुए भक्ति-आन्दोलन का होना मानते हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण इतिहासकार मुगलशासन की स्थापना के बाद उत्तर भारत में हुए आर्थिक सुधार को भक्ति-आन्दोलन का एक प्रमुख कारण मानते हैं। वास्तव में भक्ति-आन्दोलन के उदय में इन सभी कारणों का योगदान रहा है।

भक्ति-आन्दोलन में वैष्णव भक्ति का विशेष महत्त्व है। वैष्णव भक्ति का आधार ग्रन्थ भागवत पुराण को माना जाता है। भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण भारत के आलवार, नयनार भक्तकवियों के अतिरिक्त रामभक्त और कृष्णभक्त-कवियों के नाम भी जुड़ जाते हैं। इन कवियों के अतिरिक्त निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द तथा वल्लभाचार्य आदि आचार्यों का भक्ति-आन्दोलन के उदय और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही

है। इन आचार्यों के अलग-अलग सम्प्रदाय थे, जिनमें भक्ति के सैद्धान्तिक और दार्शनिक पहलुओं पर चिन्तन किया जाता था।

आलवार सन्तों ने वैष्णव भक्ति को नई जमीन प्रदान कर उसे विलक्षण ऊँचाई प्रदान की। इनमें बारह भक्तकवि थे, जिनमें आंडाल गोदा भक्त कवयित्री थीं। अखिल भारतीय भक्ति-आन्दोलन ने मानवीय सम्वेदना के सूत्र को जोड़े रखा जो इस आन्दोलन का ऐतिहासिक कार्य माना जाता है।

3.2.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. आंडाल का सम्बन्ध है –

(क) नयनार से
(ख) रामभक्ति से
(ग) शैवभक्ति से
(घ) आलवार से

सही उत्तर – (घ)

2. वैष्णव भक्ति का आधार ग्रन्थ किसे माना जाता है ?

(क) रामायण
(ख) महाभारत
(ग) भागवत पुराण
(घ) अष्टाध्यायी

सही उत्तर – (ग)

3. 'सन्तन को कहा सिकरी सों काम' किनकी पंक्ति है ?

(क) तुलसीदास
(ख) कुम्भनदरस
(ग) सूरदास
(घ) जायसी

सही उत्तर – (ख)

4. पुष्टिमार्ग के प्रणेता आचार्य कौन हैं ?

(क) वल्लभाचार्य
(ख) मध्वाचार्य
(ग) रामानन्द
(घ) रामानुजाचार्य

सही उत्तर – (क)

5. वैष्णवमताब्ज भाष्कर के रचयिता कौन हैं ?

(क) मध्वाचार्य

(ख) वल्लभाचार्य

(ग) रामानन्द

(घ) रामानुजाचार्य

सही उत्तर – (ग)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भक्ति-आन्दोलन के उद्भव और विकास में रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।
2. भक्ति-आन्दोलन में भक्त कवयित्रियों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिए।
4. निर्गुण भक्ति की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
5. किसी एक भक्त आचार्य के जीवन वृत्त पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भक्ति-आन्दोलन के उद्भव और विकास में साहित्येतिहासकारों के मतों को स्पष्ट कीजिए।
2. वैष्णव भक्ति के विकास में सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका की पड़ताल कीजिए।
3. आप कैसे कह सकते हैं कि भक्ति-आन्दोलन भारत के लिए एक युगान्तकारी घटना सिद्ध हुई।
4. भक्ति-आन्दोलन में भक्त आचार्यों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
5. कबीरदास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

व्यवहार

1. इन दिनों भी भक्ति कविता लिखी जा रही है, आप अपने प्रदेश में लिखी जा रही भक्ति कविता का अध्ययन करें और बीस कविताओं का संकलन तैयार करें।

3.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

01. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1990). हिन्दी साहित्य : उद्भव एवं विकास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 62

02. शुक्ल, रामचन्द्र (संवत् 2045). हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा.

03. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1990 का संस्करण). हिन्दी साहित्य : उद्भव एवं विकास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 63
04. त्रिपाठी, विश्वनाथ (1989). मीरा का काव्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 83
05. जयरामन, पी. (2003). भक्ति के आयाम. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन : पृ. सं. 31
06. मिश्र, शिवकुमार (1982). भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य. नई दिल्ली : लोकभारती. पृ. सं. 16
07. दामोदरन, के. (1994). भारतीय चिन्तन परम्परा. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 8
08. वर्मा, धीरेन्द्र तथा अन्य (1964). हिन्दी साहित्य कोश. नई दिल्ली : ज्ञानमण्डल. पृ. सं. 433
09. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1983). कबीर. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 283
10. दामोदरन, के. (1994) भारतीय चिन्तन परम्परा. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 111

3.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. पाण्डेय, मैनेजर (1993). भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. दूसरे संस्करण की भूमिका से
02. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1990 का संस्करण). हिन्दी साहित्य : उद्भव एवं विकास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 62
03. वही
04. शुक्ल, रामचन्द्र (संवत् 2045) हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा. पृ. सं. 42
05. वही, पृ. सं. 54
06. वही, पृ. सं. 42
07. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1990 का संस्करण). हिन्दी साहित्य : उद्भव एवं विकास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 63
08. वही
09. त्रिपाठी, विश्वनाथ (1989). मीरा का काव्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 83
10. जयरामन, पी. (2003). भक्ति के आयाम. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 31
11. मिश्र, शिवकुमार (1982). भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य. नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 16
12. वही, पृ. सं. 16
13. दामोदरन, के. (1994). भारतीय चिन्तन परम्परा. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 76
14. वर्मा, धीरेन्द्र तथा अन्य (1964). हिन्दी साहित्य कोश. नई दिल्ली : ज्ञानमण्डल. पृ. सं. 433
15. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1983). कबीर. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 283
16. मिश्र शिवकुमार (1982). भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य. नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 69
17. दामोदरन, के. (1994). भारतीय चिन्तन परम्परा. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. 111
18. जयरामन, पी. (2003). भक्ति के आयाम. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 290

खण्ड – 3 : भक्ति-आन्दोलन का उदय, तत्त्व-दृष्टि एवं जीवन-दर्शन

इकाई – 3 : भक्तिकाव्य का स्वरूप एवं भेद, निर्गुण-सगुण की अवधारणा, निर्गुण-सगुण का सम्बन्ध, साम्य-वैषम्य

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य
3.3.1. प्रस्तावना
3.3.2. भक्तिकाव्य का स्वरूप एवं भेद
  3.3.2.1. भक्तिकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि
    3.3.2.1.1. विशिष्टाद्वैत
    3.3.2.1.2. द्वैताद्वैतवाद
    3.3.2.1.3. शुद्धाद्वैत
    3.3.2.1.4. द्वैतवाद
  3.3.2.2. भक्तिकाव्य की विशेषताएँ
    3.3.2.2.1. भक्ति की प्रधानता
    3.3.2.2.2. नाम-स्मरण की महिमा
    3.3.2.2.3. लोकमंगल की कामना
    3.3.2.2.4. गुरु की महिमा का गुणगान
    3.3.2.2.5. संसार की नश्वरता
    3.3.2.2.6. प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन
    3.3.2.2.7. अहम् का त्याग और आत्मसमर्पण
    3.3.2.2.8. लोकभाषा और लोकजीवन
  3.3.2.3. भक्तिकाव्य के भेद
3.3.3. निर्गुण-सगुण की अवधारणा
  3.3.3.1. सैद्धान्तिक आधार
  3.3.3.2. सन्त काव्य और सूफी काव्य-परम्परा
  3.3.3.3. कृष्णभक्ति-काव्य और रामभक्ति-काव्य-परम्परा
3.3.4. निर्गुण-सगुण का सम्बन्ध
  3.3.4.1. मानवतावादी स्वर
  3.3.4.2. लोकधर्म
  3.3.4.3. सांस्कृतिक चेतना
3.3.5. निर्गुण-सगुण भक्तिकाव्य में साम्य-वैषम्य
3.3.6. पाठ-सार
3.3.7. शब्दावली
3.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.3.9. बोध प्रश्न

3.3.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भक्तिकाव्य का स्वरूप एवं भेद जान सकेंगे।
ii. निर्गुण-सगुण की अवधारणा को समझ सकेंगे।
iii. मानवतावादी स्वर, लोकधर्म और सांस्कृतिक चेतना के आधार पर निर्गुण-सगुण सम्बन्धों की व्याख्या कर सकेंगे।
iv. निर्गुण-सगुण भक्तिकाव्य के साम्य-वैषम्य का विवेचन कर सकेंगे।

3.3.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य की विकास परम्परा में भक्तिकाव्य का पाट विस्तृत है। कई शताब्दियों की बहुरंगी, बहुआयामी रचनाशीलता उसके दायरे में आ जाती है। वस्तुतः भक्ति-आन्दोलन मध्ययुग की एक महान् सामाजिक-सांस्कृतिक घटना है। भक्तिकाव्य उसकी सबसे सार्थक फलश्रुति है। मध्यकाल में जिस भक्ति-आन्दोलन का उदय हुआ, तीन शताब्दियों से भी अधिक समय तक समूचे भारत को अपनी परिधि में समेटते हुए उसकी अन्तर्धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल ही एक ऐसा खण्ड है जो अन्य कालखण्डों की अपेक्षा कम विवादित रहा है। दूसरी ओर वह उतना ही अधिक अपना निजी महत्त्व भी रखता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भक्तिकाव्य-परम्परा व विकास को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है। पहले चरण के अन्तर्गत दक्षिण भारत का भक्ति-आन्दोलन है जिसकी स्थिति छठी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक रही। दूसरे चरण में उत्तर भारत का भक्ति-आन्दोलन है जिसका समय तेरहवीं शताब्दी के बाद से सत्रहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इसी दौर में उत्तर भारत इस्लाम के सम्पर्क में आया। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाव्य का सम्बन्ध उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन से है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की देन है। इस युग में विविध काव्य-रूपों में, विभिन्न बोलियों में हिन्दी भक्ति साहित्य का सृजन हुआ जिसने मध्यकालीन सांस्कृतिक आन्दोलन को प्रेरित एवं प्रभावित किया। इस युग में समृद्ध काव्य-सम्पदा का सृजन हुआ। विद्वानों ने इस समय को हिन्दी साहित्य में 'स्वर्णयुग' के गौरवपूर्ण नाम से अभिहित किया है।

3.3.2. भक्तिकाव्य का स्वरूप एवं भेद

हिन्दी साहित्य के इतिहास का दूसरा चरण भक्तिकाल के नाम से विदित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् 1375 वि. से संवत् 1700 वि. तक की अवधि को भक्तिकाल माना है। उनके द्वारा यह नामकरण प्रवृत्ति की प्रधानता के आधार पर किया गया है। युगीन भक्ति-भाव के प्राबल्य के सन्दर्भ में शुक्लजी का यह कथन उल्लेखनीय है कि "कालदर्शी भक्तकवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को

जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए।" शुक्लजी ने भक्ति-आन्दोलन के सूत्रपात के लिए तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों को भी उत्तरदायी माना है। भक्ति-भावना का मूल उद्‌गम दक्षिण माना गया है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध उक्ति है – "भक्ति द्राविड़ी उपजी लाए रामानन्द।" निस्सन्देह भक्ति का जो स्रोत दक्षिण भारत से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर आ रहा था, उसे राजनैतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय पद्धति से सगुण भक्ति का निरूपण किया और आम जनता इस भक्तिमार्ग की ओर आकर्षित होती चली गई। विवेचनात्मक सन्दर्भ में मध्वाचार्य, जयदेव, रामानन्द, वल्लभाचार्य, नामदेव आदि आचार्यों का भी योगदान भी अविस्मरणीय है जिन्होंने भक्ति-आन्दोलन को प्रभावी बनाया। रचनात्मक दृष्टि से भक्तिकाव्य का स्वरूप भारतीय संस्कृति के साथ विदेशी संस्कृति के संघर्ष, भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा अपूर्व सांस्कृतिक समन्वय का रहा है। इस सांस्कृतिक समन्वय ने साहित्य, कला तथा जीवन के विविध आयामों को गहरे प्रभावित किया है। यह वह युग है जिसकी रचनात्मक व बौद्धिक चेतना ने देश के शासक वर्ग को भी अभिप्रेरित एवं प्रभावित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोच्य युग को पराभव से हताश मनोस्थिति से परिपूर्ण माना है जबकि परवर्ती विचारकों ने इसे सांस्कृतिक उत्कर्ष का काल माना है।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को दो वर्गों में विभाजित कर 'पूर्व मध्यकाल' एवं 'उत्तर मध्यकाल' की संज्ञा दी गई है। पूर्व मध्यकाल को ही 'भक्तिकाल' कहा जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने भक्ति-आन्दोलन को पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण कहा है। उनके अनुसार इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। इस काल के लिए जो नाम दिये गए हैं, उनमें भक्तिकाल ही सर्वाधिक सहज, सरल एवं प्रवृत्तिमूलक होने से स्वीकार किया गया। इस नामकरण से एक तो इस बात का बोध होता है कि इस कालखण्ड में भक्तिभाव की प्रधानता रही, साथ ही यह नामकरण इस काल के कवियों को भक्तकवि के रूप में प्रतिष्ठित करता है जो पूर्णतः उपयुक्त है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति कहा है। भक्ति जन समुदाय की सम्पत्ति है जिसका सूत्रपात महाभारतकाल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराणकाल में हुआ। भक्ति को काव्य-मूल्य एवं जीवन-मूल्य के रूप में स्थापित करने वाले भक्तिकाल का समय मध्यकाल की चार शताब्दियों तक फैला हुआ है। भक्तिकाव्य हिन्दी कविता की अभूतपूर्व उपलब्धि है। मध्यकाल के सामन्तवादी अँधेरे में भक्तिकाव्य मानवतावादी चेतना की प्रथम प्रखर अभिव्यक्ति है। भक्तिकाव्य का आधार भक्ति-आन्दोलन है अतः भक्तिकाव्य के स्वरूप एवं भेद-विवेचन से पूर्व भक्तिकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करना आवश्यक है।

3.3.2.1. भक्तिकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

दर्शन जीव, जगत्, माया और ब्रह्म के सम्बन्धों की व्याख्या है। जीव, जगत्, माया और ब्रह्म का विवेचन और विश्लेषण मध्यकालीन दर्शन का मुख्य आलम्बन है। शास्त्रज्ञ विद्वानों ने ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों, गीता पर भाष्य

प्रस्तुत कर परम्परागत भक्ति-मार्ग के सिद्धान्त पक्ष का पर्याप्त विकास एवं विस्तार किया है। मध्यकालीन भक्तिकाव्य का आधार किसी-न-किसी रूप में शंकराचार्य के 'अद्वैत' सिद्धान्त की असहमति में विकसित हुई दार्शनिक पीठिका में निहित है। शंकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन की मुख्य स्थापनाएँ इस प्रकार हैं –

i. जगत् का निषेध 'मिथ्या' है।
ii. ब्रह्म और जीव में अद्वैत है।
iii. जो दिखता है वह भ्रम है, माया है। माया शाब्दिक अर्थ ही है, 'मा' यानी नहीं और 'या' यानी जो। अर्थात् जो वस्तुतः है ही नहीं, वही माया है। उदाहरण के लिए रस्सी में साँप का भ्रम होने पर साँप जैसा अनुभव माया के कारण ही होता है।
iv. ज्ञान से ही सत्य की उपलब्धि हो सकती है।
v. सत्य केवल एक है और वह ब्रह्म है।
vi. ब्रह्म जब माया से आवेशित होता है तब वह जगत् की रचना करता है। माया से अनाविष्ट 'ब्रह्म' है, माया से आविष्ट 'ईश्वर' है। इस प्रकार 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' में स्थितिगत विभेद है।

शंकराचार्य के 'अद्वैत' सिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण दार्शनिक धाराएँ विकसित हुईं –

3.3.2.1.1. विशिष्टाद्वैत

यह स्थापना भारतीय दर्शन में पहली बार हुई। इसके प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य हैं। उनके अनुसार जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है तथा इस जीव का कल्याण ईश्वर अनुग्रह से ही सम्भव है। इस दार्शनिक मत की मुख्य स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं –

i. जगत् अवास्तविक नहीं है। ईश्वर सत्य है अतः ईश्वर की निर्मिति भी सत्य होगी, असत्य नहीं हो सकती। इस अनुसार जगत् की कठिनाइयाँ भी वास्तविक हैं।
ii. सांसारिक विघ्न-बाधाओं, कठिनाइयों को नष्ट करने के लिए ही ईश्वर अवतार ग्रहण करते हैं।
iii. जीव और ब्रह्म तत्त्वतः अभिन्न होने पर भी ब्रह्म विशिष्ट है। प्रलय में जगत् और जीव ब्रह्म में स्थान ग्रहण करते हैं। इस प्रकार आचार्य रामानुज ने पहली बार अवतारवाद और धर्म की सामाजिक भूमिका की प्रस्तावना की। इसके साथ ही ईश्वर की ऐहिक भूमिका का प्रवर्त्तन हुआ।

3.3.2.1.2. द्वैताद्वैतवाद

इस दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य निम्बार्क हैं। इस मत की मान्यता के अनुसार ब्रह्म और जीव में पारस्परिक भिन्नता भी है और अभिन्नता भी। इस दर्शन में यह स्थापना प्रस्तुत की गई कि ब्रह्म और जीव सांसारिक दृष्टि से भिन्न हैं लेकिन तत्त्वतः एक ही हैं क्योंकि ये दोनों अन्तिम परिणति में स्वतः एक हो जाते हैं। इस सिद्धान्त ने राधा

और कृष्ण की युगल उपासना पर बल दिया है। इसके अन्तर्गत विष्णु कृष्ण के रूप में और शक्ति राधा के रूप में आराध्य बने।

3.3.2.1.3. शुद्धाद्वैत

इसके प्रवर्त्तक विष्णु स्वामी हैं। उनके अनुसार शुद्ध ब्रह्म मायारहित है। कालान्तर में वल्लभाचार्य ने इसी सिद्धान्त के आधार पर 'अष्टछाप' की स्थापना की। इस मत की मुख्य स्थापनाएँ इस प्रकार हैं –

i. जगत् की सृष्टि करते हुए भी ब्रह्म अलिप्त रहता है। जैसे कमल कीचड़ से निकलता है पर कीचड़ के लक्षण उसमें नहीं होते। उसी प्रकार ब्रह्म अन्ततः शुद्ध रहता है।
ii. यह जगत् एक आकार है। इस आलोक में 'कनक कुण्डल' का उदाहरण उल्लेखनीय है। जैसे स्वर्ण का कुण्डल आभूषण रूप ग्रहण करने पर भी स्वर्ण ही रहता है, केवल आकार ग्रहण करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर निराकार है, जगत् उसका आकार है। कृष्ण लिप्त दीखते हुए भी अलिप्त हैं, अतः योगेश्वर हैं। राम योगेश्वर नहीं हैं क्योंकि वे लिप्त हो जाते हैं।
iii. ब्रह्म को प्राप्त करने का सहज मार्ग प्रेम है। यह प्रेम भी स्वतःस्फूर्त नहीं होता, कृष्ण के अनुग्रह से होता है। इसी अनुग्रह को आचार्य वल्लभ ने 'पुष्टि' कहा है।

3.3.2.1.4. द्वैतवाद

द्वैतवाद के प्रवर्त्तक मध्वाचार्य हैं। इनका दर्शन सीधे-सीधे शंकराचार्य के 'अद्वैत' से टकराता है। इस मत की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं –

i. ईश्वर उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण हैं।
ii. विष्णु ही ब्रह्म हैं। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी हैं जो विष्णु की शक्ति हैं और उनके अधीन हैं। यह शक्ति नाना रूप धारण करती है और जगत् की सृष्टि करती है तथा ब्रह्म के अवतार लेने पर वह उसकी अर्द्धांगिनी या प्रेयसी बनकर आती है।
iii. जीव-जीव में भेद होता है। प्रत्येक जीव ब्रह्म के साथ एक ही तरह का सम्बन्ध नहीं बनाता। ज्ञान, भक्ति और साधना के आधार पर जीवों की विभिन्न कोटियाँ होती हैं इसलिए सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न बनता है।
iv. अन्तिम स्थिति में भी जीव और जगत् में अन्तर बना रहता है।
v. जगत् पूरी तरह सत्य है क्योंकि ब्रह्म सत्य है और उस सत्य ब्रह्म द्वारा निर्मित जगत् मिथ्या नहीं हो सकता।

समेकित रूप में भक्तिकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं –

1. चारों दर्शन ईश्वर के सगुण रूप को स्थापित करते हैं।
2. चारों सिद्धान्त ईश्वर-प्राप्ति के लिए ज्ञान के स्थान पर भावना और अनुभूति को वरीयता प्रदान करते हैं।

3. चारों सिद्धान्त अवतारवाद की प्रस्तावना करते हैं और इसी अवतारवाद में लीला की अवधारणा को विन्यस्त करते हैं।
4. चारों सिद्धान्त ब्रह्म के निर्गुणत्व का निषेध नहीं करते, अपितु भक्ति का आधार सगुण को ही मानते हैं। आलम्बन सगुण ही हो सकता है। कालान्तर में इन्हीं सिद्धान्तों से दोनों सगुण धाराओं का जन्म हुआ।

इस प्रकार सामाजिक स्तर पर भक्ति-आन्दोलन जहाँ एक ओर सामन्तवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ था, वहीं दूसरी ओर दार्शनिक स्तर पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद या मायावाद के विरोध में उत्पन्न हुआ।

3.3.2.2. भक्तिकाव्य की विशेषताएँ

भक्तिकाव्य के सापेक्ष भक्ति-आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह मानी गई है कि वह धर्म को साधना का नहीं, भावना का विषय मानता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति को धर्म का रसात्मक रूप कहा है। भक्ति लगभग चार सौ वर्षों तक हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति बनी रही। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तकवि इसी भक्ति-आन्दोलन की देन हैं। चूँकि भक्तिकाव्य भक्ति-आन्दोलन की उपज है, अतः इसमें आत्ममंथन की यथार्थता विद्यमान है। कहना गलत न होगा कि जो कविता आत्ममंथन एवं ऐतिहासिक आन्दोलन से जुड़ी होती है, वह समाज का प्रतिनिधित्व करती है। जो विचारक भक्तिकाव्य को गिड़गिड़ाहट मात्र समझते हैं, वे भक्तिकाव्य की अधूरी व्याख्या करते हैं क्योंकि सच तो यह है कि दैन्य एवं आत्मनिरीहता के भाव के साथ निर्णय का अद्भुत विवेक भक्तिकाव्य में दिखाई पड़ता है इसलिए भक्तिकाव्य की परम्परा व विकास में धर्म साधना का विषय नहीं, भावना का विषय है। वैसे भी साधना सदैव कृत्रिम और बाहरी होती है। यही मूल कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-आन्दोलन को धर्म का रसात्मक रूप कहा है। इस परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाव्य की कतिपय उल्लेखनीय विशेषताओं की पहचान की जा सकती है, यथा –

3.3.2.2.1. भक्ति की प्रधानता

केन्द्र-विहीनता मध्यकाल की विशेषता है। मध्यकाल राजनैतिक, सामाजिक स्तर पर टूटा हुआ काल है। किसी भी ऐतिहासिक समय में मूल्य की कमी से अराजकता फैलती है। मूल्य का होना इस बात का सूचक है कि जीवन-यात्रा का लक्ष्य क्या है ! मूल्य को जीवन की सार्थकता का पर्याय माना जाता है। सार्थकता का कोई मूल्य मध्यकाल में दिखाई नहीं पड़ता। वस्तुतः समग्रता की चिन्ता के भीतर से मूल्य का जन्म होता है। भक्ति-आन्दोलन इसी समग्रता की चिन्ता से जुड़कर 'भक्ति' को चरम मूल्य के रूप में प्रस्तावित करता है इसलिए भक्ति की केन्द्रीयता ही भक्तिकाव्य की प्रथम विशेषता है। मानवीय एकता और सामाजिक भ्रातृत्व का बहुत बड़ा माध्यम भक्ति है। भक्ति मूलतः मनुष्य के समूचे जीवन को पुनर्गठित करती है। दार्शनिक स्तर पर मतभेद होते हुए भी भक्ति के स्तर पर निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है।

चूँकि जीवन की सार्थकता देने वाली कोई इकाई मध्यकाल में नहीं रह गई थी इसलिए धर्म भी मध्यकाल में जीवन को सार्थकता नहीं दे रहा था। भक्ति का होना ही अपने आप में सम्पूर्ण है इसलिए भक्ति को जीवन की

सार्थकता का केन्द्र माना गया। भक्ति मनुष्य होने की शर्त भी है और वह मनुष्य को मानवीय भी बनाती है। जैसा कि कबीर कहते हैं – "हरि भगति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।" अर्थात् हरि में जिसकी भक्ति नहीं है, वह डूबकर मर जाने लायक है। डूबकर मर जाने वाले इस संसार को सार्थकता केवल भक्ति दे सकती है। उधर तुलसीदास भी ईश्वर से वरदान माँगते हुए कहते हैं – "देहु भगति तिहूँ पाप नसावनि।" इस प्रकार भक्ति के द्वारा ही मूलतः सीमाओं से बाहर निकला जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह भक्ति जीवन को एक विश्वास देती है, मनोबल प्रदान करती है, आस्वाद देती है। मध्यकाल के विराट् शून्य में भक्ति एक केन्द्र के रूप में उपस्थित है। भक्ति एक रागात्मक वृत्ति है जो मूलतः तथ्य को हटाकर उसके स्थान पर भावना को लाती है। इस प्रकार भक्तिकाव्य का एक भावात्मक, सौन्दर्यात्मक और भावनात्मक मूल्य है।

3.3.2.2.2. नाम-स्मरण की महिमा

जीवन विचारों का प्रतिफलन है। विचारों का निर्माण क्षणों में घटित-परिघटित होने से होता है। मनुष्य निरन्तर दोलायमान है। वह जैविकता और देवत्व की सन्धि पर खड़ा है। विकृति में भक्ति नहीं हो सकती। नाम-स्मरण से अभिप्राय निरन्तर ईश्वर के बारे में सोचना है। लगातार ईश्वर के बारे में सोचने पर वह परिवेश तैयार हो सकता है जहाँ से ईश्वर को प्राप्त करना अपेक्षाकृत सहज व आसान है। यही वजह है कि भक्तकवियों ने नाम-स्मरण को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

निर्गुण राम जपहु रे भाई।

– कबीर

तथा

नाम लेत भव सिंधु सुखहीं।

– तुलसीदास

तथा

सुमिरन कर ले मेरे मना,
कूप नीर बिनु धेनु क्षीर बिनु सावन मेह बिनु।
जैसे तरुवर फल बिना हीना वैसे देह श्रीराम बिना।

– नानक

नाम-स्मरण की पूरी प्रक्रिया मानसिक बदलाव की प्रक्रिया है। नाम-स्मरण द्वारा मन की चंचला वृत्ति पर लगाम कसी जा सकती है। नाम-स्मरण की प्रक्रिया स्वायत्त मानसिक स्मरण है जो जीवन को सार्थक कर देता है।

3.3.2.2.3. लोकमंगल की कामना

सम्पूर्ण भक्तिकाव्य में लोकमंगल का विधान सर्वत्र परिलक्षित होता है। भक्तकवि तुलसीदास काव्य-रचना का मूल लक्ष्य लोकमंगल स्वीकार करते हैं –

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई॥

अर्थात् कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य वही अच्छा होता है जो गंगा के समान सबका हित करने वाला हो। निश्चित तौर पर भक्तिकाव्य का स्वरूप एवं अभिव्यक्ति जनकल्याणकारी है। वह अमंगल का विनाश करने वाला एवं मंगल का विधान करने वाला है।

3.3.2.2.4. गुरु की महिमा का गुणगान

'गु' का अर्थ है, 'अन्धकार' और 'रु' का अर्थ है 'प्रकाश'। यानी जो श्रेष्ठ व्यक्ति अज्ञानी को अन्धकार से विमुख कर उसे प्रकाश की ओर उन्मुख करे, वह 'गुरु' कहलाने का अधिकारी है। भक्तिकाव्य में गुरु का अर्थ सम्भावना को उत्पन्न करने वाली ताकत है। गुरु के अभाव में व्यक्ति का जीवन बीज में छिपे पेड़ की तरह है। गुरु ही विवेक दृष्टि देता है। सम्पूर्ण भक्तिकाव्य दृष्टिमूलक है। वहाँ गुरु की महिमा का गुणगान बार-बार हुआ है।

पीछैं लागा जाइ था लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथि॥

– कबीर

तथा

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारि गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय॥

– कबीर

तथा

बिनु गुर होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ, हरि भगति बिनु॥

– तुलसीदास (मानस, 89-क, श्रीकाक भुशुण्डि का सिद्धान्त)

तथा

गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा।

– जायसी

3.3.2.2.5. संसार की नश्वरता

अतिलौकिकता सामन्तवाद की अपनी एक विशेषता है जो मनुष्य को मानवीयता एवं ईश्वर से विमुख करती है। इसलिए भक्तिकाव्य संसार की नश्वरता की चेतावनी देता है। जब व्यक्ति ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाता है तो सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति स्वतः जाग्रत् हो जाती है। यह संसार सेमल के फूल की तरह है। इस प्रकार भक्तिकाव्य प्राकारान्तर से चेतावनी का काव्य भी है। एक तरह से वह मानसिक सयानेपन की तैयारी इस चेतावनी के द्वारा करता है क्योंकि यह असम्पृक्ति जीवन के लिए अनिवार्य है।

3.3.2.2.6. प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन

प्रेम एक जीवन-मूल्य चेतना है। यह जीवन को आस्वाद प्रदान करता है। उल्लेखनीय है कि जीवन में सार्थकता का बोध भर देने वाली चेतना प्रेम से ही होकर आती है। भक्ति प्रेमस्वरूपा है। प्रेम की चरम पराकाष्ठा मूलतः मीरा की रचनाओं में दिखाई देती है। चूँकि प्रेम मूलतः विषाद में स्थित रहता है अतः भक्तिकाव्य में शारीरिक उत्सव और विषाद दोनों साथ-साथ हैं।

3.3.2.2.7. अहम् का त्याग और आत्मसमर्पण

अहम् भक्तिविरोधी और धर्मविरोधीस्वरूप होता है। भक्ति के लिए अहम् का त्याग आवश्यक है। अहम् के आवरण में घिरा मनुष्य ब्रह्म के वैराट्य से पूरी तरह अपरिचित रहता है। अहंकार अनेक पाशविकताओं को जन्म देता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसी कुप्रवृत्तियाँ भी अहंकार को बढ़ावा देती हैं। अहम् के विसर्जन से ही सहज हुआ जा सकता है। अहम् का त्याग और आत्मसमर्पण भक्तिमार्ग का प्रथम सोपान है –

आपा मेटे हरि भजे, तन मन तजे विकार।
निर्वैरी सब जीव सूँ, दादू यही मति सार॥

– दादूदयाल

3.3.2.2.8. लोकभाषा और लोकजीवन

भक्तिकाव्य मूलतः लोक-जागरण का काव्य है इसलिए लोक-जीवन का चित्रण एवं लोकभाषा का ग्रहण सम्पूर्ण भक्तिकाव्य में परिलक्षित होता है। इसके माध्यम से भक्तिकाव्य सामान्य मनुष्य को प्रतिष्ठापित करता है। वस्तुतः भक्तिकाव्य के केन्द्र में सामान्य मनुष्य और उनका जनजीवन ही है। इस प्रकार भक्तिकाव्य प्राकारान्तर से कविता की आभिजात्यता से मुक्ति का काव्य है। उदाहरण के तौर पर कबीर में लोक-जीवन और लोक-आकांक्षा की अभिव्यक्ति स्पष्टतः दिखाई देती है।

समवेततः भक्तिकाव्य का रचनाधर्म किसी एक साँचे में ढला हुआ नहीं है। सन्तों तथा भक्तकवियों ने भक्तिकालीन काव्य को अपने-अपने अनुभवों, सोच तथा नीतियों के तहत उभारा है। भक्तकवियों ने सांसारिक

कर्त्तव्यों को सम्पादित करने के साथ लोकमंगल की कामना करते हुए सम्वेदना के उदात्त क्षणों में सच्चे अन्तःकरण से अपने आराध्य के प्रति निःस्वार्थ भाव प्रकट किया है।

3.3.2.3. भक्तिकाव्य के भेद

प्रमुख रूप से भक्तिकाव्य को दो भागों में विभाजित किया गया है – (i) निर्गुणधारा और (ii) सगुणधारा। पुनः इन दोनों धाराओं को दो-दो उपधाराओं में विभक्त किया गया है। निर्गुणधारा के अन्तर्गत ज्ञानमार्गी शाखा एवं प्रेममार्गी शाखा हैं जबकि सगुणधारा के अन्तर्गत रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य हैं।

निर्गुण भक्ति-काव्यधारा के अन्तर्गत ज्ञानमार्गी शाखा के कवि सन्तकवि कहे गए। कबीर इस शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। प्रेममार्गी शाखा को प्रेमाश्रयी शाखा, प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा तथा सूफी शाखा के नाम से भी जाना जाता है। जायसी इस काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं।

सगुण काव्यधारा के अन्तर्गत तुलसीदास रामभक्ति-काव्य-परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं जबकि सूरदास कृष्णकाव्य-परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं। भक्तिकाल के ये चार प्रमुख कवि कबीर, जायसी, तुलसी और सूर क्रमशः सन्तकाव्य, सूफीकाव्य, रामकाव्य और कृष्णकाव्य-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

3.3.3. निर्गुण-सगुण की अवधारणा

सगुण और निर्गुण के भेद ने भक्तकवियों के भक्ति-दर्शन को ही नहीं अपितु साहित्य-दर्शन को भी प्रभावित किया है। आलम्बन की भिन्नता के अनुसार उनके काव्य के अवधारणात्मक चिन्तन में भी विविधता और मौलिकता की सम्भावनाएँ सहज रही हैं। महज भक्ति का आधार लें तो भक्ति के धरातल पर निर्गुण और सगुण भक्तिकाव्य में आराध्य के निर्गुण अथवा सगुण होने के अलावा कोई तात्त्विक भेद नहीं हैं। लेकिन यह बात सही है कि निर्गुण की तुलना में सगुणभक्ति साधारणजन के लिए सुलभ है जिसके तहत आराध्य के किसी रूप और गुण पर मन को सरलता से केन्द्रित किया जा सकता है। सबसे रोचक तथ्य यह है कि सूरदास ने इसी आधार पर सगुणभक्ति से अपने को जोड़ा है।

3.3.3.1. सैद्धान्तिक आधार

निर्गुण और भक्तिकाव्य से जुड़े सन्तों और भक्तों की काव्य-परम्परा में सामाजिक चिन्तन का विभेद सैद्धान्तिक न होकर वस्तुगत है। अपने जिन भुक्त साक्ष्यों के आधार पर निर्गुणवादी सन्तकवि परम्परागत सामाजिक संरचना में आमूलचूल बदलाव की बात करते हैं, वह सगुणवादी भक्तकवियों के अपने भुक्त साक्ष्यों से भिन्न है। कहना गलत न होगा कि सगुण भक्तिकाव्य का सामाजिक चिन्तन इसी नाते निर्गुण काव्य-परम्परा से पृथक् है। भक्ति के धरातल पर किसी भी प्रकार का भेद न मानते हुए भी सामाजिक धरातल पर सगुण भक्तकवि कहीं-कहीं वर्ण-व्यवस्था तथा उससे जुड़े समस्त धर्मशास्त्रों एवं विधि-विधानों का समर्थन करते दिखाई देते हैं।

जहाँ निर्गुणवादी सन्तकवि परम्परापोषित, सदियों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद पर आक्रमण करते दीखते हैं, वहीं सगुण भक्तकवियों में उस व्यवस्था और उसकी मर्यादाओं की रक्षा का भाव प्रतिभासित होता है। सैद्धान्तिक सन्दर्भ में जहाँ तक भक्ति के तात्त्विक स्वरूप का सम्बन्ध है, निष्काम-अहैतुकी भक्ति सगुण-निर्गुण दोनों ही प्रकार के सन्तों और भक्तों को काम्य है।

3.3.3.2. सन्त काव्य और सूफी काव्य-परम्परा

सन्त और सूफी काव्यधाराएँ मध्यकालीन साधना के निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत आती हैं। ये दोनों धाराएँ बहुदेववाद और अवतारवाद की धारणा का निषेध करती हैं तथा ब्रह्म की अखण्डता और व्यापकता में विश्वास करती हैं। सन्त काव्यधारा मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के रूप में संज्ञापित किया है। भक्तिकालीन काव्य-परम्परा में सन्त साहित्य का अभिप्राय उन निर्गुण कवियों से है जिन्होंने अपनी उपासना का आधार अवतारी ईश्वर के स्थान पर गुणातीत ब्रह्म को बनाया। चूँकि सन्तकवियों के काव्य में सामान्यतः अनुभूति की वरीयता है और सत्संगोंका प्रभाव भी, इसलिए इनके साहित्य में अनेक दार्शनिक पद्धतियों और भक्ति-धाराओं का समावेश हुआ है। विद्वानों का मानना है कि सन्तकाव्य में औपनिषेदिक चिन्तन, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, नाथपंथियों की योग साधना और सूफियों के प्रेमतत्त्व का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि सन्तकाव्य का सौन्दर्य पक्ष उतना उदात्त नहीं है तथापि इस काव्य-परम्परा ने जिन मानवीय और सामाजिक मूल्यों पर बल दिया, वे मूल्य भारतीय संस्कृति की आधारभूत पहचान बने। इतिहास के उस मोड़ पर जहाँ बाह्याडम्बरों और अन्धविश्वासों के असह्य कोलाहल में धर्म की मूल चेतना लुप्त हो रही थी, सन्तकवियों ने धर्म और मनुष्यता दोनों की रक्षा एक साथ की। इस आलोक में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है कि – "इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा है। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के सर्वश्रेष्ठ सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।"

चौदहवीं शताब्दी से अट्ठारहवीं शताब्दी के पूरे अन्तराल में सूफी काव्य की रचना होती रही। हिन्दी सूफी काव्य-परम्परा का सूत्रपात मुल्ला दाउद के 'चन्दायन' से होता है जिसकी रचना 1739 ई. में हुई। यह कृति उत्तरप्रदेश और बिहार में प्रचलित लोरिक-चन्दा की प्रेमकथा पर आधारित है। कहना सही होगा कि यह कृति एक विशुद्ध लौकिक कथा को एक प्रतीक व्यवस्था के द्वारा आध्यात्मिक सन्दर्भों में रूपान्तरित करती है। कुतुबन इस परम्परा के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि हैं। 'मृगावती' कुतुबन की उल्लेखनीय रचना है। इसी परम्परा के तीसरे कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं जिन्होंने 'अखरावट', 'आखिरी कलाम' और 'पद्मावत' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। उसमान, शेखनबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद आदि इसी परम्परा के वाहक हैं। काव्य-सौन्दर्य और काव्य-मूल्य की दृष्टि से सूफीकाव्य मध्यकालीन हिन्दी कविता की एक महान् उपलब्धि है। भावों की मार्मिकता आध्यात्मिक अनुभव और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इस कविता का महत्त्व तो है ही, साथ ही मानवीय जीवन-

मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों के जिन प्रतिमानों की रचना हिन्दी साहित्य में सूफी कवियों ने की है वे किसी-न-किसी स्तर पर भारत की महान् सांस्कृतिक परम्परा के उल्लेखनीय सूत्र हैं।

3.3.3.3. कृष्णभक्ति-काव्य और रामभक्ति-काव्य-परम्परा

भक्तिकालीन कृष्णकाव्य और रामकाव्य-परम्परा शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रक्रिया में विकसित दार्शनिक चेतना पर आधारित है। इनका सम्बन्ध क्रमशः वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत की स्थापनाओं से है। यही वजह है कि ये दोनों ही काव्यधाराएँ रचना के स्तर पर उस दार्शनिक मान्यता को प्रतिफलित करती हैं जिसमें ब्रह्म के सगुण रूप की उपासना की गई है। सिद्धान्त रूप में वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य ने सांसारिक सम्बन्धों में ब्रह्म के सगुण रूप को महत्त्वपूर्ण माना। सूर और तुलसी का काव्य इसी सगुण ब्रह्म की लीलाओं पर आधारित है। जगत् को सत्य मानकर इसमें ब्रह्म की मानवीय भूमिका को स्वीकृति प्रदान की गई है। निस्सन्देह इस स्तर पर दोनों काव्यधाराएँ ब्रह्म के सगुण रूप और उसकी मानवीय भूमिका को स्वीकार करती हैं।

वस्तुतः निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान और प्रेम का आश्रय लेने के बावजूद भारत के सांस्कृतिक मन का पुनर्गठन नहीं किया जा सका था। सगुण काव्य-परम्परा की कृष्ण और रामभक्ति काव्यधाराएँ अपने-अपने नायकों के माध्यम से भारत की सांस्कृतिक चेतना और मूल्य-दृष्टि को एक कथात्मक आयाम देती है। संघर्ष और सौन्दर्य जीवन के आधारभूत तत्त्व हैं। केवल संघर्ष से जीवन शुष्क और अनास्थापूर्ण हो सकता है और सिर्फ सौन्दर्य जीवन को विलासी और अकर्मण्य बना सकता है इसलिए भारतीय जीवन-दृष्टि सामाजिक जीवन में इन दोनों की महत्ता को स्वीकार करती है। राम और कृष्ण क्रमशः इसी संघर्ष और सौन्दर्य-भावना के प्रतीक हैं।

कृष्ण और रामभक्ति-काव्यपरम्परा मानव-जीवन के दोनों ही पक्षों, 'संघर्ष' और 'सौन्दर्य' को रचनात्मक स्तर पर प्रतिफलित करने के कारण अपने देशकाल का अतिक्रमण करती हैं और सभ्यता को संघर्ष और सौन्दर्य के मूल्यगत निहितार्थों से परिचित कराती हैं। यह राम और कृष्णकाव्य की शक्ति और सनातनता का प्रमाण है।

3.3.4. निर्गुण-सगुण का सम्बन्ध

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल का आरम्भ सन्तकवियों की निर्मल वाणी से हुआ। निर्गुण-सगुण भक्तिकाव्य सम्बन्धों के आलोक में युगीन काव्य-मान्यताओं का आकलन करने हेतु जीवनपद्धति, विचारधारा, काव्य-रचना और युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के साथ-साथ समाजशास्त्रीय तत्त्वों को दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के सन्दर्भ में प्रस्तुत करना भक्तिकाव्य की अद्वितीय विशेषता है। जिस प्रकार साधना क्षेत्र में दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन का ही आश्रय न लेकर भक्तकवियों ने निजी अनुभवों पर बल दिया, ठीक उसी प्रकार काव्य-प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी उन सभी की प्रेरणाभूमि प्रायः एक जैसी ही है। चूँकि भक्तकवि निश्चित प्रवृत्तियों अथवा पंथों के प्रवर्त्तक थे परिणामस्वरूप उनकी काव्यविषयक मान्यताओं में सुनिश्चित जीवन-दर्शन

और प्रौढ़ता की छाप मौजूद है। भक्ति और अध्यात्म की जमीन पर निर्गुण और सगुण काव्य में आलम्बन के निर्गुण और सगुण होने के बावजूद लगभग समानता ही है।

3.3.4.1. मानवतावादी स्वर

मानव अधिकारों का पूर्वरूप मानववादी चेतना है। मानवतावाद शोषित, दलित और अधिकार-वंचित जनता के पक्ष में संघर्ष एवं सहानुभूति की चेतना है। मानवतावादी चिन्तन और कर्म में प्रतिमानवीय शक्तियों की धारदार पहचान और उनके उन्मूलन की प्रतिबद्धता अनिवार्य है। मानवतावाद के आधार पर विवेक और संघर्ष की निरन्तरता के द्वारा न्यायोचित पक्ष की स्थापना का आग्रह होता है। यही वजह है कि जड़ता और क्रूरता के विरुद्ध गति और करुणा का सनातन संघर्ष मानवातावाद का स्थायी आधार है। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की रचनाओं में मानव मुक्ति की प्रस्तावना, सामान्य के प्रति निष्ठा का भाव, जीवनमूल्य के रूप में लोकमंगल की स्थापना, सामन्ती जीवन-मूल्यों से मानवीय विवेक की मुठभेड़, करुणा एवं आत्मविसर्जन की प्रस्तावना और लोकभाषा की प्रतिष्ठा आदि प्रयास सम्पूर्ण भक्तिकाव्य के अन्तर्गत मानवतावादी चेतना के निहितार्थ हैं।

3.3.4.2. लोकधर्म

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा, वही लोकधर्म होगा। जीवन के किसी भी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोकधर्म नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोकधर्म होता है।" लोकधर्म को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि "ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्यप्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिये गए, उनका पालन अलग-अलग व्यक्तियों ने चाहे कुछ किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। अतः व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क-भड़क दिखाकर लोकधर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखण्ड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है। लोकमर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दम्भ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद और शास्त्र की निन्दा, ये सब ऐसी बातें थीं जिनसे गोस्वामीजी की अन्तरात्मा बहुत व्यथित हुई।"

ऐसी स्थिति में स्पष्ट हो जाता है कि जिसे लोकधर्म कहते हैं उसकी अवधारणा तथा उसका पालन-अनुपालन समूचे भक्तिकाव्य में एक जैसा नहीं है। अलग-अलग सन्तों और भक्तों में उसका रूप अलग-अलग है। उदाहरण के तौर पर कबीर वेद, शास्त्र, कुरान और सुन्नत ही नहीं, पण्डित और मुल्ला, पण्डे और काजी ही नहीं, लोक को भी समान आक्रोश के साथ फटकारते हैं। इन लोकपरक विश्वासों को कबीर लोकाचार कहते हैं और ऐसे मिथ्या लोकाचारों की भी धज्जियाँ उड़ाकर रख देते हैं। जायसी लोकधर्म में धर्म से परे प्रेम के दृढ़ सूत्र में मनुष्यता को पिरोने की बात करते हैं और इस प्रेमतत्त्व की सबसे बड़ी पूँजी मनुष्य के सबसे बड़े पुरुषार्थ के रूप में रेखांकित करते हैं। उनके विचार से प्रेम ही मनुष्य को ईश्वर तक ले जा सकता है। प्रेमतत्त्व की विराटता, उसकी पवित्रता

तथा जीवन में उसकी आवश्यकता पर उनका विशेष बल रहा है। "मानुष प्रेम भयेउ बैकुंठी" जायसी की प्रसिद्ध उक्ति है। सूरदास के लिए भी प्रेम लोकधर्म ही है। सूर जब इस प्रेम का चित्रण करते हैं, लीलाओं में डूबते हैं जो जिसे आचार्य शुक्ल ने लोकधर्म और सामाजिक मर्यादा कहा है, तब वे सब इस प्रेम और इन प्रेमलीलाओं के प्रवाह में तिनके समान उब-डूब करते दिखाई पड़ते हैं। साथ ही लोकधर्म का एक रूप तुलसीदास में भी है जिनकी रचना का दायरा समूचे मानव-जीवन तक, समूचे समाज तक व्याप्त है और जिनका आविर्भाव सामाजिक संक्रान्ति के एक खास दौर में हुआ था। तुलसीदास भक्ति को ही सबसे बड़ा मानते हैं –

मोरे मन अति दृढ़ विश्वासा। राम से अधिक राम कर दासा॥

इस प्रकार भक्त को भगवान से भी श्रेष्ठ मानना गोस्वामीजी के व्यक्तित्व की पहल है। कुल मिलाकर भक्तिकाव्य में लोकधर्म का यही वैविध्यपूर्ण छवि है। निर्गुण तथा सगुण उपासकों ने उसे अपने-अपने अनुभवों, सोच तथा नीतियों के तहत उभारा है। अपनी सम्वेदना तथा सोच के सबसे उदात्त क्षणों में वे एक ईश्वर से प्रेम की, मानव प्रेम की बात करते हैं, लोक के कष्टों से द्रवित होते हैं और उससे लोक की मुक्ति के लिए ही अपने-अपने आराध्यों के समक्ष नत होते हैं। उनका मानना है कि जिस समाज में मानव प्रेम तथा भक्ति का यह रूप विद्यमान होगा, वही समाज विकसित होगा।

3.3.4.3. सांस्कृतिक चेतना

भक्तिकाव्य का निर्गुण-सगुण सम्बन्ध भारत की सम्पूर्ण सांस्कृतिक धारा को समेकित करता है। इस रूप में भक्तिकाव्य की व्यापकता एवं अखिल भारतीय प्रसार का एक कारण उसकी सांस्कृतिक चेतना है। प्रत्येक कवि परम्परा से संस्कार ग्रहण करता है लेकिन उसमें अपने समय के समाज तथा संस्कृति की समग्र चेतना भी विद्यमान रहती है, साथ ही भविष्य की गहरी चिन्ता भी। इसलिए भक्तिकाव्य की समग्र सांस्कृतिक चेतना किसी-न-किसी रूप में सामाजिक समरसता, अन्याय का प्रतिकार, अहिंसा और करुणा की प्रस्तावना, क्षुद्रता का अतिक्रमण, आत्मसंयम तथा सदाचार पर बल, समन्वयात्मक जीवन-दृष्टि और लोकमंगल की कामना के निहितार्थ है।

3.3.5. निर्गुण-सगुण भक्तिकाव्य में साम्य-वैषम्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सगुणोपासक भक्त भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है, निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिए छोड़ देता है। सामान्यतः ईश्वर के दो रूप माने गए हैं – सगुण एवं निर्गुण। जब परमात्मा को अलेखं, अभेखं, नरेखं, न काया, अजंगं, अभंगं, अजूणी न आया, अलंगु, अभंगु, अखंडं, अछेपं, अनातं, अवातं, अभेतं, अखेपं, अजातं, अवातं, अघातं, अपानं, अमानं, अपापं, नितापं, निधानं, अडोलं, अतोलं, निराकार, अज, अनादि, सर्वव्यापी, गुणातीत, अगोचर, सूक्ष्म तत्त्व मानकर विवेचित किया जाता है तब उसे निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है और जब वही ब्रह्म सगुण साकार रूप धारण कर मानव शरीर ग्रहण कर नाना प्रकार के लीलाकर्म करता है तब उसे सगुण परमात्मा के रूप में जाना जाता है। राम-कृष्ण आदि शरीरधारी परमात्मा के सगुण-साकार रूप हैं। सगुण भक्ति में जहाँ लीलावतार को आराध्य

माना गया है, वहीं निर्गुण भक्तिकाव्य में ब्रह्म ज्ञान और योग साधना को विशेष महत्त्व दिया गया है। सगुण भक्ति में भगवत् कृपा को विशेष स्थान मिला है तो निर्गुण भक्ति ब्रह्मानुभूति पर विशेष बल देती है।

सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सगुण भक्ति को निर्गुण भक्ति की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है, लेकिन केवल इसी कारण से निर्गुण भक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सगुणोपासकों ने निर्गुण भक्ति पर अनेक प्रकार की शंकाएँ व्यक्त की हैं। उनके अनुसार निर्गुण अनुभूति का विषय कैसे बन सकता है, जब तक कि भक्ति के लिए कोई रूपाकार ही न हो। भक्ति के लिए साकार की आवश्यकता होती है। निराकार का ध्यान कैसे किया जा सकता है। कबीर आदि निर्गुण सन्तकवियों ने जो ज्ञानमार्ग की बातें की हैं, वे हिन्दू शास्त्रों की हैं और जिनका संचयन उन्होंने रामानन्द के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, त्रिकुटी, छह रिपु आदि का परिचय उन्हें सत्संग से ही मिला था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तो यहाँ तक मानना है कि हठयोगियों की शब्दावली कबीर ने सामान्य जनता की बुद्धि पर आतंक जमाने के लिए प्रयुक्त की है।

निर्गुण धारा के कवियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। वस्तुतः रहस्यवाद निर्गुण ब्रह्म पर आश्रित है। निर्गुण ब्रह्म को जब भावना का विषय बना लिया जाता है तब रहस्यवाद का जन्म होता है। उदाहरण के तौर पर कबीर और जायसी दोनों ने ही निर्गुण ब्रह्म को रहस्यवाद का विषय बनाया है। सांसारिक माया से ऊपर उठकर उस अलौकिक सत्ता को प्राप्त करने की साधना रहस्यवाद का मूल तत्त्व है।

तत्कालीन परिस्थितियों में सगुणोपासक भक्तकवियों का सारा प्रयास इस ओर केन्द्रित था कि हिन्दू समाज को विघटन और उत्पीड़न से बचाया जाए इसलिए उन्होंने हिन्दू समाज के विभिन्न घटकों को संगठित करने का कार्य किया परिणामस्वरूप उत्तर-दक्षिण का भेद समाप्त हो गया और दक्षिण के अनेक आचार्य रामानुज, राघवाचार्य, वल्लभाचार्य उत्तर भारत के वृन्दावन व मथुरा में आकर रहने लगे। इसी प्रकार शैव-वैष्णव का भेद, सगुण-निर्गुण का विभेद भी समाप्त होने लगा। तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' इस दिशा में किसी भी कवि द्वारा किया गया सबसे बड़ा प्रयास है। दूसरी ओर निर्गुण काव्य-परम्परा के कवियों की दृष्टि हिन्दू समाज को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय समाज को एकता के सूत्र में पिरोने की ओर लगी हुई थी। वे हिन्दू और मुसलमान का भेद भुलाकर मानवता के उदात्त मूल्यों की स्थापना में लगे हुए थे। सूफी कवियों ने साम्प्रदायिक सीमाओं से परे हटकर हिन्दू धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया।

निर्गुण ब्रह्म की परिकल्पना का मूल आधार उपनिषद् है जहाँ ईश्वर के निर्गुण रूप की परिकल्पना है तथापि उनमें से कुछ में ईश्वर के सगुण व साकार रूप की उपासना का भी निर्देश है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को परम ब्रह्म मानते हुए उन्हें सर्वव्यापी, सूक्ष्म, अनादि विशेषणों से उपमित किया गया है। रामचरितमानस में तुलसी ने सगुण और निर्गुण का समन्वय करते हुए कहा है कि वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर सगुण-साकार रूप धारण कर लेता है। निर्गुण-निराकार ब्रह्म को ज्ञान और योग मार्ग से प्राप्त किया जा सकता है, जबकि सगुण-साकार को भक्ति एवं प्रेम मार्ग से। निर्गुण का खण्डन और सगुण के मण्डन की जो प्रवृत्ति भक्तिकाल में दिखाई देती है, उसके पीछे भी यही मंतव्य निहित है। सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों ने प्रेम और भक्ति को श्रेष्ठ

तथा ज्ञान ओर योग को निकृष्ट ठहराया है जबकि तुलसीदास ने समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए निर्गुण और सगुण दोनों का समन्वय किया है।

3.3.6. पाठ-सार

भक्तिकाव्य-परम्परा जातीय रचनाशीलता और मूल्य चिन्ता का अप्रतिम दस्तावेज है। यह परम्परा जहाँ अपने समय के सामाजिक और मानवीय संकटों का यथार्थ चित्रण करती है वहीं लोकमंगल का एक सार्थक एवं सशक्त विकल्प भी प्रस्तुत करती है। वस्तुतः रचना वही महत्त्वपूर्ण होती है जो अपने समय के लिए तो आवश्यक हो ही, आने वाले समय में भी उतनी ही प्रासंगिक सिद्ध हो। भक्तिकालीन काव्य-परम्परा अपने समय में तो महत्त्वपूर्ण थी ही, समकालीन परिवेश के लिए भी अर्थवान् है। यह हमारी अमूल्य विरासत है जिसे हमें कृतज्ञता के साथ स्वीकार करना है और संरक्षण देना है।

3.3.7. शब्दावली

ब्रह्म	:	ईश्वर
साधना	:	लक्ष्य प्राप्ति की क्रिया
निर्गुण	:	त्रिगुणातीत
सगुण	:	सर्वगुणसम्पन्न
रहस्यवाद	:	अरूप और अज्ञात सत्ता के प्रति निवेदन

3.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिंह, कुँवरपाल. भक्ति-आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. मध्यकालीन धर्म साधना. इलाहाबाद : साहित्य भवन.
3. सिंह, गोपेश्वर (सं.). भक्ति-आन्दोलन के सामाजिक आधार. नई दिल्ली : किताबघर.
4. पाण्डेय, मैनेजर. साहित्य और इतिहास दृष्टि. वाणी प्रकाशन : नई दिल्ली.
5. शुक्ल, रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा.
6. त्रिपाठी, विश्वनाथ. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास. हैदराबाद : ओरियंट लौंगमैन.

3.3.9. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भक्तिकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
2. भक्तिकाव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।
3. भक्तिकाव्य में लोकमंगल की भावना का विवेचन कीजिए।

4. भक्तिकाव्य के सामाजिक-सांस्कृतिक अवदान की चर्चा कीजिए।
5. भक्तिकालीन दर्शन के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "भक्ति द्राविड़ उपजी, लाए रामानन्द" इस लोकोक्ति को ध्यान में रखते हुए भक्ति-आन्दोलन के अखिल भारतीय स्वरूप की विवेचना कीजिए।
2. निर्गुण एवं सगुण भक्ति के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भक्तिकाल को कितनी शाखाओं में बाँटा गया ?

(क) दो
(ख) तीन
(ग) चार
(घ) पाँच

2. भक्ति साहित्य ईश्वर का कौन-सा रूप स्वीकार करता है ?

(क) मोहक और मनोहर
(ख) राम व कृष्ण
(ग) लौकिक व अलौकिक
(घ) निराकार और साकार

3. भक्तिकाल को अन्य किस नाम से भी जाना जाता है ?

(क) पूर्व मध्यकाल
(ख) उत्तर मध्यकाल
(ग) मध्यकाल
(घ) पूर्वोत्तर मध्यकाल

4. भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ माना जाता है –

(क) उत्तर भारत से
(ख) दक्षिण भारत से

(ग) मध्य भारत से

(घ) पूर्वी भारत से

5. भक्ति प्रधानतः किससे सम्बद्ध है ?

(क) मन से

(ख) नेत्रों से

(ग) बुद्धि से

(घ) वाणी से

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : भक्ति-आन्दोलन का उदय, तत्त्व-दृष्टि एवं जीवन-दर्शन

इकाई – 4 : भक्त-कवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक दृष्टि : नारी, वर्ण-व्यवस्था, जाति

इकाई की रूपरेखा

3.4.0. उद्देश्य
3.4.1. प्रस्तावना
3.4.2. भक्तकवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना
3.4.3. भक्तकवियों की नारी-दृष्टि
3.4.4. भक्तकवियों की वर्ण-व्यवस्था एवं जाति सम्बन्धी दृष्टि
3.4.5. पाठ-सार
3.4.6. बोध प्रश्न
3.4.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.4.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.4.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भक्तकवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना से परिचित हो सकेंगे।
ii. भक्ति कविता की लोकधर्मिता एवं लोकसम्पृक्ति को समझ सकेंगे।
iii. भक्ति कविता के सामन्तवाद-विरोधी स्वरूप को समझ सकेंगे।
iv. भक्तकवियों की वर्ण-जाति व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टियों के अन्तर को जान पाएँगे।
v. भक्तकवियों की नारी-दृष्टि से अवगत हो सकेंगे।

3.4.1. प्रस्तावना

भक्तिकालीन हिन्दी कविता आदिकालीन कविता की वीरगाथात्मकता एवं मनोरंजनपरकता से आगे निकलकर न केवल लोक और समाज के प्रश्नों से जुड़ती है, बल्कि कविता की सामाजिक भूमि और भूमिका का विस्तार भी करती है। 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब' कायदे से भक्तिकाल में ही दिखाई पड़ता है। पूरी भक्तिकालीन कविता लोक के रंगों से भरी हुई कविता है। यहाँ भक्ति लोक विमुखता की ओर नहीं लेकर जाती, बल्कि लोक को और गहरे में जानने-बूझने का उपक्रम करती है। यह कविता वस्तुतः लोक से एक संवाद है। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्तकवियों की कविताओं में सम्बोधन और संवाद की शैली को देखकर भी इस बात को समझा जा सकता है। यही कारण है कि भक्ति कविता में भक्तकवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि

स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है। भक्तिकालीन हिन्दी कविता का अध्ययन करते हुए इसके विस्तार और व्यापकता को ध्यान में रखना ज़रूरी है। साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि भक्ति कविता का कोई एक अकेला और प्रधान स्वर नहीं है। यहाँ पर्याप्त वैविध्य है। इस विविधता का कारण कवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि की भिन्नता है। इस पाठ में हम भक्तकवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि और उनकी परस्पर भिन्नता को ही समझने का प्रयास करेंगे।

3.4.2. भक्तकवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, लोकधर्मिता और लोकोन्मुखी प्रवृत्तियों के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भक्तिकालीन कविता का मूल स्वर भक्ति है, लेकिन यह भक्ति लोकोत्तर और पूरी तरह से लोक से परे नहीं है, बल्कि यहाँ गहरी लोक सम्पृक्ति है। बल्कि अगर कहा जाए कि यहाँ भक्ति के भी अपने गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक निहितार्थ हैं, तो यह गलत नहीं होगा। भक्तिकालीन हिन्दी कविता दरअसल उस व्यापक अखिल भारतीय भक्ति-आन्दोलन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो ईश्वर भक्ति के साथ-साथ 'मानुष सत्य' के लक्ष्य को सर्वोपरि मानकर चलता है और इसी 'मानुष सत्य' के लक्ष्य की प्राप्ति को साहित्य का उद्देश्य बनाता है। चण्डीदास भक्तिकालीन कविता के इसी लक्ष्य की घोषणा करते हैं –

शबार ऊपरे मानुष शत्तो
ताहार उपरे नाई।

(मुक्तिबोध रचनावली-5, पृष्ठ संख्या: 290 पर उद्धृत)

प्रायः सभी भक्तिकालीन कवि सामाजिक रूप से सजग और सचेत हैं। अपने समय और समाज की नब्ज़ को बारीकी से पकड़ने वाली तथा उसकी जरूरतों को समझने में सक्षम उनकी दृष्टि का पता उनकी कविताओं से चलता है। यह अकारण नहीं है कि भक्तिकाल की कविता अपनी पूर्ववर्ती आदिकालीन कविता और ठीक बाद की रीतिकालीन कविता परम्परा के विपरीत दरबारीपन की सीमाओं से पूरी तरह मुक्त और लोक के सरगम से युक्त है। इस कविता का सरोकार मनुष्यता से है, मानव मात्र के सम्मान से है और एक माननीय समतामूलक सुन्दर समाज के निर्माण से है। भक्तिकालीन हिन्दी कविता के आलोचकों ने इस बात को बिल्कुल ठीक पहचाना है कि भक्तिकाल के अधिकांश कवि अपनी कविता में एक 'यूटोपिया' रचते हैं – 'यूटोपिया' अर्थात् एक स्वप्न-लोक, एक कल्पित समाज। भक्तिकाल का हर बड़ा कवि एक बेहतर और सुन्दर समाज की कल्पना करता है। यह कल्पित लोक कोई काल्पनिक लोक नहीं है, जहाँ पहुँचकर कवि लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति करता है, बल्कि यह एक वांछित लोक है जहाँ मनुष्य मात्र की मुक्ति सम्भव हो, जो अपने ढंग का एक आदर्श समाज हो सके। कबीर का 'अमर देसवा', तुलसी का 'रामराज्य', सूर का 'वृन्दावन' और जायसी का 'सिंघल द्वीप' ऐसे ही यूटोपिया हैं। यद्यपि भक्तिकालीन कवियों के अपने-अपने कल्पित समाज के पीछे उनकी अपनी विचारधारात्मक दृष्टियाँ काम कर रही हैं, जिससे उनके कल्पित लोक के स्वरूप में परस्पर पर्याप्त अन्तर भी है, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि अपने समय और समाज की विसंगतियों की बारीक पहचान उन्हें है और इसलिए तत्कालीन समाज के

बरक्स एक बेहतर समाज की प्रस्तावना उनकी कविता में दिखाई पड़ती है। अपने समय और समाज को ठीक-ठीक जाने बिना यह सम्भव नहीं है। भक्तिकाल की कविता को ध्यान से पढ़ें तो उसमें अभिव्यक्त तत्कालीन समाज के यथार्थ को भी बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। इस रूप में भक्तिकालीन हिन्दी कविता में आकांक्षा और यथार्थ का द्वन्द्व साफ दिखाई पड़ता है।

भक्तिकालीन हिन्दी कविता का स्वर मूलतः सामन्तवाद विरोधी है। असल में भक्ति-आन्दोलन की मूल अवधारणा का केन्द्रीय तत्त्व है यह सामन्तवाद विरोध। इस आन्दोलन ने सामन्तवाद की जकड़ को ढीला करने का प्रयास किया, उससे सीधे-सीधे मोर्चा लिया और उसे चुनौती दी। भक्ति कविता की इस सामन्तवाद विरोधी चेतना को इसकी शुरुआत (दक्षिण भारतीय भक्ति-आन्दोलन) से ही पहचाना जा सकता है। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है भक्ति कविता के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर तथाकथित नीची जातियों के कवियों और स्त्रियों की उपस्थिति। भक्ति और कविता के वर्जित प्रदेश में तथाकथित नीची जातियों के कवियों और स्त्रियों का हस्तक्षेप अपने-आप में ही सामन्ती सामाजिक संरचना और सामन्ती नैतिकता के प्रति खुला विद्रोह है। भक्तकवि अपनी कविता में इस सामन्ती नैतिकता के बरक्स एक समानान्तर नैतिकता की पेशकश करते हैं जिसकी एकमात्र कसौटी मनुष्यता है।

भक्तकवियों के सामन्तवाद विरोध का एक रूप उनकी भाषा में भी दिखाई पड़ता है। भक्तिकाल का प्रत्येक कवि अपनी-अपनी मातृभाषा का कवि है। भक्तिकालीन कवियों ने संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की आभिजात्य परम्परा को तोड़ कर लोक-भाषा को कविता की भाषा बनाया। कविता की आभिजात्य भाषा परम्परा के कारण लोक का एक बहुत बड़ा हिस्सा मौन बना रहा था। समाज की तथाकथित नीची जातियाँ और स्त्रियाँ लोक-भाषाओं और मातृभाषाओं का सहारा पाकर मुखर हो उठीं। उनके भीतर का सामाजिक असन्तोष और उनकी सम्वेदना उनकी प्रतिभा के जोर से कविता की शक्ल में फूट पड़ी। इन कवियों ने भाषा के सामन्ती ढाँचे को तोड़कर मातृभाषाओं को रचनात्मकता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया। भाषा के सामन्तवाद का ऐसा मुखर विरोध शायद ही और कभी दिखाई पड़ा हो। भक्तिकालीन कविता के 'इन्क्लूसिव अप्रोच' (समावेशी प्रवृत्ति) का एक बड़ा कारण है मातृभाषाओं में रचनात्मक विस्फोट। यह अकारण नहीं है कि भक्तकवियों ने आभिजात्य संस्कृति की जगह जनसंस्कृति को कविता का विषय बनाया और साथ ही कविता के शास्त्रीय ढाँचे को तोड़कर उसे लोक मन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य' में बिल्कुल ठीक लिखा है – "सामन्ती संस्कृति, दरबारी वातावरण और पुराने काव्यशास्त्र के रीतिवाद से मुक्त भक्तिकाव्य लोकभाषाओं में जनसंस्कृति और जन-भावनाओं की अभिव्यक्ति का काव्य है।"[1]

3.4.3. भक्तकवियों की नारी-दृष्टि

नारी के सम्बन्ध में सभी भक्तकवियों की दृष्टि एक-सी नहीं है। उनमें परस्पर पर्याप्त अन्तर है। इसलिए पूरी भक्ति कविता की नारी-दृष्टि का सामान्यीकरण न तो सम्भव है और न ही उचित। तुलसी से लेकर कबीर, सूर और

फिर मीराबाई की कविताओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि स्त्री को लेकर भक्तिकालीन हिन्दी कविता का 'रेंज' बहुत व्यापक और वैविध्यपूर्ण है। अलग-अलग कवियों की नारी-दृष्टि में तो परस्पर भिन्नता है ही, स्वयं एक कवि की दृष्टि में भी अन्तर्विरोध साफ दिखाई पड़ते हैं। इसलिए भक्तिकालीन हिन्दी कविता में यदि एक ओर स्त्री विरोध का स्वर सुनाई पड़ता है तो दूसरी ओर स्त्री-मुक्ति का मुखर उद्घोष भी सुनाई पड़ता है।

तुलसीदास भक्तिकाल ही नहीं पूरे हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। लेकिन उनकी नारी-दृष्टि से सहमत होना कठिन है। डॉ॰ नगेन्द्र अपने लेख 'तुलसी और नारी' में बिल्कुल ठीक लिखते हैं कि "तुलसीदास के 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रन्थों में, विभिन्न प्रसंगों में, ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं, जो किसी भी देश-काल की नारी के प्रति किसी भी रूप में न्याय नहीं करतीं।"[2] नारी के सम्बन्ध में तुलसी तत्कालीन सामन्ती समाज की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाते। तुलसी नारी के स्वभाव को जटिल मानते हैं जिसे समझ पाना आसान नहीं है और जो हर तरह से अबूझ है –

सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दु राऊ॥

(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या-46, चौपाई संख्या-4)

नारी स्वभाव के अबूझ होने, उसके अवगुणों के खान होने आदि की बात पूरे रामचरितमानस में कई प्रसंगों में देखी जा सकती है। मानस के आदर्श पात्रों से लेकर खल पात्रों तक, सभी की राय नारी के विषय में एक ही है। मानस के आदर्श पात्र भरत की उक्ति भी यही है कि स्त्रियों के हृदय की गति विधाता भी नहीं जान सके और वह कपट, पाप और अवगुणों की खान है –

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या-161, चौपाई संख्या-02)

नारी के बारे में ठीक ऐसे ही विचार रावण के भी हैं –

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥

(रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या-15 ख, चौपाई संख्या-01)

रावण के माध्यम से तुलसी उन आठ अवगुणों को भी बताते हैं –

साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥

(रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या-15 ख, चौपाई संख्या-02)

मतलब दुस्साहस, झूठ, चंचलता, छल, भय, मूर्खता, अपवित्रता और निर्दयता जैसे अवगुण स्वभावतः स्त्री के भीतर मौजूद रहते हैं। तुलसीदास के यहाँ स्त्री की मूर्खता, अपवित्रता आदि की धारणा इतनी मजबूत है कि केवल पुरुष पात्रों के जरिए ही नहीं, बल्कि स्वयं स्त्री पात्रों के माध्यम से भी तुलसी ने नारी के बारे में ऐसी ही बातें कहलाई हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। मानस के बालकाण्ड में शिव से राम कथा सुनाने का आग्रह करती हुई पार्वती अपने को स्त्री होने के कारण स्वभाव से ही मूर्ख और अज्ञानी कहती हैं –

जदपि सहज जड़ नारि अयानी ॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या-119, चौपाई संख्या-02)

इसी तरह शबरी भी नारी को अधमों में भी अत्यन्त अधम बताती है –

अधम ते अधम अधम अति नारी।

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा संख्या-34, चौपाई संख्या-02)

अनुसूया सीता को पतिव्रत धर्म की महिमा बताती हैं और उसे सीख देती हैं कि पति चाहे मूर्ख, अन्धा, बहरा, क्रोधी, जैसा भी हो, उसका सम्मान करना और उसके प्रति निष्ठा रखना ही स्त्री का धर्म है ! अनुसूया इसकी व्याख्या इस प्रकार करती हैं कि स्त्री तो स्वभावतः ही अपवित्र होती है और पति की सेवा से ही वह शुभ गति को प्राप्त कर सकती है –

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा संख्या-5 क)

इस तरह तुलसीदास के तमाम पात्र, चाहे वो आदर्श हों या खल, स्त्री हों या पुरुष, सभी की दृष्टि नारी को लेकर एक-सी ही है। स्त्री की मर्यादा पति के प्रतिनिष्ठा में ही है। स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व यहाँ स्वीकार्य नहीं है। यह मूलतः सामन्ती दृष्टि ही है। तुलसी रामचरितमानस में समुद्र के मुख से यहाँ तक कहलवा देते हैं –

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

(रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या-58, चौपाई संख्या-03)

यह कथन शूद्र विरोधी (मूलतः वर्णवादी) भी है और स्त्री विरोधी भी। आज किसी भी रूप में इस कथन के विचारों का समर्थन या 'डिफेंस' नहीं किया जा सकता। कुछ विद्वान् इन तमाम स्त्री विरोधी वक्तव्यों से तुलसी को अलग करते हुए उन्हें विभिन्न पात्रों के निजी विचार बताते हुए तुलसीदास को 'डिफेंड' करने की कोशिश करते हैं। ऐसे विद्वानों को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन को ध्यान में रखना चाहिए – " 'रामचरितमानस'

में तुलसी केवल कवि रूप में ही नहीं, उपदेशक के रूप में भी सामने आते हैं। उपदेश उन्होंने किसी-न-किसी पात्र के मुख से कराए हैं, इससे काव्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे उपदेश पात्र के स्वभावचित्रण के साधनरूप हैं। पर बात यह नहीं है। वे उपदेश उपदेश के लिए ही हैं।"[3]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वयं आचार्य शुक्ल तुलसी को हिन्दी साहित्य का सबसे बड़ा कवि मानते हैं।

तुलसीदास की कविता में नारी की स्वतन्त्रता को लेकर दो परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं। कभी तुलसी नारी की पराधीन स्थिति से इतने द्रवित होते हैं कि पार्वती की माँ मैना के माध्यम से स्त्री की दयनीय स्थिति को सामने रखते हैं। मैना पार्वती को पतिव्रता के कर्त्तव्य बताते-बताते अचानक भावुक होकर कह उठती है –

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या-101, चौपाई संख्या-03)

लेकिन नारी की पराधीनता और उसकी दयनीय स्थिति की चिन्ता अपवादस्वरूप ही तुलसी के यहाँ मिलती है। सामान्यतः यहाँ स्त्री पराधीनता में ही पूज्य है, उसे पतिव्रता और सती का गौरव प्राप्त है अन्यथा वह नीच है, दुष्टा है। स्त्री की स्वतन्त्रता को लेकर तुलसी पूरे निर्णयात्मक अंदाज में अपनी बात कहते हैं –

जिमि सुतन्त्र भएँ बिगरहिं नारीं।

(रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, दोहा संख्या-14, चौपाई संख्या-04)

जाहिर है स्त्री के सम्बन्ध में तुलसी की दृष्टि को किसी भी समय समाज में उचित नहीं ठहराया जा सकता।

भक्तिकालीन कवियों में कबीर अपनी प्रगतिशील सामाजिक चेतना के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुक्तिबोध ने इसी कारण कबीर को तुलसी की तुलना में अधिक आधुनिक भी माना है। लेकिन नारी को लेकर कबीर के विचारों को देखें तो कबीर की प्रगतिशील छवि धुंधली पड़ने लगती है। कबीर की कविता में भी नारी-निन्दा के ढेरों उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' में कबीर की साखियों का एक पूरा अंग – 'कामी नर कौ अंग' नारी-निन्दा की साखियों से भरा है। कबीर बहुत स्पष्ट रूप से नारी को साधना के मार्ग में बाधक मानते हैं। ज्ञान और भक्ति की पुरुषवादी सामन्ती धारणा से कबीर भी मुक्त नहीं हो पाते और इसलिए वे कहते हैं –

नारि नसाबैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैंसि न सकई कोइ॥

(कबीर ग्रन्थावली, श्यामसुन्दरदास, कामी नर कौ अंग, साखी संख्या-10)

कबीर के द्वारा की गई नारी-निन्दा को उनकी एक और साखी के आधार पर देखा जा सकता है। कबीर कहते हैं –

नारी कुण्ड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधू जन ऊबरै, सब जग मूंवा लाग॥

(कबीर ग्रन्थावली, कामी नर कौ अंग, साखी संख्या-15)

नारी को 'नरक का कुण्ड' कहने से ज्यादा नारी-निन्दा और क्या हो सकती है ! कबीर और तुलसी की नारी-दृष्टि की एक और समानता है – पतिव्रता स्त्रियों और सती का महिमामण्डन। तुलसी की तरह कबीर भी पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा करते हैं। साथ ही सती प्रथा का महिमामण्डन भी करते हैं। कबीर ग्रन्थावली में 'सूरातन कौ अंग' में कई साखियाँ ऐसी हैं जिनमें सती का गुणगान किया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाई।
ले सूती पिव आपणा, चहुँ दिसि अगनि लगाई॥

(कबीर ग्रन्थावली, सूरातन कौ अंग, साखी संख्या-34)

इस तरह से देखने पर हम पाते हैं कि अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर एक-दूसरे से काफी भिन्न विचार रखने वाले तुलसी और कबीर नारी के मामले में लगभग एक ही वाणी बोलते नज़र आते हैं। लेकिन कबीर की नारी-दृष्टि का एक और पक्ष भी है, जिसे अनदेखा करके हम कबीर की नारी-दृष्टि को समग्रता में नहीं समझ सकते। यह सही है कि कबीर बहुत स्पष्ट रूप से नारी की निन्दा करते हैं, लेकिन इस के साथ-साथ यह भी उतना ही सच है कि कबीर सम्वेदना के गहनतम धरातल पर स्वयं नारी की वाणी बोलने लगते हैं, प्रेम के समूचे प्रसंग को नारी की निगाह से देखने लगते हैं और विरह की व्यथा को स्त्री की तरह महसूसने लगते हैं। नारी को साधना के मार्ग में बाधक मानने और फिर स्वयं नारी का रूप ग्रहण कर ईश्वर को अपना प्रेम निवेदित करने में जो अन्तर्विरोध उभरता है, वही कबीर को तुलसी से अलग करता है। तुलसी के यहाँ इस तरह का कोई अन्तर्विरोध नहीं है। कबीर के कई ऐसे पद हैं जो शुद्ध प्रेम के पद हैं और जिनमें दाम्पत्य के रूपक बार बार आते हैं। कबीर के एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

बाल्हा आव हमारे गेह रे,
तुम्ह बिन दुखिया देह रे॥
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
एकमेव ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।

(कबीर ग्रन्थावली, पद संख्या-307)

स्त्री के बहाने जिस कामभावना को कबीर साधना के मार्ग में बाधक मानते हैं, उसी कामभावना के रूपक को अपनी भक्ति और प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बनाते हैं ! कबीर अपनी कविता में न सिर्फ स्वयं स्त्री बन जाते हैं, बल्कि अपने आराध्य और प्रियतम के साथ एकमेव होकर एक ही सेज पर सोने की बात भी करते हैं। इसके अलावा कबीर 'हरि मोर पीव, मैं राम की बहुरिया', 'न हौं देखूँ और कूँ, न तुझ देखन देऊँ', 'तन रति करि मैं मन रति करिहौं', आदि जैसे पद भी लिखते हैं। नारी के कामिनी रूप की निन्दा करना और फिर स्वयं नारी बनकर भक्ति करना – इनमें गहरा द्वन्द्व और अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। कबीर के विशेषज्ञ डॉ॰ पुरुषोत्तम अग्रवाल इसे कबीर के संस्कार और उनकी सम्वेदना का द्वन्द्व मानते हैं। संस्कारवश कबीर नारी निन्दा करते हैं, लेकिन अपनी सम्वेदना की अभिव्यक्ति में स्वयं नारी बन जाने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं। संस्कार और सम्वेदना का यह द्वन्द्व ही कबीर को बड़ा कवि बनाता है। डॉ॰ पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'विचार का अनन्त' के एक लेख में इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है – "कबीर की नारी सम्बन्धी दृष्टि में फाँक इसलिए सर्जनात्मक है कि यहाँ हम संस्कार का रूप ले चुकी विचारधारा के सामने सहज मानवीय सम्वेदना और बोध को पूरी तेजस्विता के साथ खड़े होते देखते हैं।"[4]

भक्तिकालीन हिन्दी कविता में नारी का सहज और स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व यदि किसी पुरुष कवि की कविता में दिखाई पड़ता है तो वह हैं – सूरदास। कबीर और तुलसी की तरह सूर की कविता में कहीं भी, किसी भी रूप में नारी-निन्दा दिखाई नहीं पड़ती। जायसी की कविता भी नारी निन्दा से मुक्त है, लेकिन सती का महिमामण्डन वहाँ भी है। 'पद्मावत' का एक पूरा खण्ड 'पद्मावती-नागमती-सतीखण्ड' सती प्रथा का महिमामण्डन करता है। सूर के यहाँ सती प्रथा का भी गुणगान नहीं है, बल्कि उसकी भर्त्सना है। सूर के विशेषज्ञ आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं – "सूरसागर में केवल एक जगह सती प्रथा का उल्लेख है। वहाँ भी उस प्रथा की भर्त्सना ही है और उसके जघन्य रूप के त्रासद प्रभाव की ओर संकेत भी।"[5]

सूर की कविता कृष्ण और गोपियों के अकुंठ और अबाध प्रेम तथा साहचर्य की कविता है। ब्रज की गोपियाँ कृष्ण से अपार प्रेम करती हैं। उनका प्रेम लोक और वेद के तमाम विधि-निषेधों से मुक्त है। गोपियों में कई पहले से विवाहित हैं और कई अविवाहित। लेकिन ये सब कुल की मर्यादा और यश-अपयश के भय से मुक्त कृष्ण के प्रेम में पुलकित हैं। जाहिर है यह सूर के समय और समाज का यथार्थ नहीं हो सकता था। यह तो सूर की भक्ति और कविता का संसार है, जहाँ स्त्री लोक और शास्त्र के सेंसरशिप से मुक्त और स्वच्छन्द है। तुलसीदास जहाँ वेदपथ की दुहाई देते हुए 'जिमि सुतन्त्र भएँ बिगरहिं नारीं' की घोषणा करते हैं, वहीं सूर अपनी कविता में स्त्री स्वातंत्र्य का स्वप्न रचते हैं। मनुष्य की सबसे प्रिय और उत्कट आकांक्षा है – स्वतन्त्रता। स्त्री के सन्दर्भ में इसकी उत्कटता और भी बढ़ जाती है। तुलसी इसी स्वतन्त्रता को स्त्री के लिए प्रतिबंधित कर देते हैं, जबकि सूर इस निधि को स्त्रियों पर खुलकर लुटा देते हैं। सूर पितृसत्तात्मक सामन्ती समाज में अपनी कविता के भीतर न सिर्फ स्त्री को प्रेम और वरण की स्वतन्त्रता देते हैं, बल्कि एक ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जो स्त्री स्वतन्त्रता और प्रेम को अपराध नहीं वरन् सहज मानवीय वृत्ति मानता हो। सूर की यह नारी-दृष्टि उन्हें अन्य भक्तकवियों से अलग करती है।

सूर की कविता वस्तुतः स्त्री-स्वातंत्र्य के उत्सव की कविता है। राधा और ब्रज की गोपियाँ कृष्ण के साथ रासलीला और अन्य क्रीडाओं में मगन रहती हैं, उन्हें और किसी चीज की सुध नहीं है। दिलचस्प बात यह है कि ब्रज के समाज को भी इससे कोई खास परेशानी नहीं है। ऐसे स्वच्छन्द समाज की कल्पना अन्य भक्तकवियों के यहाँ दुर्लभ है। शुक्लजी ने बिल्कुल सही लिखा है कि "सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छन्द हैं। वे लोकबन्धनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया।"[6]

सूरदास की गोपियाँ तुलसी की नारी की तरह मूर्ख और शास्त्रीय बातों को समझने में असमर्थ भी नहीं हैं, बल्कि इसके विपरीत वे तो पर्याप्त तार्किक और प्रत्युत्पन्नमति सम्पन्न हैं। इसका जबर्दस्त प्रमाण भ्रमरगीत के उद्धव-गोपी संवाद में मिलता है जब ज्ञान और योग का शास्त्रीय सन्देश लेकर आए उद्धव को गोपियाँ अपने सहज तर्कों से बुरी तरह परास्त और लाजवाब कर देती हैं। एक उदाहरण देखिए –

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लाद खेंप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी॥
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट सु धारी॥

(भ्रमरगीत-सार, सं. : रामचन्द्र शुक्ल, पद संख्या- 23)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि सूर के काव्य में स्त्री अपने सहज, स्वतन्त्र और तेजस्वी रूप में दिखाई पड़ती है, जो लोक और वेद के बन्धनों से मुक्त परम स्वच्छन्द है।

भक्तिकालीन हिन्दी कविता में सर्वाधिक क्रान्तिकारी नारी-दृष्टि मीराबाई की है। मीरा की कविता स्त्री के पक्ष से की गई कविता है। यहाँ मीरा को न तो कबीर की तरह अलग से नारी रूप धारण करने की जरूरत है और ना सूर की तरह गोपियों के माध्यम की आवश्यकता। मीरा स्वयं अपनी बात कहती हैं। मीरा की पूरी कविता उनकी आत्माभिव्यक्ति है। उन्होंने जो जिया वही रचा। इसलिए यह स्वाभाविक है कि वहाँ अनुभूति की प्रामाणिकता भी अधिक है और प्रभावोत्पादकता भी।

मीरा राठौड़ कुल की बेटी थीं और सिसौदिया कुल की बहू। लिहाजा कुल की मर्यादा का दबाव भरपूर था। सामन्ती समाज के 'लोकलाज' का दबाव अलग। इन दबावों के बीच विधवा मीरा का घर से निकलकर अपने आराध्य कृष्ण से प्रेम करना, वह भी सिर्फ कविता में ही नहीं, जीवन में यह मीरा की क्रान्तिकारिता है। मीरा की कविता का संसार भक्तिकालीन अन्य कवियों की कविता के संसार की तरह कोई स्वप्नलोक नहीं है, बल्कि वह मीरा का वास्तविक लोक है। सूर जिस स्त्री-स्वातंत्र्य का स्वप्न देखते हैं मीरा उसे जीती हैं। इस मामले में मीरा भक्तिकाल के तमाम दूसरे कवियों से बहुत आगे हैं।

सामन्ती समाज में किसी स्त्री का उन्मुक्त होना ही घोर अपराध है, उन्मुक्त होकर प्रेम करना तो और भी बड़ा अपराध । सामन्ती व्यवस्था में लोकलाज और कुल की मर्यादा के नाम पर स्त्रियों के आचरण को 'अनुशासित' करने की पुरानी परम्परा रही है । यह अकारण नहीं है कि मीरा 'लोकलाज' और 'कुल की काणि' दोनों को धता बताने की चर्चा बार-बार अपनी कविता में करती हैं । इस विद्रोह का स्वर भी ऐसा है कि सामन्ती पितृसत्ता के ठेकेदार तिलमिला उठें । कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं –

लोकलाज कुल काण जगत की, दइ बहाय जस पाणी ।
अपणे घर का परदा करले, मैं अबला बौराणी ।

(मीराँबाई की पदावली, सं. : परशुराम चतुर्वेदी, पद संख्या - 38)

तथा

सीसोद्यो रूठ्यो म्हाँरो काँई करलेसी ।
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्याँ, हो माई ॥

X X X

लोकलाज की काण न मानूँ ।
नरभै निसाणा घुरास्याँ हो माई ।

(मीराँबाई की पदावली, पद संख्या - 35)

लोकलाज और कुल की मर्यादा त्यागकर कृष्ण के प्रेम में दीवानी हो कर नाचने का उल्लेख और भी कई पदों में मीरा ने किया है । यह असल में सामन्ती समाज के प्रति मीरा का प्रतिरोध है जो उनकी कविता में अभिव्यक्त हुआ है । मीरा के विद्रोह का यह रास्ता आसान नहीं था । सामन्ती पितृसत्ता मीरा के विद्रोह को कुचलने का हर सम्भव प्रयास करती है, यहाँ तक कि मीरा की हत्या का प्रयास भी । इन सबका उल्लेख भी मीरा अपनी कविता में करती हैं –

बिख रो प्यालो राणा भेज्याँ, पीवाँ मीराँ हाँसा री ।

(मीराँबाई की पदावली,पद संख्या-36)

तथा

राणोजी थे जहर दियो म्हे जाणी ॥

(मीराँबाई की पदावली,पद संख्या- 38)

और भी,

राणा भेज्या बिख रो प्यालो चरणामृत पी जाणा ।
काला नाग पिटार्यां भेज्या, सालगराय पिछाणा ॥

(मीराँबाई की पदावली,पद संख्या-39)

कहने का आशय यह कि मीरा का प्रेम पथ आसान नहीं था । तमाम सामन्ती चुनौतियों के बीच अपनी स्वतन्त्र चेतना को बनाए-बचाए रखना मीरा की दृढ़ इच्छाशक्ति का ही परिणाम है । दिलचस्प बात यह है कि इतने अत्याचारों के बावजूद मीरा अपनी कविता में कहीं भी बहुत अधिक कड़वी भाषा का प्रयोग नहीं करतीं । लेकिन उनकी भाषा का व्यंग्य और चुटीलापन पुरुष सत्ता को लाजवाब कर देने वाला है । इस प्रकार का व्यंग्य और भाषा की यह ताकत जबर्दस्त आत्मविश्वास के बूते ही पैदा होती है । मीरा का यह आत्मविश्वास इस पद में देखा जा सकता है –

राणो म्हाँने या बदनामी लगे मीठी ॥
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूँगी चाल अपूठी।

(मीराँबाई की पदावली, पद संख्या-33)

मीरा की विद्रोही प्रवृत्ति ही मीरा की पहचान है । 'भक्तमाल' में भी मीरा के इस विद्रोही और संघर्षशील व्यक्तित्व का उल्लेख नाभादासजी ने किया है –

भक्तिनिशान बजाए कै, काहू तैं नाहिन लजी ।
लोकलाजकुलशृंखला, तजि मीरा गिरिधर भजी ॥

(श्रीभक्तमाल, श्री नाभादास, छप्पय संख्या-120)

भक्तिकालीन हिन्दी कविता में मीरा का स्वर सामन्ती समाज में स्त्री-मुक्ति का विकल्प तलाशती स्त्री का स्वर है । इसमें सामन्ती संस्कृति की जकड़न से पैदा हुई बेचैनी भी है और इस बन्धन को तोड़ डालने का साहस भी । मीरा की कविता में मुक्ति की चाहत जितनी आध्यात्मिक है, उतनी ही सामाजिक भी । यह कहना असंगत नहीं होगा कि मीरा की कविता स्त्री-मुक्ति की चेतना का प्रारम्भिक उद्घोष है ।

3.4.4. भक्तकवियों की वर्ण-व्यवस्था एवं जाति सम्बन्धी दृष्टि

हम देख चुके हैं कि भक्ति कविता अपने प्रारम्भिक दौर से ही एक समतामूलक समाज के निर्माण की पक्षधर रही है । समानता के दो पक्ष हैं – आध्यात्मिक क्षेत्र में समानता और सामाजिक समानता । पारमार्थिक सत्य के रूप में आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता की बात तो शंकराचार्य भी करते थे, लेकिन लौकिक जगत् में वह

वर्णाश्रम के आदर्श को बनाए रखना चाहते थे। लेकिन भक्ति-आन्दोलन पारमार्थिक और लौकिक अर्थात् आध्यात्मिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर समानता के लक्ष्य को लेकर चलता है। यह अकारण नहीं है कि दक्षिण में भक्ति-आन्दोलन की शुरुआत के साथ ही आलवार भक्तों में समाज की तथाकथित निचली जातियों के भक्त भी शामिल थे और आंडाल नामक महिला भक्त भी। रामानन्द के शिष्यों में भी कई तथाकथित नीची जातियों के थे। आशय यह कि भक्ति-आन्दोलन की चेतना अपने मूल रूप में किसी भी तरह के भेदभाव से मुक्त एक समरस समाज के निर्माण की चेतना थी।

हिन्दी की भक्ति कविता में वर्ण-व्यवस्था और जाति के प्रश्न पर दो तरह की दृष्टियाँ देखने को मिलती हैं। एक दृष्टि है वर्ण और जाति के जबर्दस्त विरोध की दृष्टि और दूसरी है वर्ण-व्यवस्था का समर्थन और उसकी पुनर्प्रतिष्ठा करने वाली दृष्टि। इन दोनों दृष्टियों के अपने-अपने सामाजिक और विचारधारात्मक आधार हैं। मुक्तिबोध की स्थापना के आधार पर यदि इसे समझा जाए तो वर्ण-जाति विरोध का पक्ष निर्गुण सन्तों का पक्ष है और वर्णाश्रम समर्थन सगुण भक्तों का। मुक्तिबोध अपने लेख 'मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू' में लिखते हैं – "भक्ति-आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किए, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर, रैदास, नाभा, सिपी, सेना, नाई आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की।"[7] निर्गुण भक्ति में चूँकि ज्यादातर भक्त समाज की तथाकथित नीची जातियों से आए, इसलिए यदि उनकी कविता में जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था के शोषक रूप और उसके प्रति असन्तोष की अभिव्यक्ति अधिक मुखर है तो यह स्वाभाविक भी है। निर्गुण भक्तों के वर्णाश्रम विरोधी होने का उल्लेख और इसकी प्रतिक्रिया में सगुण कृष्णभक्ति के विस्तार का उल्लेख तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भी मिलता है। शुक्लजी लिखते हैं – "एक ओर 'निर्गुण पंथ' के लोग वेदशास्त्र की विधियों पर से जनता की आस्था हटाने में जुटे हुए थे। अतः वल्लभाचार्य ने अपने 'पुष्टिमार्ग' का प्रवर्त्तन बहुत कुछ देशकाल देखकर किया।"[8]

हिन्दी की भक्ति कविता में निर्गुण भक्ति का प्रतिनिधि कवि कबीर को माना जा सकता है। कबीर की कविता अपने क्रान्तिकारी तेवर और अनुचित के अस्वीकार की तार्किक अभिव्यक्ति के लिए ख्यात रही है। कबीर की कविता में तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था और उसी के एक घटक-वर्ण-जाति व्यवस्था की तीखी आलोचना मिलती है। कबीर की धारणा बहुत स्पष्ट है कि वर्ण और जाति की भेदमूलक व्यवस्था के रहते किसी तरह की सामाजिक समानता सम्भव नहीं है। इसलिए सबसे पहले ज़रूरी है इस वर्ण-व्यवस्था के शास्त्रवाद से लड़ना। कबीर अपनी भक्ति और कविता के जरिए बार-बार इस वर्ण और जाति व्यवस्था के अनौचित्य को प्रमाणित करते हैं। कबीर अपने एक पद में कहते हैं –

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राह्मन साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साधै धोबी, साधै जाति है बरियाँ।

साधनमाँ रैदास सन्त हैं, सुपच ऋषी सों भँगियाँ ॥

(कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद संख्या-2)

साधु की जाति पूछने वाली वर्णाश्रमी दृष्टि की 'पुछनियाँ' (सवाल) ही टेढ़ी है। कबीर जन्मना योग्यता-अयोग्यता के वर्णवादी सिद्धान्त को प्रमाण और तर्कों से ध्वस्त कर देते हैं।

कबीर की कविता में प्रश्नों की भरमार है। वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा को लेकर इतने बुनियादी सवाल कबीर ने उठाए हैं कि वर्ण-जाति व्यवस्था के बड़े-बड़े सिद्धान्तकार लाजवाब हो जाएँ। सवाल देखिए –

जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन बाँट ह्वै काहे न आया।

(कबीर ग्रन्थावली, श्यामसुन्दरदास, पदसंख्या - 41)

और भी,

एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाँम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनाँ, कौन बाँम्हन कौन सूदा ॥

(कबीर ग्रन्थावली, श्यामसुन्दरदास, पदसंख्या- 57)

कबीर इस बात को खूब ठीक ढंग से समझते हैं कि समाज में प्रचलित वर्ण-जाति व्यवस्था का पोषण हिन्दू धर्मशास्त्रों से होता है। कबीर की कविता में 'कागद की लेखी', 'बेद-कतेब' आदि की जो बार-बार आलोचना की गई है वह अकारण नहीं है। कबीर ऐसे तमाम शास्त्रों और इन शास्त्रों के संरक्षकों-उद्घोषकों को फटकारते करते हैं जो वर्णाश्रमी मूल्यों को आदर्श के रूप में स्थापित करते हैं और इनके बरक्स प्रेम का आदर्श उपस्थित करते हैं, जहाँ जाति-वर्ण-धर्म की कोई सामाजिक बाधा मौजूद नहीं है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

पंडित-मुल्ला जो लिखि दीया। छाँड़ि चले हम कछू न लीया ॥

(कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद संख्या-116)

तथा

बेद-कितेब छाँड़ि देऊ पाँड़े, ई सब मन के भरमा।
कहहिं कबीर सुनहु हो पाँड़े ई तुम्हरे हैं करमा ॥

(कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद संख्या-150)

और भी,

पंडित केरी पोथियाँ ज्यों तीतर का ज्ञान।
औरन शकुन बतावहीं, अपना फंद न जान॥

(कबीर समग्र-1,युगेश्वर, अथ चानक को अंग, साखी संख्या-10)

कबीर के इन पदों और साखियों को पढ़ते हुए इस बात का ध्यान ज़रूर रखना चाहिए कि इनमें आए 'पंडित', 'पाँड़े', आदि शब्द किसी जाति विशेष के लिए नहीं आए हैं, बल्कि वर्ण-जाति व्यवस्था के पोषक शास्त्रों के समर्थकों और व्याख्याकारों के लिए आए हैं।

कबीर ने जिस प्रकार के समतामूलक समाज का स्वप्न 'अमर देसवा' के रूप में अपनी कविता में देखा है, उसके मूल में है – वर्ण और जाति का निषेध। मनुष्य की पहचान का आधार मनुष्यता हो न कि उसकी जाति और उसका वर्ण या धर्म। कबीर अपने उसी 'अमर देसवा' में चलने का न्यौता हमें देते हैं –

जहवाँ से आयो अमर वह देसवा।

X X X

बाम्हन छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।

X X X

दास कबीर ले आए सँदेसवा, सार सब्द गहि चलौ वहि देसवा।

(कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद संख्या-228)

कबीर की कविता के सामाजिक महत्त्व को इस बात से भी समझा जा सकता है कि कबीर की भरपूर आलोचना करने के बावजूद आचार्य शुक्ल बहुत स्पष्ट लिखते हैं कि "मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।"[9] इस रूप में कबीर ने भक्तिकाल में एक गम्भीर ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया।

कबीर आदि निर्गुण सन्त जिस प्रकार के वर्णाश्रम-मुक्त और जाति-मुक्त समाज की संकल्पना प्रस्तुत कर रहे थे, उससे तुलसी जैसे सगुण भक्तकवि सहमत नहीं थे। यद्यपि तुलसीदास भी 'रामराज्य' के रूप में एक ऐसे समाज का स्वप्न देखते थे जहाँ सभी मनुष्य दैहिक-दैविक-भौतिक तापों से मुक्त हों,अर्थात् उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। लेकिन तुलसी की इस परिकल्पना में भाववाद ही अधिक है। तुलसी का 'रामराज्य' असल में

'वर्णाश्रम समर्थित रामराज्य' है जहाँ प्रत्येक वर्ण के लोग अपनी-अपनी सामाजिक कोटि के अनुसार अपने-अपने कर्मों में रत हों –

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहासंख्या - 20)

तुलसी न केवल श्रुति सम्मत (वेद सम्मत) वर्णाश्रम को आदर्श सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्थापित करते हैं, बल्कि वेद और वर्णाश्रम का विरोध करने वाले निर्गुण सन्तों को फटकारते भी हैं, उनकी घोर निन्दा भी करते हैं। वस्तुतः तुलसी के दर्शन और उनकी विचारधारा के केन्द्र में हैं – वेद और पुराण। 'वेदपथ' को ही तुलसी आदर्श मानते हैं और इसलिए 'वेदपथ' की आलोचना करने वाले निर्गुण सन्तों से सीधा मोर्चा लेते हैं –

साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान॥

(तुलसीदास, दोहावली, दोहासंख्या - 554)

और भी,

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

(रामचरितमानस,उत्तरकाण्ड,दोहा संख्या - 100 ख)

तुलसीदास निर्गुण भक्तों को इतनी खरी-खोटी क्यों सुनाते हैं ? निर्गुण भक्ति में ऐसी कौन-सी बात है, जिससे तुलसीदास को इतनी परेशानी है ? 'वेदपथ' की वह कौन-सी मूल विशेषता है, जो तुलसी को सर्वाधिक प्रिय है ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन से मिल जाता है – "निर्गुण धारा के सन्तों की बानी में किस प्रकार लोकधर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। सगुण धारा की भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोक धर्म विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जाएगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जाएगी।"[10]

शुक्लजी के इस कथन में 'लोक धर्म की अवहेलना', 'लोक धर्म विरोधी स्वरूप', 'समाज के विशृंखल हो जाने और उसकी मर्यादा नष्ट हो जाने' आदि का संकेत मूलतः वर्णाश्रम-विरोध और वर्ण धर्म की हानि ही है। वस्तुतः यह वर्णाश्रम धर्म ही तुलसीदास के लिए समाज की मर्यादा का आधार है, जिसके टूटने से समाज के विशृंखल हो जाने का डर उन्हें है। इसी वर्णधर्म की रक्षा के लिए तुलसी बार-बार 'वेदपथ' का हवाला देते हैं।

मुक्तिबोध ने निर्गुण मत और तुलसीदास की तुलना करते हुए ठीक ही लिखा है कि "निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रान्तिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदासजी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।"[11]

तुलसीदास यदि केवल एक आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में (जिसमें सभी वर्णों के लोग सुखी हों) वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते तब भी बात दूसरी थी। तुलसी वर्ण-व्यवस्था के उस शोषक रूप का समर्थन करते हैं, जहाँ शूद्रों को तमाम सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया है। इतना ही नहीं, तुलसी को इस बात से बहुत कष्ट पहुँचता है कि अब शूद्र भी ब्राह्मणों और उच्च वर्णों की बराबरी करने लगे हैं। इस प्रवृत्ति को तुलसी 'कलियुग के लक्षण' के रूप में व्याख्यायित करते हैं। 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में तुलसी के इन विचारों को देखा जा सकता है –

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि॥

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहासंख्या-99ख)

अर्थात् शूद्र ब्राह्मणों से विवाद करने लगे हैं कि हम तुमसे कुछ कम नहीं हैं। जो भी ब्रह्म को जानता हो वही विप्र (ब्राह्मण) है। इसमें गलत क्या है ? यह मूलतः तथाकथित नीची जाति और वर्ण के लोगों द्वारा अपने सामाजिक-धार्मिक अधिकारों की वाजिब माँग है। लेकिन वर्ण-व्यवस्था चूँकि इनके इन्हीं अधिकारों के दमन पर टिकी हुई है, इसलिए इन अधिकारों की माँग करना समाज की मर्यादा को भंग करना है। तुलसी को शूद्रों की यह अनुशासनहीनता पसंद नहीं ! वर्णधर्म की हानि से होने वाली पीड़ा को तुलसी और स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाई न बरनि अनीति अपारा॥

(रामचरितमानस उत्तरकाण्ड, दोहा संख्या-99ख, चौपाई संख्या-5)

तुलसी के वर्णाश्रम समर्थित 'रामराज्य' में शूद्रों का जप-तप-व्रत करना तो अशिष्टता और अनीति है ही, साथ में यह भी देखने की ज़रूरत है कि उस 'रामराज्य' में व्यक्ति का आदर्श व्यवहार क्या होना चाहिए। तुलसी बताते हैं –

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहासंख्या 33, चौपाईसंख्या-01)

शील और गुणों से ही न ब्राह्मण की पूजा करने तथा तमाम गुणों से युक्त और योग्य शूद्र की भी पूजा न करने की बात करना वर्ण-व्यवस्था के सबसे घृणित रूप का समर्थन करना है !

यद्यपि तुलसीदासजी के सर्वाधिक प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के आधार पर तुलसी की छवि वर्ण-जाति समर्थक के रूप में ही उभरती है, लेकिन बाद की रचनाओं में तुलसी की दृष्टि में कुछ परिवर्तन भी दिखाई पड़ते हैं। तुलसीदास के महत्त्वपूर्ण आलोचकों ने भी इस परिवर्तन को रेखांकित किया है। कहा जाता है कि तुलसी को अपनी ही जाति के लोगों ने बाद के दिनों में काफी परेशान किया था, जिससे तुलसी अत्यन्त क्षुब्ध हो गए थे। जाति पर तुलसी की आस्था भी इस से डगमगा गई। 'कवितावली' में इसी क्षुब्ध भाव में तुलसी अपने मन की बात कहते हैं –

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥

(कवितावली, उत्तरकाण्ड, दोहा संख्या - 106)

तुलसी की क्षुब्धता का एक और उदाहरण देखिए –

मेरें जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।

(कवितावली, उत्तरकाण्ड, दोहा संख्या-107)

अपनी ही जाति वालों से तंग और परेशान होकर जाति पर से तुलसी की आस्था तो खण्डित होती है, लेकिन वर्णधर्म पर उनकी आस्था कवितावली में भी बनी हुई है। कवितावली के उत्तरकाण्ड में कलि वर्णन करते हुए तुलसी ने वर्णधर्म के टूटने पर खेद व्यक्त किया है –

बरन-धरमु गयो, आश्रम निवासु तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो-सो है।

(कवितावली, उत्तरकाण्ड, दोहा संख्या - 84)

इस तरह कबीर तथा तुलसीदास की जाति-वर्ण सम्बन्धी दृष्टियों के माध्यम से भक्तकवियों की परस्पर भिन्न दृष्टियों को समझा जा सकता है। निर्गुण और सगुण धारा की दृष्टियों के अन्तर को समझने के साथ-साथ इन धाराओं की आन्तरिक भिन्नताओं को भी समझने से भक्तकवियों की जाति-वर्ण सम्बन्धी दृष्टि के सम्बन्ध में एक सन्तुलित विचार विकसित करने में सहूलियत होगी।

3.4.5. पाठ-सार

भक्तिकालीन हिन्दी कविता का लोकपक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि उसका आध्यात्मिक पक्ष, बल्कि कई अर्थों में तो लोकपक्ष का महत्त्व ही अधिक ठहरता है । इस दौर की कविता में साहित्य के परिवर्तनकामी स्वरूप की पहचान स्पष्ट रूप से पहली बार सामने आती है । भक्तकवि भक्ति के आवरण में सामाजिक रूप से अत्यन्त ही सजक और सचेत कविता रचते हैं। यही कारण है कि प्रायः हर कवि एक आदर्श समाज की संकल्पना के साथ अपनी कविता रचता है। आदर्श समाज की इस संकल्पना में ही भक्तकवियों की दृष्टि और विचारधारा उभरकर सामने आती है। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक रचनाकार की अपनी देशकालगत विशेष स्थिति से ही उसकी विश्वदृष्टि का निर्माण होता है और फिर उसी विश्व दृष्टि से वह विश्व और अपने समाज को देखता-समझता है। भक्तकवियों की सामाजिक दृष्टि के अन्तर को इसी रूप में देखने की ज़रूरत है। वर्ण-व्यवस्था, जाति, स्त्री आदि को लेकर भक्तकवियों की दृष्टि में पर्याप्त भेद हैं और उसका कारण इन कवियों की अपनी-अपनी विशेष सामाजिक स्थिति और उससे निर्मित इनकी विश्वदृष्टि का भेद है। इसलिए पूरी भक्ति कविता को किसी भी तरह की एकरूपता के साँचे में डालकर देखना ठीक नहीं है। भक्ति-आन्दोलन की विराटता असल में इसकी बहुध्वन्यात्मकता में ही है। भक्ति कविता का अनोखापन इस बात में है कि यहाँ एक तरफ वर्ण-जाति का मुखर विरोध दिखाई पड़ता है तो दूसरी तरफ वर्णधर्म की पुनर्प्रतिष्ठा का अथक प्रयास भी। एक तरफ नारी को अवगुणों का खान मानने के साथ-साथ स्वतन्त्र होने पर उसके बिगड़ने की आशंका व्यक्त की जाती है तो दूसरी तरफ तमाम पितृसत्तात्मक सामन्ती बन्धनों से उसकी मुक्ति का प्रतिआख्यान भी रचा जाता है। दृष्टियों की यह जबर्दस्त भिन्नता भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता, विशालता और अखिल भारतीयता का प्रमाण भी है और भक्ति कविता की उपलब्धि भी।

3.4.6. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कबीर की वर्ण-जाति सम्बन्धी दृष्टि पर विचार व्यक्त कीजिए।
2. "नारी कुण्ड नरक का" इस पंक्ति के आधार पर कबीर की नारी-दृष्टि पर विचार कीजिए।
3. तुलसी के 'रामराज्य' की संकल्पना को स्पष्ट कीजिए।
4. तुलसी की स्त्री सम्बन्धी दृष्टि की विवेचना कीजिए।
5. "सूर की गोपियाँ पक्षियों की तरह स्वच्छन्द हैं।" – इस कथन पर विचार कीजिए।
6. क्या मीराबाई की कविता को हिन्दी साहित्य में स्त्री-मुक्ति का प्रारम्भिक उद्घोष माना जा सकता है ? विचार कीजिए।
7. भक्ति कविता के 'मानुष सत्य' को उद्घाटित कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भक्तकवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना पर प्रकाश डालिए।
2. भक्तकवियों के वर्ण-जाति सम्बन्धी दृष्टिकोण के औचित्य-अनौचित्य पर विचार कीजिए।
3. "भक्तिकालीन हिन्दी कविता का स्वर स्त्री-विरोधी है।" – इस कथन पर विचार कीजिए।
4. भक्तिकालीन हिन्दी कविता के सामन्तवाद-विरोधी स्वरूप की समीक्षा कीजिए।

3.4.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

01. शुक्ल, रामचन्द्र (2001). हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा.
02. शुक्ल, रामचन्द्र (1984). भ्रमरगीत-सार.वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा.
03. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (2000). कबीर. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
04. मुक्तिबोध (1998). मुक्तिबोध रचनावली-5. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
05. दास, श्यामसुन्दर (2000). कबीर ग्रन्थावली. वाराणसी. नागरी प्रचारिणी सभा.
06. युगेश्वर (1994). कबीर समग्र. वाराणसी : हिन्दी प्रचारक संस्थान.
07. चतुर्वेदी, परशुराम (1993). मीराँबाई की पदावली. इलाहाबाद : हिन्दी साहित्य सम्मेलन.
08. श्रीनाभादास (2006). श्रीभक्तमाल. मुंबई : खेमराज श्रीकृष्णदास.
09. पाण्डेय, मैनेजर (2001). भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य. दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
10. अग्रवाल, पुरुषोत्तम (2000). विचार का अनन्त. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
11. वर्मा, कमलेश (2014). जाति के प्रश्न पर कबीर. पटना : पेरियार प्रकाशन.

3.4.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. पाण्डेय, मैनेजर (2001). भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. : 5
02. नगेन्द्र (1983). 'तुलसीदास' में 'तुलसी और नारी'. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार. पृ. सं. : 19.
03. शुक्ल, रामचन्द्र (2001). हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा. पृ. सं. : 78
04. अग्रवाल, पुरुषोत्तम (2000). विचार का अनन्त. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. : 170
05. पाण्डेय, मैनेजर (2001).भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. : 27
06. शुक्ल, रामचन्द्र (2002). सूरदास. वाराणसी. नागरी प्रचारिणी सभा. पृ. सं. : 99
07. मुक्तिबोध (1998). मुक्तिबोध रचनावली-5. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. : 290
08. शुक्ल, रामचन्द्र (2001). हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा. पृ. सं. : 86
09. वही, पृ. सं. : 36
10. वही, पृ. सं. : 76
11. मुक्तिबोध (1998). मुक्तिबोध रचनावली-5. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. सं. : 291

खण्ड – 3 : भक्ति-आन्दोलन का उदय, तत्त्व-दृष्टि एवं जीवन-दर्शन

इकाई – 5 : भक्तिकाव्य और लोक-जीवन, भक्तिकालीन काव्य-मूल्यों की प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा

3.5.0 उद्देश्य
3.5.1 प्रस्तावना
3.5.2 भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि
  3.5.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  3.5.2.2 राजनैतिक पृष्ठभूमि
  3.5.2.3 सामाजिक पृष्ठभूमि
  3.5.2.4 धार्मिक पृष्ठभूमि
  3.5.2.5 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
  3.5.2.6 साहित्यिक पृष्ठभूमि
3.5.3 भक्तिकाव्य और लोकजीवन
  3.5.3.1 कबीर का काव्य : लोक बनाम शास्त्र
  3.5.3.2 जायसी के काव्य में लोकतत्त्व
  3.5.3.3 सूर के काव्य में लोक की प्रतिष्ठा
  3.5.3.4 तुलसी का लोकानुराग
3.5.4 भक्तिकालीन काव्य-मूल्यों की प्रासंगिकता
  3.5.4.1 भक्ति-मूल्य
  3.5.4.2 लोकधर्म की प्रतिष्ठा
  3.5.4.3 प्रेमभावना
3.5.5 पाठ-सार
3.5.6 बोध प्रश्न

3.5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भक्तिकाल की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
ii. मध्यकाल की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन कर सकेंगे
iii. भक्तिकाल के प्रमुख सन्त एवं भक्तकवियों से परिचित हो सकेंगे।
iv. मध्यकालीन भक्तिकाव्य और लोकजीवन पर चर्चा कर सकेंगे।
v. भक्तिकाव्य के काव्य मूल में क्या है ? इस बारे में जान सकेंगे।
vi. भक्तिकालीन काव्य मूल्यों की प्रासंगिकता का विश्लेषण कर सकेंगे।
vii. सामाजिक समरसता में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

3.5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत भक्तिकाव्य में चित्रित लोकजीवन की चर्चा की जाएगी और भक्तिकाल के काव्य मूल्यों को समझने का प्रयास किया जाएगा। भारतीय काव्य-परम्परा में भक्तिकाल का उद्‌भव भारतीय इतिहास की महान् सांस्कृतिक घटना है। भक्तिकाव्य भारतीय जनमानस के लोकानुभूति का चर्मोत्कर्ष है जिसका प्रतिनिधित्व कबीर, सूर, जायसी, तुलसी ने किया है। इन सन्त और भक्तकवियों के हृदय का उद्गार जन-जन का कण्ठहार बनकर एक व्यापक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर लिया जिसे हम भक्ति-आन्दोलन के नाम से जानते हैं। भक्ति-आन्दोलन लोक और शास्त्र के समन्वय का आन्दोलन है। यह समाज में व्याप्त ऊँच-नीच जाति-पाँति, छुआ-छूत, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि कुरीतियों एवं धार्मिक रूढ़ियों पर करारा प्रहार करता है और विभिन्न प्रकार के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि संघर्षों के चलते जर्जर एवं सुप्त हो चुके हिन्दू हृदय को जगाने का कार्य करता है तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है अतः भक्तिकाव्य का महत्त्व उसके धार्मिकता से ज्यादा लोक-जीवन से है। मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहा जाता है।

3.5.2 भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि

भक्तिकाल को लोक जागरण का काल कहा जाता है। ये कालखण्ड तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भावात्मक, साम्प्रदायिक, सामन्ती, राजसी और जनतान्त्रिक प्रवृत्तियों का ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जो उस दौर के इतिहास में भी नहीं मिलता है। भक्तिकाव्य ने संसार को समानता एवं सहअस्तित्व आधारित ऐसा जीवन-दर्शन दिया जो अपनी सदाशयता, सनातनता एवं विलक्षणता के कारण चिर नवीन है। भक्ति-आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश में जनवादी मानवतावादी एवं गंगा-जमुनी तहजीब से ओत-प्रोत वैष्णव सामाजिकता और सर्वधर्म समभाव मूलक सामाजिक संस्कृति ने जन्म लिया जिससे सतत् परिवर्तनशील महनीय मानवीय सम्वेदना ने विस्तार पाया। मध्यकालीन काव्य में शक्ति, शील, सौन्दर्य अर्थात् सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् आधारित राष्ट्र की अवधारणा पर बल दिया गया है। इन सन्त भक्तकवियों और आचार्यों ने भय एवं कुण्ठा से ग्रस्त जन सामान्य को जीवन से भागना नहीं सिखाया, बल्कि कर्तव्य पथ पर बढ़ने और जीवन जीने का विश्वास दिया। यह मनुष्य-मात्र को जीवन रूपी समर भूमि के दलदल में धँसकर भी कीचड़ में खिलने वाले कमलदल की भाँति पुष्पित एवं पल्लवित होना सिखाया। भक्तिकाव्य जीवन की उत्कट आशा, आकांक्षा, निष्ठान, विश्वास, लोककल्याण, सामाजिक सद्भाव, नैतिक सक्रियता, सदाशयता, कर्मठता, मासूमियत और सामाजिक समरसता तथा निष्काम भक्ति योग का काव्य है। भक्तिकाव्य अपने अलौकिक प्रभावोत्पादकता, राष्ट्रव्यापी समन्वय भावना तथा शाश्वत जीवन-मूल्यों के प्रति रचनात्मक सामाजिक जागरुकता के कारण पीयूषवर्णी साहित्यिक गरिमा को छू लिया। यह एक आत्मशोधन एवं आत्मचिन्तनमूलक, लोक कल्याणकारी गुणों से युक्त सामाजिक-सामाजिकता की प्रतिष्ठा करने वाला काव्य है। नर को नारायण की ओर उन्मुख करने वाला भक्तिकाव्य अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति हिन्दी साहित्य की भावभूमि को अभिसिंचित कर रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल संवत् 1375 से 1700 तक के समयावधि में

परिव्याप्त है । इस युग की ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व साहित्यिक परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं –

3.5.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भक्तिकाल का समय ऐतिहासिक दृष्टि से काफी उथल-पुथल वाला है। उस समय उत्तर भारत में 1325 ई. से 1526 ई. तक तुगलक वंश, सैयद वंश तथा लोदी वंश का प्रभुत्व रहा । मुहम्मद बिन तुगलक, फिरोजशाह तुगलक, जौनासाहि सुल्तान महमूदशाह तक तुगलक वंश का शासन रहा । इसके उपरान्त दिल्ली पर खिज्र खाँ ने अधिकार कर लिया तथा सैयद वंश की स्थापना की जो 1451 तक कायम रहा । लोदी वंश का सबसे शक्तिशाली शासक इब्राहिम लोदी था । भक्तिकाल के दूसरे चरण में मुगलों का शासन रहा । मुहम्मद बिन तुगलक ने हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति अपनाई किन्तु फिरोज शाह तुगलक हिन्दुओं के प्रति असहिष्णु था । मुहम्मद बिन तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरी ले जाने की मूर्खता की । शेरशाह सूरी का शासन पक्षपात रहित था, उसने मालगुजारी और कर वसूली की उचित व्यवस्था की । भारतीय इतिहास में अकबर अपने सुशासन के लिए जाना जाता है । उसने राजा टोडरमल की सहायता से वर्तमान भू-व्यवस्था में आवश्यक संशोधन करवाया । इस काल के अधिकांश शासक असहिष्णु थे । हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष को बढ़ाने में धर्माचार्यों की अहम भूमिका थी । दोनों सम्प्रदायों में परस्पर सद्भाव का अभाव था। हिन्दू राजनैतिक रूप से भले पराजित थे, किन्तु वे अपना पराभव मानने को तैयार नहीं थे।

3.5.2.2 राजनैतिक पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल राजनैतिक दृष्टि से अशान्ति एवं संघर्ष का काल था । आदिकाल से ही भारत पर बाहरी आक्रान्ताओं का आक्रमण होता रहा । आदिकाल के अन्त तक तुर्क एवं अफगान शासकों ने भारतीय राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी । दिल्ली पर गुलाम तथा खिलजी वंश का शासन स्थापित हो गया था और पठान शासकों ने भी भारत में अपना साम्राज्य विस्तार कर लिया था जिनमें प्रमुख रूप से तुगलक वंश, सैयद वंश तथा लोदी वंश के पठान शासक थे । बीच-बीच में मंगोलों के आक्रमण भी होते रहे । अनेक हिन्दू तथा मुसलमान शासकों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी । तैमुर लंग के आक्रमण के समय तक तुर्क एवं अफगान साम्राज्य कमजोर पड़ने लगा था । जब बाबर ने भारत पर आक्रमण किया तो तुर्कों का ह्रास हो चुका था उसने 1526 ई. में पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी को परास्त कर दिल्ली पर अपना आधिपत्य कर लिया तथा 1527 ई. में राणा सांगा को परास्त कर भारत में मुगल वंश की स्थापना की । मुगलों ने वर्षों तक भारत में शासन किया, जिनमें बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ प्रमुख मुगल शासक रहे । भक्तिकाल की समय सीमा शाहजहाँ के शासन काल तक निर्धारित है।

3.5.2.3 सामाजिक पृष्ठभूमि

भक्तिकाल का समाज धार्मिक दृष्टि से दो भागों में बँटा हुआ था – हिन्दू और मुसलमान। मुसलमानों का सम्बन्ध शासक वर्ग से था तथा हिन्दुओं का शासित वर्ग से। हिन्दू समाज में प्रचलित वर्तमान जाति प्रथा का निर्धारण इसी काल में हुआ था। हिन्दू समाज अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त था। लोगों में पारस्परिक व्यवहार और आत्मीयता का अभाव था। समाज में स्त्रियों को पुरुषों जैसा सम्मान प्राप्त न था। बाल विवाह, परदा प्रथा, सती प्रथा आदि कुरीतियों के कारण स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी। वैवाहिक तथा खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्धों का पालन कठोरता से होता था। मुसलमानों तथा अमीर व्यक्तियों में बहुविवाह की प्रथा थी। भक्तिकाल के मध्य में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच परस्पर वैवाहिक सम्बन्धों के भी साक्ष्य मिलते हैं। अकबर की कई हिन्दू रानियाँ थी। हिन्दू-मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों में विभिन्न कुप्रथाओं का प्रचलन था। धार्मिक आडम्बर के कारण जन-सामान्य को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। विपरीत राजनैतिक परिस्थियों के कारण समाज की स्थिति बद से बदतर होती जा रही थी। ऐसे में रामानन्द, कबीर आदि सन्तों ने विभिन्न सामाजिक कुरीतियों के विरोध में अपनी आवाज बुलंद की।

3.5.2.4 धार्मिक पृष्ठभूमि

भक्तिकालीन धार्मिक परिस्थितियाँ हिन्दुओं के अनुकूल नहीं थी। देव मूर्तियाँ तोड़ी जा रही थी, मन्दिरों को ध्वस्त किया जा रहा था, धार्मिक ग्रन्थ जलाए जा रहे थे। शासक वर्ग का समर्थन मिलने से मुस्लिम चरम पंथ अपने पूरे उन्माद पर था। हिन्दू जनता में भय व आतंक का वातावरण में था। वैदिक धर्म का लगातार ह्रास हो रहा था। हिन्दू धर्म में विभिन्न मत-मतान्तरों का बोलबाला था। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के विरोध स्वरूप अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद, विष्णु स्वामी एवं वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद इस काल के प्रमुख भक्ति सम्प्रदाय है। विष्णु के अवतार माने जाने वाले राम एवं कृष्ण की भक्ति का विकास भक्तिकाल की प्रमुख विशेषता है। सन्त परम्परा का विकास भी इसी युग में हुआ। इन पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इन सन्तकवियों ने जनभाषा में काव्य-रचना कर निर्गुण भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। सूफी धर्म का आगमन इस युग की महत्त्वपूर्ण धार्मिक घटना थी। सूफी सन्त मुस्लिम चरम पंथ के विरोधी थे। इन सूफी साधकों ने भय एवं कुण्ठाग्रस्त हिन्दू हृदय में प्रेम और विश्वास की ज्योति जगाई जिससे हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त हुआ और भारत में एक नई सामासिक संस्कृति की नींव पड़ी। भक्तिकाल के सम्बन्ध में आलोचकों के मत भिन्न-भिन्न है। जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे हिन्दुओं के पराजय और निराशा का परिणाम मानते हैं, वहीं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे भारतीय चिन्तन धारा स्वाभाविक विकास मानते हैं।

3.5.2.5 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भक्तिकाल सांस्कृतिक चेतना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। भक्तिकाल में धार्मिक भावना एवं दार्शनिक विचार की अभिव्यक्ति सार्वभौमिक सत्य के रूप में हुई है। धर्म, समाज, संस्कृति, कला, साहित्य, संगीत, शिल्प इन्हीं की आनुषांगिक इकाईयाँ है और इन सबका क्षेत्र विशाल मानव समाज है। इन्हीं की प्रेरणा और आत्मविश्वास से मनुष्य अपना जीवन्यापन करता है। भारतीय समाज में विदेशी आक्रान्ताओं के कारण भिन्न विजातीय तत्त्वों का समावेश होता रहा है। इनका भारतीय संस्कृति से परस्पर संघर्ष भी चलता रहा, इन्हीं संघर्षों के कारण हमारे अंदर एक ऐसी जीवनी शक्ति का संचार भी होता रहा, जिससे हमारा जीवन निष्प्रभ निस्तेज न होकर अरुणिमा की आभा से मंडित होता रहा है। इन सबके मूल में हमारी समन्वयशीलता है, जो वैदिक युग से ही व्यक्त होती रही है। आदिकाल से आर्य एवं आर्येत्तर जातियों के मत और मान्यताएँ परस्पर एकीभूत होती रहीं। मध्यकालीन हिन्दू जीवन पद्धति पर इसका गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। परम्परा, दृष्टि भेद, रुचि वैविध्य देशकाल तथा तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण कर पूजा-अर्चना तथा धार्मिक कर्मकाण्ड की पद्धतियों को अपना कर उसमें दार्शनिकता का पुट दे दिया गया। पौराणिक धर्म साधना में लोक-विश्वास की अवधारणा घुल-मिल कर धर्म और नैतिकतापरक समाज की स्थापना की। मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं। एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है, और दूसरा वह जो परम्परागत मान्यताओं और स्वानुभूति का पक्षधर है। शास्त्र की अपेक्षा स्वानुभूति अधिक श्रेयस्कर है। मध्यकालीन समाज में शास्त्र और लोक का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध देखने को मिलता है।

3.5.2.6 साहित्यिक पृष्ठभूमि

इस काल में शासक वर्ग की भाषा फारसी थी और कुलीन हिन्दू परिवारों में संस्कृत की प्रधानता थी। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में हुआ। कुछ शासकों द्वारा हिन्दी को भी प्रोत्साहित किया गया। शिक्षित वर्गों में संस्कृत का प्रयोग अनिवार्य था। पालि, प्राकृत अपभ्रंश की रचनाएँ क्षीण होती गईं। बौद्ध धर्म के साथ पालि भाषा का भी ह्रास हो गया और प्राकृत अपभ्रंश के सम्पर्क में आकर प्रान्तीय भाषाओं का रूप ग्रहण कर लिया। अपभ्रंश में पूर्व परम्पराओं के विकास के साथ अनेक लोक प्रचलित परम्पराओं का समावेश हुआ। चरिउ, पुराण के साथ दोहे, चर्यापद, मुक्तक आदि काव्य-रूपों का विकास हुआ। दरबारी साहित्य में प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य दोनों रूप मिलते हैं। शृंगार, रीति, नीति के साथ वीर रस प्रधान काव्य रचे गए। भक्तिकाल के कवियों में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी उल्लेखनीय है। इनकी रचनाओं में लोक और शास्त्र का समन्वय तथा लोकमंगल की भावना के साथ उत्कृष्ट काव्यत्व के दर्शन होते हैं। भक्ति साहित्य में लोक-परलोक दोनों का चिन्तन है। सन्तों ने सिद्धों-नाथों का आश्रय लिया और सूफ़ियों ने आख्यानों का। तमिल पद्य के अनुकरण पर पद-रचना के साथ दक्षिण की अन्य काव्य शैलियाँ हिन्दी में आईं। फारसी के प्रभाव से मसनवी शैली हिन्दी में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। साथ ही, लोक कथाओं तथा लोकगीतों को पर्याप्त सम्मान मिला।

3.5.3 भक्तिकाव्य और लोकजीवन

भक्तिकाव्य लोक और शास्त्र के समन्वय की भावना से प्रेरित लोक-जीवन की शाश्वत अभिव्यक्ति है। लोक-जीवन के विभिन्न भावों एवं मानवीय सम्बन्धों को आधार बनाकर ही भक्ति के विभिन्न भावों को अभिव्यक्त किया गया है। भक्त और भगवान् के बीच मानवीय सम्बन्धों की स्थापना की गई। यह आभिजात्य के जकड़न से मुक्त जनसामान्य के उत्थान प्रक्रिया से उपजे जनाक्रोश का स्वर है। इन कविताओं में आभिजात्य के प्रति रोष दिखाई पड़ता है। इनकी अनुभूति और काव्य साधना का क्षेत्र लोक-जीवन है। भक्तकवियों ने लोक धर्म एवं लोकानुराग को अपने काव्य का विषय बनाया है और ये लोक-जीवन ही भक्तिकाव्य का संरक्षक है। सामान्य जनता की संस्कृति से ही उनकी कविता की निर्मिति हुई है। भक्तकवि राजसत्ता का सीधा विरोध करते हुए घोषणा करते हैं –

सन्तन को कहा सीकरी सो काम।

दरबारी संस्कृति की ऊब और जन सामान्य के उत्थान का प्रतिनिधित्व करने वाले कवि और काव्य का लोकाश्रयी होना स्वाभाविक है। सन्त काव्य में पुरोहितवाद, धार्मिक आडम्बर, जाति भेद, सामाजिक विषमता, ऊँच-नीच, भेदभाव का खण्डन इस सम्बन्ध में उसे सिद्धों, नाथों की उस परम्परा से प्रेरणा मिलती है जिसमें आभिजात्य के प्रति विद्रोह का भाव दिखाई देता है। उनका मंतव्य लोक धर्म है। मध्यकाल में आभिजात्य एवं सामान्य जन के संसार अलग-अलग है। चरणदास के शब्दों में –

एक दुखी, एक अति सुखी। एक भूप एक रंक।

कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद आभिजात्य से जुड़ जाते हैं और भारत जैसे परम्परावादी समाज में सामान्यजन छला जाता है। इन भक्तकवियों ने आभिजात्य के आवरण को हटाकर अपने चरित्रों को लोक की भावभूमि पर ले आए। भक्तकवियों का लोक आभिजात्य की जगह सामान्य को प्रतिष्ठित करता है। भक्तिकाव्य में लोक-जीवन के केन्द्रीयता का मूलाधार उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना है जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, शास्त्र पाण्डित्य से मुक्त लोक-जीवन की सामान्य भावभूमि पर विचरण करती है। कबीर ने जो देकर कहा है –

पंडित वाद बदंते झूठा।

इस प्रकार भक्त और भगवान् से संवाद स्थापित करने के लिए ये सन्त और भक्तकवि लोक का सहारा लेते हैं। रचना की वाचिक परम्परा से जुड़कर भक्तिकाव्य स्वयं को अधिक लोकधर्मी बनाता है। भक्तकवियों का अनुभव संसार लोक निर्मित है। शास्त्र और पुस्तकीय ज्ञान नहीं। कबीर की यह उक्ति कि –

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥

यह प्रेम रूमानी नहीं, बल्कि विवेकसम्मत है। आम जन की निरन्तर उपस्थिति भक्तिकाव्य को लोक सापेक्ष बना देती है और कवि कविता के समग्र सम्वेदना में लोक को समाहित करने का प्रयत्न करता है। भक्तिकाव्य में प्रकृति के खुले मंच का प्रयोग हुआ है। यहाँ प्रकृति लोक-जीवन का आधार है। जायसी के 'पद्मावत' में नागमती का विरह-वर्णन अनुभूति की व्यापकता के लिए याद किया जाता है लेकिन उसमें 'बारहमासा' के बहाने जन-जीवन का जो मार्मिक अभिव्यंजना है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लोक में प्रचलित कथानकों को आधार बनाकर काव्य-रचना करने वाले इन सूफी कवियों के कविताओं में कथा के पुराने ढाँचे के भीतर तत्कालीन संस्कृति के विभिन्न रूपों की अभिव्यंजना है। निर्गुण सन्तों की तरह सगुण भक्तकवियों की कविता आभिजात्य के प्रति ललकार तो नहीं लेकिन चरित नायकों के माध्यम से आभिजात्य के प्रति असहमति का बोध है। सूर के कृष्ण और तुलसी के राम लोक-जीवन में प्रचलित कथानायक हैं जो अन्यायी, अत्याचारी एवं विध्वंसकारी शासकों का वध कर लोकहितकारी राज्य की स्थापना करते हैं। सूर का काव्य जीवन की समग्रता का काव्य है। उसमें मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों का सहज उदात्त और मानवीय रूप प्रगट हुआ है। मानव-जीवन के बचपन किशोरावस्था और यौवन के रूप भाव और कर्म के सौन्दर्य की अभिव्यंजना है। लोक में प्रचलित चरित्रों को इस प्रकार रचा गया है कि उनका चमत्कारी अंश कम हो जाए और वे लोक-जीवन में स्वाभाविक रूप से खप जाएँ। राम और कृष्ण अपने सामान्य व्यवहार में अत्यन्त सरल है। सूर के वात्सल्य वर्णन में कृष्ण का यही रूप है –

घुटरन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।

कृष्ण सामान्य बालक की तरह लीला करते हैं। कृष्ण की माखनचोरी भी लोक स्वीकृत है। गोपिकाएँ उलाहना के बहाने कृष्ण को निहारने आती है। सूर के काव्य में लोक-जीवन की अनुपम झाँकी है। कवितावली का प्रारम्भ ही जन सामान्य की साझेदारी से होता है –

अवधेश के द्वारे सकारे गई, सूत गोद में भूपति लै निकसे।
अवलौकि हौं सोच विमोचन को ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक से।

भक्तिकाव्य में लोक-जीवन कई रूपों में व्यक्त हुआ है। जहाँ लोक के विभिन्न उपादानों का उपयोग किया गया। मध्यकाल सांस्कृतिक समन्वय का काल है। जिसके कारण साहित्य में एक नई सक्रियता देखने को मिलती है। सूफीयों की प्रेम गाथाएँ इसका प्रमाण है। भक्तिकाव्य में जहाँ विशिष्ट वर्ग का नगर समाज है वहीं सामान्य जन का ग्राम जीवन भी। ये भक्तकवि लोक-जीवन की पुष्टि के लिए लोक में प्रचलित मुहावरों का प्रयोग करते हैं। सही अर्थों में ये देशज कवि है और इसका भरपूर उपयोग करते हैं। पर्वत, नदी, नाले, वन, खेत-खलिहान इन कवियों की सम्वेदना को रचते हैं। कृष्णकाव्य का पूरा संसार ही जन सामान्यका है। रामकथा में केवट कोल, भील तथा बानर समाज की उपस्थिति समाज की पक्षधरता को व्यक्त करती है। इन सबकी अभिव्यक्ति ही भक्तिकाव्य का वैशिष्ट्य है।

3.5.3.1 कबीर का काव्य : लोक बनाम शास्त्र

कबीर के काव्य में आभिजात्य संस्कृति और तत्कालीन समाज में फैले धार्मिक लोकाचार का जोरदार खण्डन है। कबीर लोक से सीधा जुड़ते हैं, और हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के कठमुल्लाओं से संवाद करते हैं। वे सहज सरल किन्तु फक्कड़ व्यक्तित्व के धनी हैं। वे उस नई परम्परा के समर्थक हैं, जिसमें कोई भेदभाव न हो। यही कारण है कि कबीर जीवन भर धर्म, सम्प्रदाय, परम्परा, रूढ़ियों आदि का विरोध करते रहे। कबीर जितना मन्दिर से चिढ़ते थे, उतना ही मस्जिद से भी। कबीर धर्म के ठेकेदारों को सीधे-सीधे ललकारते हैं –

तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखिन की देखी।

सिद्धान्त और व्यवहार के बीच धार्मिक संस्थाओं में जो खाई है कबीर उसकी ओर ध्यान दिलाते हैं। कबीर लोक-जीवन के सच्चे व्याख्याकार है। वे लोक को सजग करते हैं कि जो धर्म ग्रन्थ मनुष्य को मनुष्यता का पाठ नहीं पढ़ाते, सही राह नहीं बताते, उसके माध्यम से मुक्ति की कामना ही मत करो। मुक्ति के लिए जप, तप, नेम, धरम करने वाले को कबीर की यह फटकार देखिए –

लोका मति के भोरा रे।
जो काशी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कौन निहोरा रे।

यह पंक्ति कबीर के कर्मवाद पर दृढ़ विश्वास को प्रदर्शित करती है और लोक को चेताती है। सत्ताधारी वर्ग कबीर से आज भी डरता है। कबीर ने सामाजिक ऊँच-नीच पर ही चोट नहीं किया, आर्थिक विषमता पर भी चोट की –

एकनि दीना पटबंर एकनि साज निवारा।
एकनि दीना गरै गुदरी, एकनि सेज प्यारा।

कुछ लोगों के पास अपार धन है और कोई अभाव में जी रहा है –

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।
सोइ भूतै धन संचते, सो उबरे जा खाइ॥

साधारण जन सिर्फ परिवार का पेट भरना चाहता था जो उस युग में पूरा नहीं हो रहा था –

भूखै भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै।
हो माँगो सन्तन रैना। मै नाही किसी का देना॥

इस प्रकार रोटी और भक्त में से यदि एक को चुनना हो तो कबीर रोटी को चुनते हैं।

कबीर के यहाँ दुविधा नहीं है । वे स्पष्टवादी हैं। धार्मिक पाखण्ड फैलाकर मलाई खाने वालों को कबीर धिक्काकरते हैं –

उज्जल देखि न धीजि पे बग ज्यूँ माँड़े ध्यान।
धीरे बैठि चपटेसी, यूँ ले बड़े ग्यान॥

कुलीनता को महत्त्व दिए जाने पर कबीर फटकारते हैं –

जाति न पूछो साधू की, पूछ लीजिए ज्ञान।

और फिर कहते हैं –

ऊँचे कुल न जणमियाँ, करणी ऊँच न होय।
सुबरन कलश सूरा भरा, साधु निन्दा सोय॥

धर्म में बाह्याडम्बर का कबीर खुला विरोध करते हैं और हिन्दू-मुसलमान दोनों को फटकारते हैं –

पाथर पूजे हरि मिले, तो मैं पूजू पहाड़।

और भी,

दुनियाँ ऐसी बावरि पाथर पूजै जाए।
घर की चाकी कोई न पूजे जाको पीसा खाय।

मुल्लाओं को फटकारते हुए कहते हैं कि –

कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय॥

कबीर न वेद के रास्ते पर चलते हैं न कुरान के। वह अपना रास्ता खुद तय करते हैं –

पीछैं लागा जाइ था लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथि॥

कबीर स्पष्ट करते हैं कि तीरथ करने से मनुष्य का भला नहीं होने वाला है –

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंबे पाणी न्हाइ।
रामहिं राम जपंतड़ा, काल घसीट्याँ जाइ॥

सामाजिक विसंगतियों एवं धार्मिक कुरीतियों का विरोध करना कबीर के स्वरूप को क्रान्तिकारी रूप देता है, जो उनके अक्खड़, फक्खड़ एवं घुमक्कड़ व्यक्तित्व का मिला-जुला रूप है। कबीर के मार्ग पर सामान्य जन का चलना कठिन है। वे लोक से आह्वान करते हैं –

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँकै आपनौ चले हमारे साथ॥

इस प्रकार से कबीर लोक की पैरवी भी करते हैं, तो उसे चुनौती भी देते हैं।

3.5.3.2 जायसी के काव्य में लोकतत्त्व

हिन्दी साहित्य में जायसी सूर और तुलसी के समकक्ष हैं। उनके महाकाव्य 'पद्मावत' में लोक-जीवन और आध्यात्मिकता का समन्वय देखने को मिलता है। पद्मावत की कथा लोक प्रचलित है। कहानी का नायक रतनसेन चितौड़ का राजा है। नागमती उसकी पटरानी है और पद्मावती प्रेमिका। गंधर्वसेन पद्मावती का पिता और सिंहल द्वीप का राजा है और अल्लाउद्दीन दिल्ली का राजा है। जायसी ने परिवेश लोक का लिया है और यथा अवसर लोक-जीवन की सुन्दर छवियाँ प्रस्तुत की हैं। रत्नसेन को राजा से जोगी बना दिया –

करब पीरीत कठिन है राजा।

पद्मावती की भी स्थिति समान है। सुग्गे के उड़ जाने के बाद वह विरहाग्नि में जल रही है और सामान्य स्त्री की तरह मन्दिर में वर माँगती है। वह साधारण स्त्रियों की तरह कोठे पर चढ़कर बरात में आए जोगी को देखती है। सखी उससे कहती है –

जस रवि देखु उठै परभाता। उठा छत्र तस बीच बरात।
ओहि मांझ भा दुलह सोई। और बारात संग सब कोई॥

पद्मावत का मानसरोदक खण्ड लोक तत्त्वों का खजाना है। ससुराल में स्वच्छन्दता के छिन जाने का भय लोक परिचित है –

गहबर नैन आए भरि आँसू। छांडब यह सिंघल कैलासु॥
छाँड़िउ नैहर, चलिउ बिछोई। एहि रे दिवस कहँ हँ हौ तब दोई॥
छाड़िउ आपन सखि सहेली। दूर गवन तजि चलिउं अकेली॥
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपने कर लेखा॥

बादल को युद्ध में जाते देख उसकी पत्नी लज्जावश चुप रहती है –

रहौं लजाई तो पिउ चलै, कहौं तो कह मोहिं ठिठ।

नागमती का वियोग लोक का वियोग है। विरह वर्णन में जायसी को अद्भुत सफलता मिली है। नागमती साधारण नारी की तरह विरह-व्याकुल है –

नागमती चितउर पंथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा॥
नागर काहू नारि बस परा। तेइ मो पिउ मो सौं हरा॥

सखी उसे ढाढ़स बँधाती है –

मिलहिं जो बिछुरै साजन, अंकम भेंटि अहन्त।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहंत॥

जायसी के काव्य में भारतीय पर्व त्योहारों का विशद् वर्णन है। पद्मावत का बसन्त खण्ड आनन्द और उल्लास का उत्सव है –

आजु बसन्त नवल ऋतु राजा। पंचमि होइ, जगत सब साजा।
नवल सिंगार वनस्पति कीन्हा। सीस परसहि सेदुंर दीन्हा॥

होली का रंग देखिए –

भा तेवहार जौ चांचरि जोरी। खेलि फाग अब लाइय होरी॥
फागु करहिं सब चांचरि जोरी। मोंहितन लाइ दीन्ह जस होरी॥

दीवाली की धूम चारों ओर है। नागमती पिय की राह देख रही है –

अबहूं निठुर आउ एहिबारा। परब देवारी होइ संसारा॥

ग्राम जीवन में सावन का उत्सव बड़े महत्त्व का है –

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरि पर मुई कुसुंभि तन चोला॥
हिय हिंडोल जस डोले मोरा। विरह झुलावै देइ झंकोरा॥

जायसी ने कथा को आध्यात्मिक रंग देने की कोशिश की है –

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाधंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुल्तानू॥

युद्ध के दो कारण कंचन और कामिनी पर जायसी व्यंग्य करते हैं –

जौहर भइ सब इस्तरी, पुरुष भए संग्राम।
बादसाह गढ़ चूरा, चितउर भा इस्लाम ॥

हाथ में जौहर की राख के सिवा कुछ नहीं आता वह बेबस रह जाता है –

छार उठाई लीन्हि एक मूँठी, दीन्हि उड़ाई पिरथिमी झूठी ।

कथा ऐतिहासिक होते हुए भी पूरा ताना-बाना लोक पर आधारित है। जायसी ने लोक परम्परा, लोक विश्वास तथा लोक उपादान का प्रयोग किया है।

3.5.3.3 सूर के काव्य में लोक की प्रतिष्ठा

सूर सामन्ती संस्कृति पर प्रश्न चिह्न लगाकर लोक में एक नई चेतना जाग्रत् करते हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति के मानवीय सम्बन्धों की पड़ताल की है। गोपियाँ लोक-लाज छोड़कर कृष्ण का प्रेम पाना चाहती हैं –

गोपी स्याम रंग राँची।
देह गेह सुधि बिसारी बढ़ी प्रीति साँची॥

गोपियाँ काफी सीमा तक लोक-लाज का बन्धन तोड़ देती है। प्रेम की आग में तपकर मनुष्य कुन्दन बनता है। सूर के यहाँ नारी पराधीन नहीं है। यहाँ वह माँ, पत्नी, प्रेमिका, सखि आदि भूमिकाओं में अपनी स्वतन्त्र सत्ता के साथ है। माँ की चिन्ता लोक की चिन्ता है –

कब मेरो लाल घुटुरुनि रेंगे, कब धरनी पग द्वै धरे।

राधा का चरित्र अद्वितीय है। धीरे-धीरे वह देवत्व को प्राप्त होती है। वह स्वाभिमान की प्रतिमूर्ति है। वह योगिराज कृष्ण से नहीं बल्कि गोकुल के कृष्ण से प्रेम करती है। सूर ने वात्सल्य वर्णन में अद्भुत सफलता पाई है –

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।

माँ कहती है – "बेटा ! दूध पीने से चोटी बढ़ती है"। तो वे झट से दूध पी लेते हैं और चोटी को देखकर चिन्तित होते हैं –

मैया कबहूँ बढ़ैगी चोटी।
किती बेर मोहि दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी॥

माँ के हृदय की अभिलाषा और उसकी भावना का सुन्दर चित्र है –

सिखवत चलन जशोदा मैया।
अरबराड़ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरे पैया॥

कृष्ण का बाल हठ लोक प्रसिद्ध है –

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं॥

जब दाऊजी और ग्वाल बाल चिढ़ाते हैं कि नन्द बाबा ने तुमको मोल ले लिया है, तब बाल मनोविज्ञान देखते ही बनता है –

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायौ।
मोसौ कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ?

सूर बालकों के प्रत्येक कार्य-व्यवहार से परिचित हैं। वे जन सामान्य की रक्षा और उसके स्वाभिमान के प्रति सतत सजग है। जाति -कुल के आधार पर सूर विषमता को स्वीकार नहीं करते। अपने मत के समर्थन में वे वेदों का समर्थन लेते हैं –

जन की और कौन पति राखै?
जाति पांति कुल-कानि न मानत, वेद पुरानन साखै॥

सूर के काव्य में मानों ब्रज का समग्र लोक ही उतर आया है।

3.5.3.4 तुलसी का लोकानुराग

भक्तिकाल के सगुण विचारधारा के प्रतिष्ठित कवि सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में लोक के प्रति आस्था का प्रकटीकरण हुआ है। "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" लिखकर सुखी होने वाले गोस्वामीजी ने लोक के प्रत्येक पहलू पर अपना मत व्यक्त किया है। गोस्वामीजी लिखते हैं –

कीरति भनिति भूति भली सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

राम कथा एक ऐसा यज्ञ है जिसमें आहुति डालने से सबका कल्याण होता है। रामचरितमानस की पंक्तियाँ हृदय को भावुक करती है। उनके स्मरण और उच्चारण से सबका हित होता है। उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसीदास ने काव्य की महत्ता को प्रतिपादित किया है। अरण्यकाण्ड में अनुसूया सीता से कहती हैं –

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पातिव्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिरउँ कथा संसार हित॥

नाभादास तुलसीदास के लिए लिखते हैं –

कलि कुरिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।

यह सच है कि तुलसी ने "मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की" रचना की है परन्तु तुलसी जैसे साधक 'स्वान्तःसुखाय' और 'बहुजन हिताय' में कोई अन्तर नहीं करते हैं। उनके हृदय में परहित की अभिलाषा थी और इसी से उन्हें अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है –

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें, सन्त स्वभाव गहौंगो।

X X X

परहित निरत निरन्तर, मन क्रम वचन नेह निबहौंगो।

अवधी भाषा के मीठे शब्दों से भी तुलसी को लोकानुराग है। उस समय तक अवधी तथा ब्रज में काव्य रचनाएँ तो शुरू हो गई थी परन्तु धार्मिक पुस्तकों की रचना संस्कृत भाषा में होती थी। इस रूढ़ि को तोड़ते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने रामकथा की रचना आम जन के लिए अवधी भाषा में की। यह असत्य है कि तुलसी संस्कृत से दूरी बनाए हुए हैं। सच तो यह है कि वे जनता की भाषा में रामकथा कहना चाहते थे। देश की समस्त संस्कृति संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध थी, तुलसी उस गौरवमयी परम्परा पर श्रद्धा रखते थे और उससे अपने को अलग नहीं करना चाहते थे, किन्तु तुलसी में संस्कृत के लिए आग्रह भी नहीं था, जैसा कि उन्होंने दोहावली में कहा है –

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करि ए कुमाँच॥

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तुलसी के काव्य में लोकानुराग अपने पूर्णरूप में अभिव्यक्त हुआ है।

3.5.4 भक्तिकालीन काव्य-मूल्यों की प्रासंगिकता

भारतीय साहित्य की सर्वोपरि उपलब्धि कराने वाला भक्तिकाव्य भक्ति-आन्दोलन का अभिन्न अंग है। सामन्तवाद के विरोध में व्यक्त कविता मध्यकाल की उन कुरीतियों पर चोट करती है जो समाज के लिए हानिकारक था। यह काव्य महल में बैठकर नहीं लिखा गया इसीलिए यह मानव मन के हृदय की वाणी हो जाता है। लोक को जाग्रत् करने वाली यह कविता ऐहिक और लौकिक का सन्धि स्थल है। यह कविता एक ओर जहाँ ब्रह्म से साक्षात्कार कराती है वहीं दूसरी ओर समाज में परिव्याप्त विसंगतियों, बाह्याचारों, धर्माडम्बरों के त्रस्त जनसामान्य की पीड़ा को व्यक्त करती है। सगुण-निर्गुण दो धाराओं में विभक्त भक्तिकाव्य के फलक का विस्तार

अत्यन्त व्यापक है। 300 वर्षों में फैले हुए भक्तिकाल की समय-सीमा आचार्य शुक्ल के अनुसार संवत् 1375 से 1700 संवत् तक मानी गई है। कबीर, सूरदास, तुलसीदास, जायसी के अलावा विभिन्न कवियों ने भक्तिकाल को काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बनाया है।

3.5.4.1 भक्ति-मूल्य

भक्तिकाल की कविता का प्रधान मूल्य 'भक्ति' है। इस काल के कवि मूलतः भक्त हैं। भगवद् विषयक भक्ति ही इनका मुख्य उद्देश्य है। भक्तिकाल के कवि जिस विषय को सोचते और अनुभव करते थे, उसी को वे काव्य के रूप में अभिव्यक्त करते थे। जिस तरीके से ब्रह्म के निकट जाना चाहते हैं, उसी तरीके से उसको अपने निकट लाना चाहते थे। इस प्रकार के विविध भावों की अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य में है। भक्ति का सम्बन्ध प्रेम से होता है और इस प्रेम का सम्बन्ध अनुकूलता से है। इसमें कोई स्वार्थ और अभिलाषा नहीं है। मनुष्य अपने हृदय और भाव के अनुसार ईश्वर की भक्ति कर सकता है। इस अनुकूलता के कारण ही भक्तिकाव्य की अलग-अलग धाराएँ निकलती हैं। मूलतः भक्तिकाव्य से चार धाराओं का उद्‌गम होता है। इन चारों धाराओं की कविता में भक्ति का स्वरूप अलग-अलग है। निर्गुण भक्तिकाव्य में ईश्वर की निर्गुण स्वरूप की विवेचना है। यह धर्म के बाह्याचारों का विरोध करता है और ईश्वर के साथ अलग-अलग भावों से अपना तादात्म्य जोड़ता है। रैदास "तुम चन्दन हम पानी" कहकर ईश्वर की विराटता के समक्ष भक्त की लघुता को प्रदर्शित करते हैं। वहीं कबीर के ईश्वर उनके बालम (प्रियतम) हैं, कबीर खुद को उनकी दुल्हन बताते हैं। इतना ही नहीं, 'एक आस बिसवास' के रहते वे अपने को ईश्वर का कुत्ता भी घोषित करते हैं। निर्गुण भक्ति के अनुसार भक्त के लिए एक बात अत्यावश्यक है – अनन्य भाव से भगवान की शरण होना और अहैतुक प्रेम यानी बिना शर्त आत्मसमर्पण। कबीर में इन बातों की चरम परिणति हुई है। प्रेममार्गी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्य में भक्ति का पुट दिखाई देता है। अद्वैत भावना पर आश्रित प्रेममार्गी सूफी कवियों की भक्ति में रहस्यवादी प्रेम प्रदर्शित होता है। सूफियों का भक्तहृदय अपने प्रियतम से मिलने के लिए व्याकुल रहता है। सगुण भक्ति का काव्याधार अवतारवाद है, जिसमें विष्णु के दो अवतार बताए गए है – राम और कृष्ण। सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने दाशरथि राम के प्रति अपनी भक्तिभावना प्रकट की है। वहीं सूरदास ने कृष्ण भजन और लीलागान के माध्यम से अपने अनन्य प्रेम को प्रदर्शित किया है। "अगुनहि-सगुनहि नहीं कछु भेदा" मानने वाले तुलसी का रामचरितमानस भक्ति का चरमोत्कर्ष है तो सूर की गोपियाँ "ऊधो मन न भए दस-बीस" कहकर उद्धव के निर्गुण-निराकार को खण्डित करके सगुण विचारधारा को प्रतिष्ठित करती हैं।

3.5.4.2 लोकधर्म की प्रतिष्ठा

भक्तिकाव्य का दूसरा मुख्य उद्देश्य लोक धर्म की प्रतिष्ठा करना है। भक्तिकाल के सभी कवियों की विचारधारा लोक धर्म को प्रतिष्ठित करती है। वस्तुतः लोक और शास्त्र दोनों एक दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं जो एक म्यान में नहीं रह सकते हैं। ऐसे में तुलसीदास ने शास्त्रानुमोदित धर्म को लोक में प्रतिष्ठापित किया जिसे निर्गुण कवियों ने शास्त्र-विमुख कर दिया था। भक्तिकाव्य को 'लोक जागरण का काव्य' कहकर सम्बोधित करने वाले

प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा भक्तिकाव्य को जन का काव्य मानते हैं, जिससे समाज में लोकधर्म की प्रतिष्ठा होती है। लोकधर्म का आशय जन-जीवन से है। धर्म का अर्थ भारतीय शास्त्रों में सम्प्रदाय के अर्थ में नहीं, धारण करने के अर्थ में लिया गया है। कर्तव्य के रूप में भी इसकी व्याख्या की गई है। भक्तिकाव्य में निर्गुण सन्तकवि पहले से प्रचलित धर्म के बाह्याचार की आलोचना करते हैं। परम्परागत वेद, शास्त्र आदि को चुनौती देते हुए उनकी बुनियाद का ही विरोध करते हैं। वहीं सगुण मतवादी विशेषतः तुलसीदास तमाम लचीलेपन के बावजूद बुनियादी तौर पर शास्त्रानुमोदित धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था का समर्थन करते हैं। मलिक मोहम्मद जायसी 'मानुष प्रेम भ्येउ बैकुण्ठी' कहकर लोक धर्म के स्वरूप में प्रेम की प्रतिष्ठा कर मनुष्यता को बाँधने की बात करते हैं। सूर के लिए भी लोक धर्म प्रेम में ही है और वे विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से इस प्रेम का चित्रण करते हैं, लीलाओं में मग्न होते हैं। जिसे शुक्ल ने लोकधर्म कहा है, सामाजिक मान-मर्यादा कहा है, वे सब इस प्रेम और इन लीलाओं के प्रवाह में तिनके के समान ऊब-डुब करते दिखाई देते हैं, दर्शन देते हैं। मीरा के काव्य में भी लोक धर्म की प्रतिष्ठा हुई है। 'लोक लाज खोई' कहने वाली मीरा महलों के चहार दीवारी को तोड़ कृष्ण के प्रेम की दीवानी हो जाती है। पति का विरोध कर कृष्ण को प्रेमी रूप में वरण करती है। तुलसी के यहाँ तो लोक ही लोक है। लोक धर्म का व्यापक फलक तुलसी के काव्य में दिखाई देता है। तुलसी की कविता रामराज्य की विराट् परिकल्पना कर एक ऐसे लोक धर्म की प्रतिष्ठा करती है जिसमें समाज में औसतन प्रचलित लोक धर्म का अधिक स्वीकार है। वे सामाजिक स्थिति से अप्रसन्न भी हैं, लेकिन शास्त्र और वेद के प्रति निष्ठावान भी हैं। तुलसी वर्ण-व्यवस्था को सुधार कर सदृढ़ बनाना चाहते हैं। तुलसी के अपने जीवन के कई आयाम है और इन सबकी परणिति है कि उनके द्वारा स्थापित लोक धर्म में भी द्वन्द्व है। कबीर की तरह वह इसे आग नहीं लगाना चाहते हैं। समाज की व्यवस्था को बनाए रखने का बेहतर विकल्प उन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था में ही दिखता है। सारांशतः मध्यकाल के अन्तर्गत भक्तिकाव्य में लोक धर्म विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। पहले के रूढ़िबद्ध लोकधर्म को तोड़कर एक नए लोकधर्म की प्रतिष्ठा का दिग्दर्शन होता है।

3.5.4.3 प्रेमभावना

समग्र भक्तिकाल में प्रेम की महत्ता परिलक्षित होती है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "भक्तिमार्ग शुद्ध भावमार्ग या लौकिक प्रेममार्ग है।" भक्तिकाव्य के प्रेम के मूल में लौकिक अनुभव है। जायसी के यहाँ प्रेम मनुष्य को वैकुण्ठ तक पहुँचाता है। जीवन में बगैर प्रेम सब कुछ व्यर्थ है। जायसी का यह प्रेम लोक-जीवन से जुड़ा प्रेम है, जिसमें विरह के साथ-साथ मिलन भी होता है। इस प्रेम के वशीभूत होकर ही मनुष्य किसी भी सत्ता से टकरा जाता है। सूर के यहाँ जो प्रेम पल्लवित होता है, वह प्रेम भी लोक-जीवन से आता है। यह ऐसा प्रेम है जो लोक और वेद दोनों की मर्यादाओं से परे है। यह समाज की रूढ़ियों को तोड़ने वाला, निर्द्वन्द्व, निर्भीक और एकनिष्ठ है। सूरदास के अनुसार प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। मीरा के यहाँ प्रेम का प्रबल आवेग दिखाई पड़ता है। इस प्रेम के कारण ही मीरा अपने पति का परित्याग कर लोक-लाज से परे हो रूढ़िगत बन्धनों और महल की मर्यादा को ध्वस्त कर कृष्ण के प्रेमरूपी चासनी में पगी जाती हैं। इस प्रेम ने मीरा को संघर्ष का रास्ता दिखाया है। तुलसी के यहाँ प्रेम भक्त के अन्तःस्थल में है। भक्त के प्रेम में वशीभूत भगवान् भी भक्तमय हो जाते हैं। तुलसी के प्रेम में मर्यादा और

सामाजिक भाव भी कूट-कूट कर भरा हुआ है। 'कंकन के नग की परछाँही' में राम का चेहरा देखने वाली सीता का प्रेम सामाजिक मर्यादा के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित है। तुलसी के काव्य में प्रेम प्राकारान्तर से परिलक्षित होता है। तुलसी प्रेम के माध्यम से सामाजिक चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। तुलसी के यहाँ प्रेम में धैर्य है, चौदह साल का विरह है, प्रेम की शक्ति से उत्पन्न तेज है, समुद्र को भी सुखा देने की शक्ति है तो लोकमर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए प्रेम की अग्निपरीक्षा भी है और इन सबसे बढ़कर त्याग भी है। इस तरह भक्तिकाव्य में प्रेम के भी विविध पक्ष सामने आते हैं। इसका एक विषय भक्त और भगवान का प्रेम है तो दूसरा मनुष्य का प्रेम है। प्रेम के चित्रण में अनेक बिम्ब समाज से या लोक से उठाए गए हैं।

इस प्रकार भक्तिकाव्य में भक्ति मूल्य की प्रतिष्ठा, प्रेम की प्रतिष्ठा, लोकधर्म की प्रतिष्ठा तो दृष्टिगोचर होती ही है, साथ ही, मानवता और समानता की पहल, सामाजिक भेदभाव की आलोचना तथा सामाजिक एकीकरण की भावना भी सभी भक्तकवियों के काव्य में एक समान विद्यमान दिखाई देती है। भक्तकवियों की भाषा अवधी और ब्रज है। भक्तिकालीन कवियों ने समाज की विसंगतियों को क्षोभ के साथ उजागर किया है। लोक-जीवन और लोक संस्कृति का उद्घाटन भी भक्तिकाव्य में हुआ है। जहाँ जायसी और तुलसी की कविताओं में अवधी की लोक संस्कृति व्यक्त हुई है, वहीं सूरदास की कविता में ब्रज की लोक संस्कृति का उद्घाटन हुआ है। मीरा की कविता में राजस्थान की संस्कृति का उद्घाटन है। इसी तरह निर्गुण सन्तों की कविता में समाज के निम्न वर्ग की संस्कृति और उच्च वर्ग की संस्कृति के द्वन्द्व का उद्घाटन हुआ है।

3.5.5 पाठ-सार

प्रस्तुत इकाई में आपने भक्तिकाव्य में लोक-जीवन, लोक संस्कृति और भक्तिकालीन जीवन-मूल्यों का अध्ययन किया। भारतीय लोक संस्कृति में विविधता है। यहाँ अनेक संस्कार हैं। विभिन्न पर्व, त्योहार, व्रत, नेम आदि लोक को उत्सवमय बनाते हैं। भक्तिकाल के कवियों ने इसी लोक-जीवन को अपने काव्य में उतारा है। यहाँ कबीर जैसा फक्खड़ स्वभाव का सन्त है जो लोक को चुनौती देता है और आभिजात्य से भिड़ जाता है तो जायसी जैसा लोक प्रेमी भी है जो प्रेम को वैकुंठी बना देता है। इन निर्गुण कवियों ने प्रेम की जो सरिता बहाई वह लोक में आज भी संचरित हो रही है। यहाँ सूर जैसे सगुणोपासक भक्तकवि भी हैं जो शास्त्रोक्त लोक की पैरवी करते हैं और कृष्ण को लोकाभिराम रूप प्रदान करते हैं। वहीं तुलसी जैसे रामभक्तकवि राम के मर्यादापुरुषोत्तम और लोक रक्षक स्वरूप की प्रतिष्ठा कर लोकमर्यादा को प्रतिष्ठित करते हैं।

3.5.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भक्तिकाल की समय सीमा क्या है ?

(क) 1050 से 1375

(ख) 1375 से 1700
(ग) 17000 से 19000
(घ) 1900 से अद्यतन

2. बाबर के आक्रमण के समय दिल्ली पर किस वंश का राज्य था ?
   (क) तुगलग वंश
   (ख) सैयद वंश
   (ग) लोदी वंश
   (घ) मुगल वंश

3. 'लोका मति के भोरा रे' पंक्ति के रचनाकार कौन हैं ?
   (क) कबीर
   (ख) रामानन्द
   (ग) वल्लभाचार्य
   (घ) नन्ददास

4. आपकी दृष्टि में जायसी मूलतः क्या हैं ?
   (क) समाजशास्त्री
   (ख) विचारक
   (ग) दार्शनिक
   (घ) कवि

5. सूर के काव्य में किस क्षेत्र का लोक अभिव्यक्त हुआ है ?
   (क) अवध का
   (ख) ब्रज का
   (ग) बुंदेलखंड का
   (घ) राजस्थान का

6. तुलसी किस शाखा के भक्तकवि हैं ?
   (क) रामभक्ति
   (ख) कृष्णभक्ति
   (ग) सन्तकाव्य
   (घ) सूफीकाव्य

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भक्तिकाल की राजनैतिक परिस्थिति का वर्णन कीजिए।
2. 'कबिरा खड़ा बाजार में' को विवेचित कीजिए।
3. जायसी के प्रेम का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
4. सूर के काव्य में किस रस की प्रतिष्ठा हुई है ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
5. तुलसी के राम लोकरक्षक हैं या लोकरंजक ? स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भक्तिकाल की पृष्ठभूमि की तार्किक विवेचना कीजिए।
2. कबीर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन कीजिए।
3. "मानुस प्रेम भयउ बैकुंठी" की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
4. "तुलसी का काव्य लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित है।" विश्लेषण कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : हिन्दी निर्गुण-काव्य-परम्परा

इकाई – 1 : भारतीय धर्म साधना और हिन्दी सन्त काव्य, निर्गुण सन्तकवियों का अवदान

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. भारतीय धर्म साधना और हिन्दी सन्त काव्य
4.1.3. निर्गुण सन्तकवियों का अवदान
  4.1.3.1. सन्त नामदेव
  4.1.3.2. सन्त कबीर
  4.1.3.3. सन्त रैदास / रविदास
  4.1.3.4. गुरु नानकदेव
4.1.4. पाठ-सार
4.1.5. बोध प्रश्न
4.1.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.1.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हिन्दी के निर्गुण सन्तकवियों के काव्य और भक्तिकालीन धर्म साधना की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. पूर्ववर्ती धर्म साधना पद्धतियों का भारतीय भक्तिकाव्य पर पड़े प्रभावों की चर्चा कर सकेंगे।
iii. हिन्दी के सन्त काव्य में निहित साधना पद्धतियों के बारे में जान सकेंगे।
iv. साधना पद्धतियों के सन्दर्भ में निर्गुणवादी सन्तकवियों के अवदान का विवेचन कर सकेंगे।

4.1.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के अन्तर्गत भक्ति पद्धतियों के कई रूप प्रचलित थे। विभिन्न साधना पद्धतियाँ भी इन्हीं भक्तियों में अन्तर्निहित हुआ करती थी। विशेष बात यह है कि भक्ति की इन साधनाओं के स्रोत इन भक्तकवियों की भक्ति और साधना का माध्यम बनने से भी पहले मिलते हैं। ब्रह्म चिन्तन करने वाली भक्ति की इन साधनाओं के स्रोत भारतीय वेदों, उपनिषदों में प्राप्त होते हैं और यहीं से ब्रह्मोपासना की अजस्रधारा प्रवाहित होती हुई परवर्ती भक्तों की आध्यात्मिक भक्ति साधना का मुख्य अंग बनती गई। अध्यात्म चिन्तन में इसी ब्रह्म अथवा परब्रह्म के स्वरूप को जानने का प्रयास किया गया है।

निर्गुणवादी सन्त और भक्तकवि इस परब्रह्म अथवा ब्रह्म के निर्गुण, निराकार रूप को मानते हैं जिसका रूप और स्वरूप अकथनीय है। लेकिन उसके अस्तित्व से ही चराचर जगत् संचालित होता है। इस तरह से निर्गुणवादी सन्तकवि उसकी सर्व व्यापकता और सार्वभौमिकता के तथ्यों को मानते हैं। यह प्राचीन वेदों के चिन्तन का ही प्रभाव था। उपनिषदों में इस ब्रह्म के लिए निरंजन शब्द प्रयुक्त हुआ है और बताया गया है कि सारे प्राणियों में एक ही सर्वव्यापक देवता विद्यमान है, वही प्राणियों के कर्मों और उसके परिणामों का संचालन करता है। सार्वभौमिक, सर्वव्याप्त होने से होने से सभी में उसी की चेतना है। इस ब्रह्म को लौकिक नेत्रों से देख पाना सम्भव नहीं है। सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि में केवल दो ही तत्त्व अनश्वर हैं – एक, प्रकृति और दूसरा, पुरुष। ये परमतत्त्व के पुरुष रूप को मान्य करते हैं। गीता में भी इस ब्रह्म को अजन्मा, अविनाशी, सर्वव्यापी, इंद्रियातीत और निर्विकार बताकर उसे सम्पूर्ण जगत् का कर्ता बताया गया है।

जैनियों ने आत्मा के दो रूप बताए – एक, व्यावहारिक और दूसरा, शुद्ध जिसे व्यवहारनय और शुद्धनय कहा गया है। व्यवहारनय आत्मा का सम्बन्ध लौकिकता से तो शुद्धनय का सम्बन्ध अलौकिकता से है। इस प्रकार जैन मत ईश्वर की अधीनता की अपेक्षा सदाचार के मार्ग पर चलकर मनुष्य को ही ईश्वरत्व दिलाने की बात कही है। वहीं बौद्धमत के अनुसार सृष्टि अशाश्वत और निर्वाण शाश्वत है। इस शाश्वत की प्राप्ति कर्म के प्रभाव और उसके समाप्त होने के बाद ही सम्भव हो पाती है।

कालान्तर में बौद्धमत के ही एक उपसम्प्रदाय मन्त्रयान ने मंत्रों की सत्ता को अपनाकर ईश्वरीय सत्ता का लोप कर दिया। उनका यह प्रभाव सिद्धों पर भी दिखाई देता है। नाथ सम्प्रदाय ने परमतत्त्व को पुनः निर्गुण निराकार रूप प्रदान किया। इस तरह क्वचित भेदोपभेद के साथ परवर्ती सन्तों और भक्तकवियों ने परब्रह्म और जीव के बीच सामंजस्य स्थापित करके उसका विश्लेषण किया। स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैतवाद, मध्वाचार्य ने द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत तो स्वामी रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत और वल्लभाचार्य तथा विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिष्ठापना कर परब्रह्म के रूप में परालौकिक, अद्भुत आनन्द को प्राप्त करने के अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साधना का मार्ग बताया। इन्हीं साधनाओं का आधार लेकर भारतीय सन्तकवियों ने साहित्य रचकर जनमानस के उद्बोधन का कार्य किया।

4.1.2. भारतीय धर्म साधना और हिन्दी सन्त काव्य

भारतीय साधना परम्परा के अनुरूप साधना की प्रवृत्तियाँ वेदों, शास्त्रों तथा उपनिषदों आदि से प्राप्त होती हैं। फलतः समय के साथ इनमें मतभेद और अनुभूति वैषम्य आदि के कारण असमानता आती गई और साधना पद्धतियों में बदलाव भी आते गए। भारतीय धर्म साधना की दृष्टि से यहाँ छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म साधना की नवीन मान्यताओं ने जन्म लिया, जो तन्त्र साधना से प्रभावित थीं, जिसमें बौद्ध सम्प्रदाय के साथ जैन सम्प्रदाय भी शामिल था। बौद्ध सम्प्रदाय की वज्रयानी शाखा तो मुख्यतः तन्त्र साधना पर ही आधारित थी। बाद के समय में इनमें रुचि या अनुभूतियों के कारण परिवर्तन आते गए और दसवीं शताब्दी के लगभग इनमें व्यापक परिवर्तन

होकर इनका एक नया रूप सामने आया अर्थात् मध्यकाल में आने पर हमें जो धर्म साधनाएँ मिलती हैं, उनके स्रोत पूर्वकाल में मिलते हैं।

साधना का उद्देश्य है – अलौकिक शान्ति या परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मन की बहिर्मुखी प्रवृत्ति का रुख मोड़कर ब्रह्म चिन्तन के माध्यम से उसे लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर करना। लौकिक जगत् में रहकर परम पद पाने के लिए वेदों में साधना के जो मार्ग बताए गए हैं वे हैं – ज्ञान, योग और भक्ति मार्ग। इनमें से किसी भी मार्ग का चयन कर साधक उस परब्रह्म और परम पद को पा सकता है। "ज्ञानमयी साधना बहुधा तर्क का अवलम्बन ग्रहण करती है और उसके साथ व्यवस्थित ढंग से अग्रसर होती हुई किसी अन्तिम ध्येय तक पहुँचने के लिए सचेष्ट होती है।" ज्ञानमार्गी साधना के दो आधार बताए जाते हैं – शास्त्र-आधारित और तर्क-आधारित। शास्त्राधारित साधना का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ शास्त्रों के अतिरिक्त चिन्तन का कोई पर्याय नहीं होता। यहाँ प्रधानता केवल शास्त्रीय मान्यताओं की ही होती है। वेदों और शास्त्रों में तत्त्व चिन्तन का यही आधार होता है। इसके विपरीत तर्काधारित साधना में तत्त्व चिन्तन के लिए विचार-विमर्श और तर्क-वितर्क करने के लिए व्यापक अवकाश रहता है। शास्त्रों के मानकों का निर्वाह करने के लिए साधक पर कोई बन्धन नहीं होता। वैदिक युग में कर्मकाण्डीय धर्म साधना में अरुचि उत्पन्न हो जाने के बाद आदिगुरु शंकराचार्य ने भी अद्वैतवाद का प्रवर्त्तन किया।

साधना का दूसरा मार्ग योग साधना है। "योग साधना का प्रचलन ईसवी सन् की द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारम्भ में ध्यानयोग एवं तपश्चर्या के सम्मिश्रण से हुआ जिसने आगे चलकर अपना विकास मुख्यतः हठयोग के रूप में किया। हठयोग नामक अंग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन और प्राणायाम तथा राजयोग में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का विवेचन किया गया।" प्राचीन काल से ही योग साधना भारतीय साधना पद्धति की महत्त्वपूर्ण कड़ी रही है। वेद, शास्त्र, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों में योग साधना का वर्णन मिलता है। इस साधना मार्ग के अवलम्बन से बौद्ध, जैन, नाथ आदि सम्प्रदाय भी अछूते नहीं रह पाए। सिद्धों की तन्त्र साधना में भी योग साधना को महत्त्वपूर्ण माना गया। योग साधना भक्ति की पार्श्वभूमि का परिचय देती है।

भारतीय धर्म साधना के सभी पर्यायों में योग साधना का समर्थन किया गया है। परमात्मा तक पहुँचने के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक होती है। इस योग साधना के माध्यम से मन की चंचलता और उसकी बहिर्मुखता को रोककर उसे अन्तर्मुखी बनाने की साधना है योग। पतंजलि ने योग मत और साधना को क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया था, उसका तत्त्ववाद सांख्य से बहुत भिन्न नहीं है। बहुत प्राचीन काल से लोक सांख्य और योग का अभेद स्वीकार करते आए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा था कि – "केवल बाल बुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को अलग-अलग मत समझते हैं, पण्डित लोग ऐसा नहीं मानते। सांख्य तत्त्ववाद का नाम है और योग उसकी प्रक्रिया का।" शास्त्रों की दृष्टि से पतंजलि ने तीन शास्त्रों की रचना की थी – महाभाष्य, योगसूत्र और चरक संहिता। भक्ति प्रक्रिया में योग अनिवार्य तत्त्व है। भक्ति की साधना बिना योग के नहीं हो सकती। भक्ति और योग का यह अद्भुत समन्वय प्राचीन काल से ही विद्यमान है। परवर्ती सन्तकवियों ने भी इसी समन्वय को अपनी साधना और भक्ति में अंगीकृत किया। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार "ज्ञानवाद के साथ तपोविद्या का मेल हो जाने

से इसी प्रकार योग-मार्ग का भी आरम्भ हुआ जिसके आदि प्रवर्त्तक जैगीषव्य कहलाते हैं।" योग साधना को भी दो रूपों में विभाजित किया जाता रहा है – पहली, हठयोग साधना और दूसरी, राजयोग साधना।

हठयोग साधना में श्वास प्रश्वास एवं शारीरिक अंगों पर अधिकार प्राप्त कर उसका उचित संचालन करते हुए मन को एकाग्र करना और उसे 'परब्रह्म' में नियोजित करना 'हठयोग' है। इस प्रकार इस साधना में प्राणायाम के सहारे श्वासों के बाद क्रमशः इन्द्रियों और अन्य अंगों पर नियन्त्रण स्थापित कर साधक अपने चित्त को परमात्मा में विलीन करता है। यह शारीरिक कष्ट की साधना है, क्योंकि इस साधना में शरीर कृशकाय हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए हठधर्मिता के प्रयोग के कारण ही इस साधना को हठयोग साधना कहा गया। कुण्डलिनी साधना भी हठयोग का ही एक प्रकार है, जिसमें श्वासों को नियन्त्रित करके ब्रह्मरंध्र अर्थात् त्रिनाड़ियों – ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी तक पहुँचाया जाता है। इसी ब्रह्मरंध्र को बेधने के पश्चात् साधक अमृत रस का पान कर पाता है। साधक की समाधि इसी साधना का परिणाम होती है।

राजयोग साधना में शारीरिक कष्ट की जगह सदाचार और चित्त वृत्तियों को नियन्त्रित करने का प्रयास किया जाता है जिसे चित्तनिरोध भी कहते हैं। साधकों ने चित्त निरोध के दो प्रकार बताए हैं – (i) प्राण स्पन्दन की गति को नियन्त्रित कर साधना करना और (ii) वैराग्य के माध्यम से मन की विषय-वासना को मन से दूर करने का प्रयास करना। राजयोगी साधना का साधक लौकिक जगत् में रहकर भी अपनी साधना के बल पर तमाम माया-मोह और विषय-वासना के प्रभावों से मुक्त रहता है। इस प्रकार राजयोग साधना शरीर के साथ-साथ मन और प्राण की शुद्धि की भी साधना है। इसके लिए साधक चाहे तो मन्त्र साधना भी कर सकता है। नाथ सम्प्रदाय ने भी योग की विविध प्रक्रियाओं को अपनी साधना का माध्यम बनाया था। सन्तों के काव्य में योग की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन मिलता है। राजयोग सदाचारण को भी प्रोत्साहन देता है। जैन और बौद्ध सम्प्रदाय ने सदाचरण को अधिक महत्त्व दिया। इस सदाचार को प्रस्तुत करने के सभी की अपनी-अपनी प्रक्रियाएँ थीं। क्षमा, शील, मैत्री, सत्य, वीर्य – ये सभी बोधिसत्व के मूल तत्त्व माने जाते हैं। "पौराणिक युग की सदाचार साधना ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विद्या, सत्य और अक्रोध को धर्म के दस लक्षण बतलाकर उनको अपने में समावेश कर लिया और थोड़े से मतभेद के साथ प्रायः इन्हीं को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणीधान के नाम देकर योग साधना ने भी अपने यहाँ यम-नियमों के रूप में स्थान दे दिया।" इस प्रकार योग साधना में सदाचरण सबसे परमावश्यक गुण हो गया, जिसे कालान्तर में सभी के लिए आवश्यक माना गया। प्राचीन काल में तन्त्र साधना पद्धति का भी उल्लेख मिलता है। जो उपनिषदों में भी वर्णित है। पौराणिक युग में तन्त्र साधना का प्रभाव अधिक था परन्तु वैचारिक असंतोष और मतभेद के कारण ये साधनाएँ कई भागों में बँटती गई। बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी उपासना और साधना पद्धतियों का आख्यान किया। साधना का भक्ति मार्ग का अवलम्बन परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में मन के नियोजन की क्रिया है। साधना पद्धतियों में भक्ति के तीन स्वरूपों अनुग्रह, प्रेम और भक्ति का उल्लेख मिलता है। इन तीनों स्वरूपों का अपना-अपना विशेष अर्थ है। अपने से छोटों के प्रति जो प्रेम और आत्मीयता होती है वह अनुग्रह है जबकि किसी स्त्री अथवा किसी प्रेमी के प्रति यह भावना प्रेम कहलाती है और अपने से पूज्य और श्रेष्ठ

जनों के प्रति जो प्रेम प्रयुक्त होता है वह भक्ति कहलाती है जो ईश्वर की अनुकम्पा से जन्म लेती है। शास्त्रों में भक्ति का व्यापक गुणगान किया गया है। साधना पद्धति में भक्ति से ही जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। इसी भक्ति मार्ग पर चलकर ही आत्मा परमात्मा में समाहित हो सकती है। श्रीमद्भागवतपुराण में श्रीकृष्ण ने भक्ति साधना की तुलना सोने को आग में तपाने से की है। जैसे आग में तपकर सोना निर्मल हो जाता है उसी तरह मनुष्य भी भक्ति का अवलम्बन करके परमात्मा को पा सकता है। तमाम योग साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य भी भक्ति ही है। स्वरूपतः भक्ति दिव्य एवं चिन्मय प्रकाश है। सभी साधक योग साधनाओं के माध्यम से भक्ति को सिद्ध करने की अपेक्षा की जाती है। साधना की इस पद्धति को साधन भक्ति भी कहा जाता है। महर्षि शाण्डिल्य के शाण्डिल्यसूत्र और नारद के भक्तिसूत्र में भक्ति साधना का उल्लेख मिलता है। साधकों ने इसके दो भेद बताए हैं – वैधि भक्ति और रागात्मिका या रागानुगा भक्ति। नारद भक्तिसूत्र और शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में वैधि भक्ति साधना का उल्लेख मिलता है। निश्चित विधि के अनुरूप की जाने वाली इस साधना में भक्ति का अर्थ, उसके अन्तराल, साधन, महत्त्व, भक्त की महत्ता आदि तत्त्वों पर व्यापक चर्चा नारद भक्तिसूत्र में की गई है। इसके विपरीत रागानुगा भक्ति-साधना का आधार मात्र प्रेम है। किसी भी विधि का अनुसरण न करते हुए भी भक्त अपने आप को ईश्वर के प्रति समर्पित कर सकता है।

पूर्ववर्ती भक्ति साधनाओं का अनुसरण परवर्ती भक्ति साधकों ने किया। सभी साधकों का प्रधान लक्ष्य होता था – परमसत्ता और आराध्य में अपने आप को समर्पित कर देना। भारतीय भक्ति साधनाओं का विकास सातवीं से नौवीं शताब्दी में देखा जा सकता है। समय के साथ-साथ परवर्ती सन्त एवं भक्तकवियों ने इन्हीं साधनाओं को कुछ अन्तर के साथ स्वीकार किया। निर्गुण और सगुण सभी सन्तकवियों में भक्ति की इन साधनाओं के गुण मिलते हैं। सन्त साहित्य इन्हीं साधनाओं से अनुप्राणित है।

सन्तों ने अपने साहित्य में सत्य की खोज करते हुए पारम्परिक धार्मिक मान्यताओं का स्वीकार नहीं किया। वे उन धर्माचारियों पर भी उँगली उठाते हैं जो धर्म का मर्म न जानकार भी उसकी आड़ में भ्रामकता को जन्म देते हैं। वेद-शास्त्रों के ज्ञाता भी उनके तर्कों का शिकार होते रहे। यहाँ वे धार्मिक पूर्वाग्रहों के स्थान पर व्यक्तिगत स्वानुभूतियों को अधिक महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं। इन सन्तों ने अपने साहित्य में ब्रह्म, जीव, माया और जगत् को आधार बनाया, जिसकी प्रामाणिकता व्यक्तिगत अनुभवों से ही साबित हो सकती है। लगभग सभी सन्तकवियों ने परमात्मा के स्वरूप का विवेचन एक-सा ही किया है। सन्त साहित्य का मूल प्रतिपाद्य भी परमतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन था। परमात्मा के सच्चे स्वरूप को जानने के लिए सन्तों ने आत्मनिवेदन, नामस्मरण, जीवन की सात्विकता को अपने साहित्य में प्रधानता दी। रचनाओं के सृजन में वे सद्गुणों, आदर्शों और सदाचार की प्रतिष्ठापना करते हैं। मध्यकालीन सन्त साहित्य पर कबीर की विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा। उनकी आध्यात्मिक साधना सर्वव्यापी और सार्वभौमिक है। कबीर के लिए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने ठीक ही लिखा है, "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती, इसीलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी, प्रभृति सब साधनाओं को

जोर से पकड़ रखा है।" कथन से स्पष्ट है कि कबीर के समकालीन और परवर्ती सम्पूर्ण सन्त और भक्त साहित्य पर कबीर की आध्यात्मिक साधना का प्रभाव पड़ा।

सन्त साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि परमतत्त्व का स्वरूप व्यक्तिगत अनुभवों पर आश्रित होता है। साधक की साधना और भक्ति जितनी गहन होगी उसे परब्रह्म का उतना ही सतेज साक्षात्कार होगा। यद्यपि सन्तों ने सत्य को पूर्णरूपेण जान लेने की बात कभी नहीं की। कबीर ग्रन्थावली में कबीर की पंक्तियाँ उनके सत्य की वास्तविकता को पूर्णतः नहीं जान पाने की बात को जाहिर कर देती हैं –

जस तू तस तोहि कोई न जान।
लोग कहैं सब आनहिं आन॥

अर्थात् परब्रह्म के सच्चे और मूल स्वरूप को कोई नहीं जान पाया है। जो लोग इसके स्वरूप का वर्णन करते भी हैं वे उनके व्यक्तिगत अनुभव हैं। कबीर का यही आध्यात्मिक दर्शन राम-नाम की महिमा पर भी लागू होता है। कबीर ब्रह्मस्वरूप को निर्गुण निराकार मानते थे। सभी सन्तों ने सत्य की जानकारी को सत्य नहीं मानकर व्यक्तिगत प्रेरणा और अनुभूतियों से जो सत्य प्रमाणित हो, उसी को मानने पर बल दिया। सन्तों ने नाम का गुणगान किया। ईश्वर के वर्णन में वाणी भी अवाक् हो जाती है। उसका वर्णन करने के लिए भक्त के पास पर्याप्त शब्द भी नहीं होते। फिर चन्द पंक्तियों में उसके स्वरूप का विवेचन कैसे हो सकता है। आत्मा और परमात्मा के बीच के अन्तर को न मानते हुए सन्तों ने परब्रह्म को पाने के लिए शुद्ध अन्तःकरण, अखण्ड चिन्तन, सदाचरण जैसे तत्त्वों को महत्त्व दिया। आदि शंकाराचार्य के अद्वैतवाद में यही सूत्र मिलता है जबकि सन्तों की साधनाएँ ज्ञान, योग और भक्ति साधना के अनुरूप दिखाई देती है।

अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के वर्णन-वैचित्र्य ने सन्त साहित्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया। सन्त साहित्य में जो रहस्य मिलता है, सम्भवतः वह सन्तों की अस्पष्ट अभिव्यक्ति का पर्याय था। "परम तत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाने पर भी, उसके स्वानुभूतिपरक होने के कारण, तद्विषयक अभिव्यक्ति का अस्पष्ट एवं अधूरे रूप में ही होना सम्भव है। सन्त लोग उसे प्रकट करने के प्रयत्न बार-बार किया करते हैं। एक ही बात की पुनरुक्तियाँ तक कर देते हैं, किन्तु उनकी भाषा उनका पूरा साथ नहीं दे पाती। उनके वर्णन इसी कारण बहुधा गूढ़ से गूढ़तर बनते जाते हैं और श्रोता वा पाठक उनसे केवल चकित होकर रह जाता है।" इस सम्बन्ध में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए सन्त कबीर ने स्वयं कहा है –

अविगत अकल अनूप देख्या, कहता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसे, गूंगे जानि मिठाई॥

सन्त साहित्य में परब्रह्म की कल्पना यद्यपि निराकार रूप में की गई है परन्तु उसका चित्रण वे सगुण रूप में करते हैं। सन्त नामदेव के साहित्य में इस परब्रह्म को सर्वेश्वर कहा गया है। वह सबमें निवसता है। वह सर्वव्यापी है। इस चराचर जगत् के सभी जीवों में उसी की सत्ता विद्यमान है। प्राणि मात्र उसी का अंश है।

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाँडे, एक ही सिरजनहारा ॥

जैसै बाढ़ी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई ॥
सब घटि अन्तरि तूँहीं व्यापक, धरै सरूपै सोई ॥

आत्मा परब्रह्म का ही अंश है। इस सत्य को जब तक मनुष्य नहीं जानता तभी तक उसमें अभिमान रहता है। सन्त नामदेव के विचारों में भी वही अलख निरंजन की भावना दिखाई देती है। ईश्वर की व्यापकता के सन्दर्भ में सन्त नामदेव कहते हैं –

सभै घट राम बोले राम बोले राम बिना को बोले रे भाई ॥टेक॥
एकल माटी कुंजर चीटी भाजन रे बहु नान्हा रे।
असथावर जंगम कीट पतंगम, घटि घटि राम समाना रे ॥1॥
एकल चिन्ता राषु अनंता, अउर तजऊ सब आसा रे।
प्रणवै नामा भए निहकामा को ठाकुर को दासा रे ॥2॥

निर्गुण सन्त साहित्य में एकेश्वरवाद के स्वर ध्वनित हुए हैं। "उस समय हिन्दू वेदान्त के अद्वैतवादी सिद्धान्त से परिचित होने पर भी बहुदेववादी हो रहे थे और मुसलमानों का एकमात्र परमेश्वर 'अल्लाह' संकुचित होकर काफिरों का भगवान बनने में असमर्थ था अतः सन्तकवियों ने बड़ी उग्र भाषा में बहुदेववाद का खण्डन किया। गुरु नानकदेव भी इसी मत को प्रस्तुत करते हैं –

एक ओंकार सतनाम, कर्तापुरख, निर्मोह निर्वैर, अकाल मूरत,
अजूनी सभं गुरु परसाद जप, आद सच, जुगाद सच, है भी सच,
नानक होसे भी सच।

इन पदों को प्रस्तुत करते हुए गुरु नानकदेव सत्य के स्वरूप, उसके सामर्थ्य, उसकी भयहीनता, उसके स्वयंभू और अजन्मा तथा चिरकाल तक कालातीत तक अस्तित्वमान रहने की बात करते हैं। गुरु नानकदेव की तरह सन्त दादूदयाल, सन्त रज्जब, सुन्दरदास, निरंजनी सन्त हरिदास, मलूकदास आदि सभी ने परब्रह्म परमेश्वर की अधिसत्ता को स्वीकार किया है।

सन्तों के काव्य में वैष्णव भक्ति के भी अंश थे। उनमें निहित दीनता, वात्सल्य भाव, सख्य भाव आदि वैष्णव भक्ति का परिचय देते हैं। इनके साहित्य में कई ऐसे भी पद मिलते हैं जहाँ सन्तकवियों ने संयोग और वियोगावस्था, पूजा-पाठ के विविध उपादान, नाम की महिमा आदि वैष्णव भक्तिप्रद चित्र उकेरे हैं। सन्त साहित्य में गौणी भक्ति के अन्तर्गत आने वाली तामसी, राजसी और सात्विकी भक्ति का भी प्रयोग हुआ है। जहाँ भक्त और उसकी भक्ति ही सर्वोपरी होती है। फिर जीवन में कोई भी समस्या आ जाए, शरीर नष्ट हो जाए किन्तु भक्त अपनी भक्ति में रत रहता है। कबीरदास कहते हैं –

अब हरि हूँ अपनों करि लीनों, प्रेम भगति मेरो मन भीनों।
जरै सरीर अंग नहिं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरों॥

निर्गुण सन्तों की भक्ति दास्य भक्ति के अन्तर्गत आती है। दास्य भक्ति में साधक का स्थान सेवक का होता है और ईश्वर स्वामी। स्वाभावतः दोनों के स्तर में अन्तर होने से मर्यादाओं का निर्वाह होता है। अपने आप को हीनतर बताते हुए भक्त अपने समस्त अभिमान को परमात्मा के चरणों में रखकर विनय के साथ उसका इस भवसागर से पार कराकर उसके जीवन का उद्धार करने की प्रार्थना करता है। अपने स्वामी पर गर्व करते हुए वे उसकी महिमा का बखान करते हैं। उसके आदेश को सर्वोच्च बताते हुए वे उसी के प्रति समर्पण व्यक्त करते हैं –

कुरभानु तेरा सिरै ऊपरि फिर न करत बिचार।
तु ही दरिया तु ही करिया तुझै ते निसतार।

भक्ति की विविध साधनाओं का विलक्षण समन्वय सन्त साहित्य में देखा जा सकता है। सन्त साहित्य में निहित सर्वांग साधना में जहाँ परम्परागत भक्ति साधना में साधना के तीनों मार्गों – ज्ञान, योग और भक्ति मार्ग का अनुकरण किया गया वहीं युगानुरूप उद्‌भूत साधना प्रक्रियाओं में मन की शुचिता, गुरु की महत्ता, रहस्यवाद, आडम्बर विरोध, अहंकार त्याग, सदाचरण जैसी प्रक्रियाओं का भी अनुसरण कर भक्तिकालीन सन्त साहित्य सम्पदा को समृद्ध बनाया। पूर्ववर्ती और परवर्ती साधनाओं पद्धतियों के अतिरिक्त सन्त साहित्य में कई नवीन उद्‌भावनाएँ प्रस्तुत हुईं। यह उनके ज्ञान और अनुभवात्मक समन्वय का ही परिणाम थी। अपनी मान्यताओं और विचारों पर दृढ़ विश्वास रखने वाले इन सन्तों ने अपने साहित्य में शास्त्रों का प्रमाण देकर अपने कथनों की पुष्टि की है। सन्तकवियों में प्रमुख सन्त कबीर ने मानसिक निर्मलता और शुचिता के आधार पर अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, नाथ एवं सूफी सम्प्रदायों से दर्शन, भक्ति के विविध मार्ग एवं साधना पद्धतियों का नवप्रवर्त्तन कर भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण सार को अभिव्यक्ति प्रदान की। निर्गुणवादी सन्तों ने भक्ति की इस पद्धति में साधारण तत्त्व को भी प्रधानता दी जिससे इनकी लोकप्रियता भी बढ़ी। जनसामान्य में व्याप्त विडम्बनाओं और कुप्रथाओं का निर्मूलन करना भी इनके उद्देश्यों में से था। जीवन के सभी धाराओं एवं समुदायों को ये सन्तकवि भक्ति की धारा में समाविष्ट करना चाहते थे। हर जीव में अदृश्य रूप से व्याप्त आध्यात्मिक तत्त्व का आभास भी इन्हीं सन्तों ने करवाया। समष्टि रूप से इन सन्तों ने अपने साहित्य में आध्यात्मिक साधना के आधार पर जीवन के प्रति सकारात्मक सन्देश दिया है।

4.1.3. निर्गुण सन्तकवियों का अवदान

मध्यकालीन भक्ति के दो प्रमुख रूपों में जो भक्ति की पहली धारा बही, वह निर्गुणवादी भक्ति-धारा थी, जिसके प्रवर्त्तन का श्रेय सन्त कबीर को जाता है। यद्यपि निर्गुणवादी भक्ति कबीर के पूर्व भी विद्यमान थी, परन्तु इसे व्यवस्थित और पूर्णत्व प्रदान करने का काम सन्त कबीर ने किया। कबीर से पूर्व निर्गुण भक्ति के लिए सन्त नामदेव का नाम उल्लेखनीय है।

4.1.3.1. सन्त नामदेव

महाराष्ट्र के सातारा जिले के नरसी बमनी गाँव की शिंपी जाति के दामाशेट और गोनाबाई के घर जन्मे सन्त नामदेव (सं. 1327 – सं. 1407) सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन कहे जाते हैं। महाराष्ट्र के सन्त विसोबा खेचर इनके गुरु थे। आठ वर्ष में ही इन्हें विवाह के बन्धन में बंधना पड़ा। किन्तु बाल्यकाल से इनका रुझान सत्संग और भगवद्भक्ति की ओर था। गुरु ग्रन्थ साहिब में इनके जीवन से जुड़े चमत्कारों का वर्णन मिलता है। इनके जीवन के कई प्रसंगों में अलौकिकता का समावेश हुआ है। इनके विषय में कई कथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें श्रीकृष्ण को दूध पिलाना, मन्दिर से निकाले जाने पर मन्दिर के द्वार का पीछे हो जाना आदि कई चमत्कारी प्रसंग इनके जीवन के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। जीवन का अधिकांश समय इन्होंने पंढरपुर के विट्ठल मन्दिर में बिताया फिर तीर्थाटन के दौरान उत्तर भारत में पंजाब में आकर अपने विचारों से लोगों को प्रभावित किया और कई शिष्यों को दीक्षा भी दी। इनके बारे में बताया जाता है कि पहले इन्होंने सगुणोपासना की थी किन्तु बाद में निर्गुण भक्ति को अपना लिया। पंजाब के गुरुदासपुर स्थित धूमन गाँव में इन्होंने जीवन का अन्तिम समय बिताया था।

साहित्यिक दृष्टि से सन्त नामदेव ने हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में काव्य रचे। इनकी हिन्दी में रचे 61 पद रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं। डॉ॰ भगीरथ मिश्र के अनुसार इनके हिन्दी पदों की संख्या 230 तथा 13 साखियाँ हैं। अपनी रचनाओं में सन्त नामदेव ने परमात्मा के निर्गुण रूप की भक्ति की है। साथ ही लोकप्रचलित पूजा-पाठ, कर्मकाण्ड आदि का विरोध किया है। निर्गुण परब्रह्म के लिए वे कहते हैं –

सभु गोबिन्दु है सभु गोबिन्दु है गोबिंद बिनु नहीं कोई ॥
सूतु एकु मणि सत सहंस जैसे ओति पोति प्रभु सोई ।1॥ रहाउ ॥
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा जल ते भिंन न होई ॥
इहु परपंचु पारब्रह्म की लीला बिचरत आन न होई ।2॥
मिथिआ भरमु अरु सुपन मनोरथ सति पदारथु जानिआ ॥
सुक्रित मनसा गुर उपदेसी जागतही मनु मानिआ ॥3॥
कहत नामदेउ हरि की रचना देखहु रिदै बीचारी ॥
घट घट अन्तरि सरब निरंतरि केवल एक मुरारी ।4॥

4.1.3.2. सन्त कबीर

सन्त कबीर का जन्म सं. 1456 के आस-पास हुआ था। इनके जीवन के सन्दर्भ में प्रचलित है कि ये काशी के निकट लहरतारा के पास नीरू और नीमा नामक जुलाहा दंपत्ति को मिले थे। इसी जुलाहा दंपत्ति ने इनका पालन-पोषण किया। स्वामी रामानन्द ने इनके गुरु थे, जिनकी गुरुदीक्षा के विषय में भी एक कहानी बताई जाती है, जिसके अनुसार स्वामी रामानन्द प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में नहाते थे। कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर जा लेटे। अंधेरा होने के कारण स्वामी रामानन्द कबीर को नहीं देख पाए और उनका एक पैर कबीरदास पर पड़ा और रामानन्द ने 'राम-राम' का उच्चारण किया। इसी राम नाम को कबीर ने अपना गुरु मन्त्र बना लिया। कालान्तर में इनका

विवाह लोई से हुआ, जिससे इन्हें कमाल और कमाली नामक दो सन्तानें हुईं। परम्परानुसार कबीर जुलाहे का ही काम करते थे। कबीर अनपढ़ थे, "मसि कागद छुयो नहीं, कलम गह्यो नहिं हाथ" से इस बात की पुष्टि हो जाती है।

अनपढ़ होकर भी कबीर ने तात्कालिक लोकजीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार, छुआ-छूत, जाति-पाँति, अन्धविश्वास, अनैतिक लोकाचार, ऊँच-नीच के भेद के ख़िलाफ़ आवाज उठाई। जीवन में सदाचार और गुरु के प्रति श्रद्धा के बल पर ही भवसागर से पार हो पाने की बात उन्होंने साधकों के सामने रखी। गुरु महिमा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं –

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥

तथा

पण्डित यदि पढि गुनि मुये, गुरु बिना मिलै न ज्ञान।
ज्ञान बिना नहिं मुक्ति है, सत्त शब्द परमान॥

कबीर की रचनाओं के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कबीर बीजक, ग्रन्थ साहब और डॉ॰ श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित कबीर ग्रन्थावली प्रमुख हैं। इनमें बीजक कबीर पंथ का धार्मिक ग्रन्थ है। इसमें पहले रमैनी 84 पद, शब्द 115 पद और सखियों 353 पद तथा एक चौतिसी का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ साहब में कबीर के 228 पद और 238 साखियाँ संगृहीत हैं। कबीर ग्रन्थावली में कबीर की 808 साखियों, 403 पद और 7 रमैनी का संग्रह किया गया है। कालान्तर में कबीर ग्रन्थावली नाम से ही कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

कबीर की रचनाओं का अवलोकन करने पर उनके सच्चे साधक होने का पता चल जाता है। इनकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं था। अपने जीवनकाल में इन्होंने समाज में जो कुछ भी गलत देखा उसका पुरजोर विरोध किया। फिर चाहे मुस्लिम-मुल्लाओं का विरोध हो या फिर ब्राह्मण-पण्डों का, कबीर ने अपने शब्दबाणों से सभी को घायल किया। अपनी वाणियों से कबीर ने तात्कालिक हिन्दू और मुस्लिमों के बीच टकराव को दूर कर समन्वय की स्थापना का भी प्रयास किया था। वे कहते हैं –

हिन्दु कहै मोहें राम पियारा तुरक कहै रहिमाना।
आपस में लरि लरि मरै मरम न कोऊ जाना॥

4.1.3.3. सन्त रैदास / रविदास

रैदास कबीर के समकालीन सन्त थे। इनके जन्म और मृत्यु के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। रामचरण कुरील के मतानुसार इनकी जन्मतिथि माघी पूर्णिमा रविवार सं.1471 तथा मृत्यु

तिथि चैत्र बड़ी चतुर्दशी सं. 1507 है। जाति से चमार रैदास स्वभाव से अत्यन्त उदार और भक्तिभाव वाले थे। ये भी स्वामी रामानन्द की ही शिष्य परम्परा में आते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से इनकी रचनाओं में 81 पदों और 6 साखियों का समावेश है। गुरु ग्रन्थ साहब में भी इनके 30 पद संगृहीत हैं। सन्त रैदास की रचनाओं में कबीर की ही भाँति सामाजिक विषमता और भ्रष्टाचरण के लिए विरोधी स्वर मिलते हैं। साथ ही, इन्होंने मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड आदि का भी तीव्र विरोध किया।

परमात्मा को समर्पित इनके द्वारा रचित निम्नलिखित पद जनमानस में बेहद प्रसिद्ध है –

प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी। जाकी गंध अंग-अंग समानी॥
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा॥
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती। जाकी जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सोहागा॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा॥

नामस्मरण की महत्ता को बताते हुए रैदास ने मनुष्य को भवसागर से पार होने के लिए ईश्वर की भक्ति करने का निर्देश दिया। वे कहते हैं –

हरि-सा हीरा छांड़ि कै, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रविदास॥

हिन्दू और मुस्लिम के बीच बढ़े तनाव को दूर करने के लिए भी उन्होंने भाष्य किया है –

हिन्दू तुरक नहीं कछु भेदा सभी मह एक रक्त और मासा।
दोऊ एकऊ दूजा नाहीं, पेख्यो सोइ रैदासा॥

इस प्रकार सन्त रैदास की रचनाओं में निर्गुण भक्ति के वे सभी तत्त्व मिलते हैं, जिनके आधार पर निर्गुण भक्तिधारा प्रवाहमान हुई थी। रैदास के जीवन पर आधारित एक कथा में उल्लिखित वाक्य "मन चंगा तो कठौती में गंगा" लोक में जन-जन की जिह्वा पर विराजमान है। ईश्वर के प्रति इनकी अनन्य भक्ति, इनका वैराग्य भाव, विनम्रता, उदारता, समन्वय भावना इनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब हैं। कृष्ण की अनन्य भक्त मीराबाई के ये गुरु माने जाते हैं। अपनी रचनाओं में मीराबाई ने इनके प्रति श्रद्धा और आदर व्यक्त किया है।

4.1.3.4. गुरु नानकदेव

गुरु नानकदेव (1469-1538) के व्यक्तित्व में एक सन्त के साथ-साथ एक इतिहास पुरुष का भी रूप भी शामिल है। सर्वेश्वरवादी गुरु नानकदेव स्वभाव से उदार, क्षमाशील और समन्वयवादी प्रवृत्ति के थे। बचपन से ही उन्हें संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, पंजाबी, हिन्दी जैसी भाषाओं की शिक्षा मिली। घुमक्कड़ स्वभाव के नानकदेव ने

सभी दिशाओं की यात्राएँ की । निर्गुणवादी सन्त परम्परा की ही तरह इनके साहित्य में भी धार्मिक रूढ़ीवाद, सामाजिक विकृतियों का विरोध मिलता है ।

नानकदेव के अधिकांश साहित्य की भाषा पंजाबी ही है, जिसमें हिन्दी और फारसी शब्दों की बहुलता है । साथ ही, कहीं-कहीं ब्रज और खड़ी बोली के शब्द भी प्रयोग किए गए हैं । इनके अनेक पद 'ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं । जपुजी, असा दी वार, रहिरास और सोहिला इनकी लोकप्रिय रचनाएँ हैं ।

नानकदेव परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पित होते हैं और औरों को भी यही सन्देश देते हैं कि संसार में रहकर किसी भी चीज का अहंकार मत करो –

या जग मित न देख्यो कोई ।
सकल जगत अपने सुख लाग्यो, दु :ख में संग न होई ॥
दारा-मीत, पूत सम्बन्धी सगरे धन सों लागे ।
जबहीं निरधन देख्यौ नरकों संग छाड़ि सब भागे ॥
कहा कहूँ या मन बौरे कौं, इन सों नेह लगाया ।
दीनानाथ सकल भय भंजन, जस ताको बिसराया ॥
स्वान-पूँछ ज्यों भयो न सूधो, बहुत जतन मैं कीन्हौ ।
नानक लाज बिरद की राखौ नाम तिहारो लीन्हौ ॥

इन मुख्य निर्गुण सन्तों के अलावा दादूदयाल, मलूकदास, सुन्दरदास, लालदास, रज्जब जैसे कई निर्गुणवादी सन्तों ने निर्गुण भक्ति की अजस्र धारा को निर्बाध रूप से प्रवाहित होने में सहायता की । परमात्मा के निर्गुण, निराकार रूप के प्रति आस्थावान इन सन्तकवियों ने अपने रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज, राज और धार्मिक व्यवस्था की विसंगतियों को दूर कर समाज में पूर्ण समन्वय स्थापित करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी । अपने सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण से इन कवियों ने समाज की विकृतियों को दूर किया । जाति-पाँति, छुआ-छूत, धार्मिक कट्टरता आदि के शमन का भी भरसक प्रयास इन सन्तों ने किया ।

4.1.4. पाठ-सार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय धर्म साधना की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है । निर्गुण सन्तों ने परम तत्त्व सम्बन्धी अद्वैतवादी और सर्वेश्वरवादी विचारधारा को मुख्यतः वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों से अर्जित किया । वेद प्रवर्तित इन भक्ति साधनाओं ने बौद्ध, सिद्ध, नाथ, जैन तथा अन्य परवर्ती सम्प्रदायों को प्रभावित किया । कुल मिलाकर बौद्धों की साधना पद्धति का भारतीय धर्म साधना पर गहरा प्रभाव पड़ा । कालान्तर में अनुभव और असन्तोष के कारण क्रमशः परिवर्तिन होते गए और वही धर्म साधनाएँ किञ्चित् परिवर्तनों के साथ नए आवरण में प्रस्तुत होती रहीं । धर्म साधनाओं के इन प्रभावों को सन्तों ने केवल ग्रहण ही नहीं किया, बल्कि उसे अपनी अनुभूतियों के सापेक्ष बनाकर उनमें व्यापक बदलाव भी किए । इन साधना पद्धतियों से भारतीय निर्गुण सन्तकवि भी प्रभावित हुए । प्रायः सभी का उद्देश्य परमात्मा को पाना था लेकिन उसे पाने के मार्ग अलग-अलग

थे। निर्गुण सन्तकवियों ने परब्रह्म को पाने के लिए निर्गुणवादी भक्ति साधना को अवश्य अपनाया परन्तु उपासना के लिए भक्ति की जो परिकल्पना की गई उसमें सगुण भक्ति ही समाविष्ट दिखाई देती है। कबीर, रैदास आदि सन्तों के चिन्तन में परमात्मा के सगुण स्वरूप की भी झलक मिल जाती है। सभी सन्तों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक एवं धार्मिक समन्वय का सन्देश दिया है।

4.1.5. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. बौद्धमत का एक उपसम्प्रदाय है –

(क) व्यवहारनय
(ख) मन्त्रयान
(ग) सर्वेश्वरवाद
(घ) नानक पंथ

2. सन्त नामदेव के गुरु थे –

(क) गुरु नानकदेव
(ख) स्वामी रामानन्द
(ग) सन्त कबीर
(घ) विसोबा खेचर

3. सन्त कबीर की पत्नी का नाम था –

(क) नीरू
(ख) नीमा
(ग) लोई
(घ) कमाली

4. गुरु नानकदेव द्वारा प्रवर्तित पंथ है –

(क) दादू पंथ
(ख) नानक पंथ
(ग) नरसी बमनी
(घ) अलौकिक जगत्

5. "मन चंगा तो कठौती में गंगा" प्रसिद्ध कथन है –

(क) सन्त कबीर का
(ख) गुरु नानकदेव का
(ग) रैदास का
(घ) मीराबाई का

लघूत्तरीय प्रश्न

1. जैनियों ने आत्मा के कौन-कौन से रूप बताए हैं ?
2. साधना का दूसरा मार्ग क्या है ?
3. वेदों में साधना के कौन-कौन से मार्ग बताए गए हैं ?
4. कर्मकाण्डीय धर्म साधना में अरुचि उत्पन्न हो जाने के बाद आदिगुरु शंकराचार्य ने क्या किया ?
5. राजयोग साधना में क्या किया जाता है ?

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. राजयोग साधना का परिचय दीजिए।
2. साधना का उद्देश्य बताते हुए वेदों में बताए गए साधना मार्ग की चर्चा कीजिए।
3. साधना के योगमार्ग पर प्रकाश डालिए।
4. निर्गुण सन्तकवि कबीर का परिचय दीजिए।
5. सन्तों की समन्वयवादिता की चर्चा कीजिए।

4.1.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. मध्यकालीन धर्म साधना, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
2. मध्ययुगीन सन्त और सूफी काव्य, डॉ॰ मुक्तेश्वरनाथ तिवारी
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
4. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी
5. मध्यकालीन हिन्दी सन्त और विचार साधना, डॉ॰ केशरीप्रसाद चौरसिया

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/

❖❖❖

खण्ड – 4 : हिन्दी निर्गुण-काव्य-परम्परा

इकाई – 2 : सन्तकवियों की सामाजिक चेतना

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देश्य
4.2.1. प्रस्तावना
4.2.2. भक्तिकाल : सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति
4.2.3. सन्त : अर्थ और परिभाषा
4.2.4. सन्त साहित्य की परम्परा और विकास
4.2.5. निर्गुण सन्त परम्परा : विचारधारा
4.2.6. प्रमुख सन्तकवियों की सामाजिक चेतना
  4.2.6.01. सन्त नामदेव की सामाजिक चेतना
  4.2.6.02. सन्त रामानन्द की सामाजिक चेतना
  4.2.6.03. कबीर की सामाजिक चेतना
  4.2.6.04. धन्ना की सामाजिक चेतना
  4.2.6.05. गुरु नानकदेव की सामाजिक चेतना
  4.2.6.06. मलूकदास की सामाजिक चेतना
  4.2.6.07. पीपा की सामाजिक चेतना
  4.2.6.08. सुन्दरदास की सामाजिक चेतना
  4.2.6.09. सन्त रैदास की सामाजिक चेतना
  4.2.6.10. सन्त दादूदयाल की सामाजिक चेतना
  4.2.6.11. सन्त धर्मदास की सामाजिक चेतना
4.2.7. पाठ-सार
4.2.8. बोध प्रश्न

4.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भक्तिकाल की सामाजिक स्थिति के बारे में बता पाएँगे।
ii. भारतीय सन्त परम्परा का परिचय प्रदान कर सकेंगे।
iii. निर्गुण सन्त परम्परा को व्याख्यायित कर सकेंगे।
iv. सन्तों की सामाजिक चेतना का परिचय दे सकेंगे।

4.2.1. प्रस्तावना

भक्तिकाल को हिन्दी का स्वर्णयुग स्वीकार किया गया है। भक्तिकालीन काव्य को कथ्य और शिल्प की दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भक्तिकाल में जहाँ सामाजिक-सांस्कृतिक तथा लौकिक-आध्यात्मिक महत्ता अक्षुण्ण है, वहीं यह युग भाषा, काव्यरूप, छन्द-विधान तथा काव्य शैली आदि की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी भक्तिकाव्य-परम्परा में प्रमुख रूप से दो प्रकार की भक्ति-परम्पराएँ प्रवाहित होती हैं – (i) निर्गुण भक्ति-परम्परा (ii) सगुण भक्ति-परम्परा।

हिन्दी सन्त-काव्य भक्तिकाल की मुख्य काव्यधारा है। सामाजिक चेतना की दृष्टि से सन्त काव्य की एक विशिष्ट पहचान है। सन्तकवियों ने सभी प्रकार की संकीर्णताओं, बाह्याचारों एवं रूढ़ियों का विरोध कर और मानवतावाद का सन्देश देकर सभी प्राणियों को एक समान धरातल पर प्रतिष्ठित करने का कार्य किया है। वस्तुतः निर्गुण मार्गी सन्त काव्य सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की उपज हैं, जिसमें ब्राह्मणों के पण्डित-पुरोहित वर्ग का वर्चस्व टूटता है और कविता में सामान्य जन की भागीदारी को विशेष स्थान प्राप्त होता है। सन्तकवियों ने मूलतः समाज के दलित-उपेक्षित एवं शोषित वर्ग की पीड़ा और उसकी आशाओं और आकांक्षाओं को पुष्पित एवं पल्लवित किया है।

4.2.2. भक्तिकाल : सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति

भारतीय समाज में विभिन्न जातियों और वर्णों का समावेश है जिससे समाज में एक साझी संस्कृति का विकास होता है। भक्तिकाल के आविर्भाव से बहुत पूर्व ही भारतीय समाज में सामन्तवादी समाज की आततायी मानसिकता के कारण सामाजिक संघर्ष की स्थिति बनी रहती थी। जाति-पाँति, छुआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना ने समाज को आन्तरिक रूप से जर्जर कर दिया था। मध्यकाल सांस्कृतिक टकराव का युग है। टकराव की स्थिति में स्पष्ट संकेत मिलता है कि प्रारम्भिक स्थिति में संघर्ष बहुत ही तीव्र होता है लेकिन कालान्तर में यह टकराव आपसी सामंजस्यों की अवधारणा को आत्मसात् कर लेता है। मध्यकालीन समाज में अमीर और गरीब में बहुत ही गहरी खाई थी। जहाँ एक ओर अमीर लोग अमीर होते जा रहे थे। वहीं दूसरी ओर निर्धन और निर्धन होने की ओर अग्रसर थे। निर्धन लोग जहाँ एक ओर अपने जीवनयापन के लिए सम्मानपूर्वक साधन जुटाने में लगातार अपने आप को असमर्थ पा रहे थे। मध्यकालीन समाज में ब्राह्मणों के आधिपत्य के कारण दलितों एवं पिछड़ों को हेय की दृष्टि से देखा जाता था। बहुसंख्य लोग भाग्यवादी थे इसलिए सामाजिक अन्याय को दैव-प्रेरित मानकर जी रहे थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय भी। पर्दा-प्रथा, सती प्रथा जैसी कुरीतियाँ महिमा मण्डित थीं, बहुविवाह का प्रचलन था। अमीर लोगों के अलावा नवाबों के निवासों में अनेक रानियाँ होती थी।

ऐसी विपरीत स्थितियों में सांस्कृतिक समन्वय का प्रयास समाज सुधारक सन्तों द्वारा हुआ। सन्तकवि मुल्ला और पण्डित दोनों की मानसिक संकीर्णताओं से ऊपर थे। इन्होंने मध्यममार्ग को अपनाते हुए सहज साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति पर बल दिया। इन सन्तों ने जहाँ एक ओर हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था, छूआ-छूत, भेद-भावना एवं

बाह्याचारों पर तीखा प्रहार किया वहीं साथ ही मुसलमानों के द्वारा हिंसा के साथ नमाज की प्रक्रिया की निरर्थकता को भी व्यर्थ सिद्ध किया। सन्तकवियों की यही निष्पक्षता दोनों धर्मों को निकट लाने में उपयोगी सिद्ध हुई।

4.2.3. सन्त : अर्थ और परिभाषा

सन्त शब्द का प्रयोग दो अर्थों में प्राप्त होता है – (i) सामान्य अथवा व्यापक अर्थ में (ii) रूढ़ अथवा संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थों में सन्त को पवित्र आत्मा, परोपकारी और सदाचारी के रूप में स्वीकार किया जाता है। 'हिन्दी शब्द सागर' में सन्त का अर्थ साधु, त्यागी, महात्मा, ईश्वर भक्त और धार्मिक पुरुष के रूप स्वीकार किया गया है। रूढ़ अथवा संकुचित अर्थ में सन्त का अभिप्राय परम सन्त या सज्जन व्यक्ति से लिया जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सन्त शब्द संस्कृत के 'सन' का बहुवचन है।

गोस्वामी तुलसीदास ने सन्तों की तुलना आम के फलदार वृक्ष से की है –

तुलसी सन्त सु अंतरू, फूल फलहिं पर हेत।
इत ते ये पाहन हनै, उत ते वे फल देत॥

किसी से बैर न रखना, परमात्मा से निष्काम प्रेम और विषयों से वैराग्य – सन्तों के मुख्य गुण हैं। कबीरदास का सन्त के विषय में मानना है –

निरबैरी निह कामना साँई सेती नेह।
विषया सूँ न्यारा रहै, सन्तन अंग रेह॥

और भी,

सन्त न छाँड़े संतई, कोटिक मिलै असन्त।
चन्दन भुवँगा बैठिया, तउ सीतलता न तजन्त॥

सन्त दूलनदास सन्तों को उपवन के पुष्प के समान स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार उपवन का पुष्प कोई भेद नहीं रखता और सर्वत्र सुगन्ध बिखेरता रहता है ठीक उसी प्रकार सन्त अपनी अमृतमयी वाणी का प्रयोग कर धरा-धाम पर सुख-शान्ति लाते हैं –

दूलन साधू सब एक हैं बाग फूल समहूल।
कोई कुदरती सुबास है और घूल्घूल के फूल॥

सन्त पलटूदास सन्त क्षेत्र को तीर्थों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

4.2.4. सन्त साहित्य की परम्परा और विकास

सन्त साहित्य भारतीय आध्यात्मिक चेतना का जीवन सार है। यह धार्मिक एवं सामाजिक परम्परा के समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण है। सिद्ध एवं नाथपंथी योगियों की विचारधाराओं से उत्पन्न सन्त सम्प्रदाय ने भारतीय समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। इस परिवर्तन ने जनमानस को धार्मिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर किया। यह परिवर्तन मानवीय कल्याण की भावना से परिपूर्ण था। भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में यह एक बड़ा आन्दोलन था।

मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप धार्मिक एवं सामाजिक रूप से भारतीय जनमानस हताश एवं निराश था। इस परिस्थिति में भारतीय जनमानस को जोश और धैर्य प्रदान करने में सन्त साहित्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। मध्ययुगीन चिन्तन प्रक्रिया में सिद्धों, नाथों और शैवों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनकी कृतियाँ आध्यात्मिक अनुभूतियों का भण्डार हैं। सन्त साहित्य का सीधा सम्बन्ध सिद्धों और नाथ-पंथियों की उपासना पद्धति से है।

भारतीय सन्त परम्परा प्राचीन है। आदिस्रोत महाभारत और श्रीमद्भगवद्गीता में सन्त के लक्षणों का प्रतिपादन हुआ है। सत्य के पक्षपाती सन्त अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर जनमानस का मार्गदर्शन करने में रत रहे हैं। सन्तों ने आततायी शक्तियों का प्रतिकार सदाचरण, अनुभव ज्ञान और योगबल के माध्यम से किया। छल-कपट, माया, तृष्णा, नारी के कामिनी रूप, तीर्थ-व्रत, मांसाहार, मूर्तिपूजा आदि का खण्डन तथा गुरु भक्ति, साधु-संगत, दया, क्षमा, सन्तोष आदि की महत्ता प्रतिपादित करते हुए सन्तों ने आध्यात्मिक साधना की एक नई परम्परा का प्रवर्त्तन किया।

सन् 1200 से 1550 ई. तक के कालखण्ड में बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ आदि सम्प्रदायों से कुछ सन्दर्भ स्वीकार कर परम्परागत रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और अनुष्ठानों को तोड़कर सर्वप्रथम जिन सन्तों ने भारतीय जीवन में कुछ परिवर्तन करना चाहा, उन सन्तों को प्रारम्भिक युग के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है जिसमें जयदेव, साधना, वेणी, त्रिलोचन, ज्ञानेश्वर, नामदेव, रामानन्द, कबीर, पीपा, रैदास, सेना, कमाल, राघवानन्द आदि प्रमुख हैं। इस युग का प्रमुख पंथ कबीरपंथ है।

सन् 1550 से 1700 तक के समय में सामाजिक चेतना के स्वर सर्वाधिक प्रभावी रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इस युग के प्रमुख सन्त हैं – जंभनाथ, गुरुनानक, शेख फरीद, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, सींगाजी, मीथनजी, रामदास, धर्मदास, दादूदयाल, गुरु अर्जुनदेव, हरिदास आदि।

सन् 1700 से 1850 ई. तक के कालखण्ड की सन्त परम्परा को उत्तर मध्यकालीन सन्त परम्परा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस युग के प्रमुख सन्त हैं – बाबा लाल, तरसीदास, रज्जब, सुन्दरदास, यारी साहब, धरणीदास, गुरु गोविन्द सिंह, बुल्ले शाह, जगजीवनदास, बाना मीनाराम, तुलसी साहब, साधु निखलदास, सालिग राम, शिवदयाल, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, श्रीनारायण गुरु आदि।

4.2.5. निर्गुण सन्त परम्परा : विचारधारा

हिन्दी साहित्य की निर्गुण भक्ति-धारा में सन्त परम्परा का स्थान अद्वितीय है। वे निर्गुणवादी कवि जिन्होंने साधनात्मक, सुधारात्मक और जनकल्याणपरक काव्य की रचना की, सन्तकवि कहलाए। इन सन्तों से पूर्व जितने आचार्य हुए उनके द्वारा प्रवर्तित उपासना पद्धति में और साधना क्षेत्र में सगुण भक्ति-भाव की प्रधानता थी किन्तु सन्तों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया और हृदयस्थ परमात्मा के चिन्तन को प्रमुखता दी। वह निर्गुण ब्रह्म अज्ञात है, साथ-ही-साथ सर्वव्यापी भी है।

निर्गुण ब्रह्म विषयक विचारधारा के प्रवर्त्तन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मानना है कि निर्गुण सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अन्तर्गत एशिया का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय था, जिसके संस्थापक दक्षिण भारत के योगी बोधिधर्म थे। इस सम्प्रदाय का जन्म भगवान बुद्ध की बोधि से हुआ माना जाता है और चीन, जापान, कोरिया आदि में भी इसका प्रचार हुआ। वहीं कुछ विद्वानों का मानना है कि इसका आरम्भ भारतीय अद्वैतवाद और सिद्ध-नाथ सम्प्रदायों से हुआ है। जो भी हो, यह सर्वमान्य है कि सन्तकवियों ने यथोचित समय पर भारतीय जनमानस को उपासना का समुचित मार्ग दिखाया। सन्तों द्वारा प्रवर्तित निर्गुण ब्रह्म सगुण-निर्गुण से परे, अवर्णनीय तथा अगोचर है। कबीर का मानना है कि –

निर्गुण की सेवा करो, सगुण को धरो ध्यान।
निर्गुण सगुण से परे, तहाँ हमारो ध्यान॥

डॉ॰ रामकुमार वर्मा का मानना है कि "निराकर भगवान से सम्बन्ध जोड़ने में उपासना ही प्रधान साधन है। इस प्रेम के स्थान पर श्रद्धा और भय ही अधिक रहता है। यम नियम की बड़ी कठोर साधना है, पर सन्तों में भक्ति का विशेष महत्त्व है।" भक्त जब शुद्ध और पवित्र हृदय होता है तब ही उसमें उपासना का भाव उपस्थित होता है। सन्तों की साधना में भक्ति और ज्ञान का योग अविच्छिन्न रूप से हुआ है।

4.2.6. प्रमुख सन्तकवियों की सामाजिक चेतना

मानव चेतना समाज की ज्ञानात्मक चेतना है। सामाजिक चेतना का सम्बन्ध मानव चेतना के सामाजिक पहलुओं से है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य समाज में जीवनयापन करते हुए यह अनुभव कर लेता है कि समाज में स्वस्थ जीवन कैसे व्यतीत किया जा सकता है। सामाजिक कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ और भ्रष्ट परम्पराएँ तथा विसंगतियाँ जब मानव आधिकारों पर अपना प्रभाव दिखाती हैं तो विकास में प्रतिरोध का अनुभव होता है। इन सामाजिक विसंगतियों के प्रति जागरूक होना ही सामाजिक चेतना है। सन्तकवियों ने समाज में व्याप्त ऊँच-नीच एवं जाति-पाँति का प्रखर विरोध किया है। तत्कालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था अपने चरम पर थी। ये दोनों ही व्यवस्थाएँ मानवीय कर्मों पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित थीं। इस व्यवस्था के कारण कभी भी सामाजिक ऐक्य और विकास नहीं हो सका। निर्गुण सन्तों ने समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा, मूर्ति पूजा, जीव हिंसा, पाखण्ड आदि सामाजिक कुरीतियाँ को अत्यन्त क्षोभ से देखा। वे इन

असमानताओं और कुरीतियों को समूल नष्ट कर देना चाहते थे। वैदिक युग से ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को आन्तरिक रूप से कमजोर बना दिया था। इस व्यवस्था ने बहुतायत जन को उनके सामान्य अधिकारों से वंचित कर रखा था तथा निम्न समझी जाने वाली जातियों को पशुओं से भी हेय और घृणित जीवन निर्वाह हेतु विवश कर दिया था। निर्गुण सन्तों ने इस प्रवृत्ति को समाप्त करने का बीड़ा उठाया और पुरजोर विरोध किया। इस सम्बन्ध में डॉ॰ जयकिशन प्रकाश खण्डेलवाल का मानना है कि – "सन्तों ने जाति-पाँति के भेदभाव एवं ऊँच-नीच को समाप्त करके तथा कथित निम्न जातियों को कथित उच्च- जातियों के अमानुषिक अत्याचार से बचाकर उनमें आत्मबल का संचार किया। सन्तों की दूसरी देन हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रयास है जो तत्कालीन परिस्थितियों के परिक्षेत्र में अपना महत्त्व रखता है।" इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन और न्याय के लिए सन्तकवियों ने अव्यवस्था का विरोध किया है। सामाजिक समरसता की स्थापना के लिए सन्तकवियों ने सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, परम्पराओं, कर्मकाण्डों, बाह्याडम्बरों आदि का विरोध किया। इस प्रकार सन्तों ने भारतीय जनमानस को जाग्रत् करने का प्रयास किया जिससे भटके हुए समाज में मानवता, ऐक्य, समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, न्याय आदि की स्थापना की जा सके।

4.2.6.01. सन्त नामदेव की सामाजिक चेतना

नामदेव महाराष्ट्र के यशस्वी सन्तकवि के रूप में विख्यात है। इनके बारे में किंवदन्ती है कि बाल्यकाल में भगवान विट्ठल की मूर्ति को दूध पीने के लिए बाध्य करते समय इनका ईश्वर से साक्षात्कार हुआ। मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं में सन्त नामदेव के भजन उपलब्ध हैं। श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में इनके लगभग साठ भजन संगृहीत हैं। प्रो॰ देश पाण्डेय के शब्दों में "सन्त नामदेव ने उत्तर भारत में भक्ति मार्ग का प्रचार कर के हिन्दू समाज को जाति भेद की संकीर्णता, बहुदेवोपासना का सच्चा अर्थ धर्माडम्बर और अनावश्यक आचार-विचार के सम्बन्ध में जाग्रत् किया है। वे यथार्थ में सच्चे लोक शिक्षक थे। उन्होंने सन्त कबीर, गुरु नानक जैसे परवर्ती सन्तों का मार्ग प्रशस्त करने में कुछ न उठा रखा। सचमुच वे उत्तर भारत के सांस्कृतिक एवं धार्मिक जागरण के आद्य प्रणेता थे। सन्त नामदेव का व्यक्तित्व जितना पवित्र, भावुक और महान् था, उतनी ही उनकी साहित्य रचना भी महान् थी।"

नामदेव ने अपने उपास्य को कई नामों से सम्बोधित किया है। इन नामों में विट्ठल और राम प्रमुख हैं। उनके राम निर्गुण, निराकार और अव्यक्त हैं। सभी जीव उनसे उत्पन्न होते हैं और सभी में उनका निवास है –

जामै सकल जीव की उतपति, सकल जीव मैं आज जी।
माया मोह करि जगह भुलाया, घटि-घटि व्यापक बाप जी॥

नामदेव ने प्राणियों पर माया के व्यापक प्रभाव को व्याख्यायित किया है। उनका मानना है कि माया व्यक्ति को ब्रह्म से दूर रखती है। वासना-विषयों में लिप्त होने पर इस माया के प्रभाव से प्राणी को अपना समस्त

गँवाना पड़ता है। दुनिया के बाजार में सौदा करने के लिए जीव को माया ही लाती है और उसके भुलावे में पढ़कर व्यक्ति अपने आप को भूल जाता है –

राम देव तेरी दासी माया, माया का पट कीन्हां।
थावर जंगम गीत लये हैं, आपा पर नहीं चिह्नां॥

नामदेव मूर्ति पूजा के विरोधी हैं। उत्तर भारत में मूर्तियों को खण्डित होते, मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित होते देख इन्हें देव प्रतिमाओं और देवालयों से विरक्ति हो गई। उनका मानना है कि –

एकै पाथर कीजै भाउ, दूजे पाथर धरिऐ पाऊ।
जे ओहु देउ तऊ ओहु भी देखा, कहि नामदेव हम हरि की सेवा॥

नामदेव ने जातिवाद और सम्प्रदायवाद का कड़े शब्दों में विरोध किया। उन्होंने महाराष्ट्र तथा उत्तर भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के पाखण्डों और धर्मान्धता को नजदीक से देखा था, हीन जाति में उत्पन्न होने के कारण कट्टरपंथी ब्राह्मणों की उपेक्षा और घृणा का दंश सहा था । उन्हें मन्दिर में कीर्तन करने से रोक दिया गया था। हीनता-बोध से उबरने के लिए उन्होंने भक्ति के वे प्रतिमान स्थापित किए जो सहस्त्रों वर्षों से आज भी उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं –

दीन हीन जात मोरी पंढरी के राया।
ऐसा तुमने नामा दरजी काया कु बनाया॥
पूज करते ब्राह्मण उनौ ने बाहेर ठकाया॥

4.2.6.02. सन्त रामानन्द की सामाजिक चेतना

भक्ति-आन्दोलन के महान् सन्त स्वामी रामानन्द के जन्म-समय और स्थान के बारे में बहुत स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। रामानन्द उत्तर भारत के व्याप्त भक्ति-भावना के पथ-प्रदर्शक के रूप में है। उत्तर भारत में आज जो भी भक्ति-भावना दिखलाई पड़ती है उसमें कहीं-न-कहीं सन्त रामानन्द का बड़ा योगदान दिखलाई पड़ता है। सन्त रामानन्द स्वाधीन-चेता सहृदय व्यक्ति थे जो किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय एक व्यापक दृष्टिकोण का उपयोग करते थे। किसी बात को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लेने पर उसे व्यवहार में लाने का प्रयत्न पूरी निर्भीकता से किया करते थे।

सन्त रामानन्द के चरित्र-बल व असाधारण व्यक्तित्व के कारण समकालीन हिन्दू समाज इनसे प्रभावित हो उठा और सर्वत्र एक विशिष्ट क्रान्ति का संचार होने लगा। इन्होंने रामभक्ति-धारा को समाज के निचले तबके के लोगों तक पहुँचाया। रामानन्द पहले ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने पूरे उत्तर भारत को भक्तिमय बनाया। उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार करने का श्रेय रामानन्द को ही जाता है। इनके बारे में प्रसिद्ध है – "भक्ति द्राविड़ उपजी लाये रामानन्द।"

सन्त रामानन्द ने तत्कालीन समाज में व्याप्त छुआ-छूत, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, भेदभाव आदि कुरीतियों का विरोध किया। इन्होंने सर्वप्रथम रामभक्ति का द्वार सबके लिए सुलभ कर दिया। इनका मानना था कि – "सभी मनुष्य ईश्वर की सन्तान हैं, न कोई ऊँचा है और न ही कोई नीचा, मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है। सबसे प्रेम करो, सबके अधिकार समान हैं। इन्होंने उत्तर भारत और दक्षिण भारत की भक्ति-परम्पराओं में समन्वय स्थापित किया। लगभग 500 से अधिक शिष्य परम्परा वाले सन्त रामानन्द समाज में फैली ऊँच-नीच, छुआ-छूत, जाति-पाँति की भावनाओं को दूर करने के लिए दृढ़ संकल्पित थे। उनका मानना था कि समाज में यदि इस प्रकार की कुरीतियाँ रहेंगी तो स्वस्थ समाज का विकास नहीं हो पाएगा।

सन्त रामानन्द ने भक्ति के एक नए दर्शन और मार्ग का प्रवर्त्तन किया जिसे अधिक उदार और समतामूलक बनाया गया। सन्त रामानन्द ने रामभक्ति के माध्यम से एक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया तथा समन्वय की भावना पैदा करने का एक सफल और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने सामाजिक आडम्बरों और विषमताओं में जकड़े समाज का सही दिशा में मार्गदर्शन किया। तत्कालीन भारतीय जनमानस किंकर्तव्यविमूढ़ मनःस्थिति में था ऐसे विकट समय में सन्त रामानन्द की समन्वयवादी विचारधारा ने उसे औषधीय शक्ति प्रदान की। यह सुधार सन्त रामानन्द के असाधारण व्यक्तित्व के कारण ही सम्भव हुआ।

मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए सहिष्णुता, सहानुभूति, दया, परहित की महती आवश्यकता होती है। सन्त रामानन्द ने अपने जीवन में दूसरों के कष्ट को स्वीकार किया, उनका जीवन जनता के उद्‌बोधन में ही व्यतीत हुआ है। रामानन्द ने मानव मात्र के कल्याण के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। लोकमंगल की स्थापना इनका परम आदर्श था। सत्य, आनन्द और सुन्दर की श्रीवृद्धि ही सब सन्तों का परम लक्ष्य रहा है। रामानन्द का मानना है कि आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर बनाए रखने के लिए मानव-मानव में पारस्परिक एकता और समता की आवश्यकता है। इस ऐक्य दर्शन के आधार पर ही समाज में वास्तविक सदाचार और व्यापक मानवीयता का बोध होता है। सन्तों ने व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ही मानवीय अस्तित्व और उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। छल-कपट, दम्भ आदि का नाश कर मनुष्यता और शाश्वत शान्ति का निर्माण करना स्वामी रामानन्द का अभीष्ट रहा है। उन्होंने सत्य को ही सौन्दर्य के रूप में स्वीकार किया है। उनकी वाणियों में चिरंतन सत्य ही निहित है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सत्य को समुचित रूप में स्वीकार करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है इसलिए मन, वाणी और कर्म से सत्य का पालन आवश्यक है।

4.2.6.03. कबीर की सामाजिक चेतना

भक्तिकालीन निर्गुण धारा के सन्तकवि कबीर ने नाथ पंथ के हठयोग साधना में 'भक्ति-भावना' का समावेश कर उसकी नीरसता को सरसता में परिवर्तित कर दिया। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। इनके जन्म को लेकर समाज में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब समाज अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रसित था। छुआ-छूत, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, मिथ्याचार और पाखण्ड का बोलबाला था और हिन्दू-मुसलमान आपस में झगड़ते रहते थे। तत्कालीन समाज में धार्मिक पाखण्ड अपनी चरम सीमा पर था। धर्म के ठेकेदार अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए धार्मिक कट्टरता और संकीर्णता को बनाए रखने का पुरजोर प्रयास में थे। उनके इस प्रयास से सामाजिक सन्तुलन अस्थिर हो रहा था, जिससे कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का बोलबाला दिनों-दिन बढ़ रहा था। ऐसी परिस्थितियों में समाज को ऐसे समाज सुधारक की आवश्यकता थी जो व्याप्त कुरीतियों एवं बुराइयों पर निर्भीकता से प्रहार कर सके, बिना भेदभाव के फटकार सके और सदाचरण का उपदेश देकर सामाजिक समरसता को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल हो। मध्यकालीन सन्त कबीरदास ने समाज सुधार का स्तुत्य प्रयास किया और सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने में महती भूमिका का निर्वहन किया।

(i) सामाजिक एकता का प्रतिपादन –

कबीर चाहते थे कि हिन्दू-मुसलमान प्रेम एवं भ्रातृत्व की भावना से सामंजस्य बनाकर रहें। उन्होंने सामाजिक ऐक्य स्थापित करने का प्रयास करते हुए कहा कि – "ईश्वर दो नहीं हो सकता, यह लोगों का भ्रम है जो खुदा को परमात्मा से अलग स्वीकार करते हैं –

दुई जगदीस कहाँ ते आया। कहु कौने भरमाया।

कबीर ने मूर्ति पूजा का खण्डन किया। उन्होंने एकेश्वरवाद को मान्यता दी और अवतारवाद का विरोध किया –

दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना॥

(ii) जाति-प्रथा का खण्डन –

कबीर सन्त और कवि बाद में हैं पहले वह समाज सुधारक हैं। कबीर की कविता का उद्देश्य यही है कि जनता को उपदेश दिया जाए। भारतीय जन-मानस को सामाजिक विसंगतियों से अवगत कराने और उसे उचित-अनुचित का भान कराने का प्रयास उनकी कविता में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कबीर ने अनुचित का निर्भीकता से खण्डन किया। अनुभूतिजन्य सच्चाई और अभिव्यक्ति की ईमानदारी कबीर की सबसे बड़ी विशेषता है। जाति प्रथा, छुआ-छूत एवं ऊँच-नीच की भावना पर प्रहार करते हुए कबीर कहते हैं कि जन्म के आधार पर कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। ऊँचा वह जिसके कर्म अच्छे हैं –

ऊँचे कुल का जनमिया करनी ऊँच न होय।
सुबरन कलस सुरा भरा साधू निन्दन सोय॥

जाति प्रथा पर करारा प्रहार करते हुए कबीर का कथन है कि क्या ब्राह्मण की नसों में दूध का संचार होता है और शूद्रों में नहीं ?

हमारे कैसे लहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम कैसे बामन पाण्डे, हम कैसे सूद ॥

(iii) मूर्ति-पूजा का विरोध –

कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी हैं। जनमानस को समझाते हुए वे कहते हैं कि मूर्ति-पूजा से भगवान् नहीं मिलते –

पाहन पूजैं हरि मिलैं तौ मैं पूजूँ पहार।
वा ते वो चाकी भली, पीस खाय संसार ॥

(iv) जीव हिंसा का विरोध –

तत्कालीन समाज में धर्म के नाम पर जीव हिंसा की जाती थी। जीव हिंसा के विरोधी कबीर ने शाक्तों और मुसलमानों को निर्भीकता से फटकारा। उन्होंने कहा कि दिन में रोजा रखने वाले रात में गाय काटते हैं, इस कार्य से भला खुदा कैसे प्रसन्न होगा !

दिन को रोजा रहत है, राति हनत है गाय।
यहां खून वै वंदगी क्यों कर खुशी खोदाय ॥

और भी,

बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात है वाको कौन हवाल ॥

(v) पाखण्ड का खण्डन –

कबीर घट ही व्याप्त परमात्मा से साक्षात्कार के समर्थक हैं। धर्म के नाम पर तीर्थाटन, छापा, तिलक, रोजा, नमाज, अजान आदि को वे व्यर्थ मानते हैं। उनका मानना है कि वस्त्र, टीका धारण करने और माला फेरने से ईश्वर प्रसन्न नहीं होता है। मन की शुद्धि से ही उसे प्रसन्न किया जा सकता है –

माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर ॥

कबीरदासजी सामाजिक कुरीतियों के प्रखर आलोचक हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि हिन्दू और मुस्लिम दोनों को अभी तक सही मार्ग नहीं प्राप्त हुआ है –

अरे इन दोहुन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पाईन-तर सौवे यह देखो हिन्दु आई।
मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करें सगाई।
बाहर से एक मुर्दा लाये ढोय-धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिली जेंवन बैठी घर-बीएचआर करें बड़ाई।
हिंदुन की हिंदुवाई देखीतुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कौन राह ह्वै जाई।

कबीर ने भारतीय जनमानस के वैमनस्य को दूर कर समता स्थापित करने का प्रयास किया। परोपकार, सेवा, क्षमा, करुणा, दान, धैर्य, अहिंसा, सत्संग आदि का प्रचार करके वे शुद्ध आचरण के साथ ही साहित्यिकता पर बल देते हैं। हिन्दू मुस्लिम के बीच समन्वय पर बल देते हैं तथा समाज में भ्रातृत्व को उत्पन्न कर ढोंग और अन्धविश्वास को समाप्त करना चाहते हैं। नैतिक मूल्यों के पक्षधर सन्त कबीर ने सच्चे पथ-प्रदर्शक के रूप में आचरण की पवित्रता का जो मार्ग जन के लिए उचित बताया, उस पर स्वयं अनवरत चलकर दिखाया। वर्तमान समय में भी कबीर का सामाजिक चिन्तन प्रासंगिक है।

4.2.6.04. धन्ना की सामाजिक चेतना

दुनिया में समय-समय पर ऐसे सन्त समाज-सुधारक तथा आध्यात्मिक गुरुओं का आविर्भाव हुआ है जिन्होंने भटके हुए जनमानस को सन्मार्ग दिखाया और जनसमुदाय के मध्य चेतना के नए आयाम प्रस्तुत किए। जाट सम्प्रदाय का मानवर्द्धन करने वाले सन्त धन्ना का आगमन भारतीय समाज में उस समय हुआ जब भारतीय समाज सांस्कृतिक और धार्मिक रूप से उलझन में था। जब देश में धर्म परिवर्तन की लहर न केवल लोगों में अनास्था पैदा कर रही थी, अपितु विधर्मियों के प्रति कटुता और घृणा का भाव भी बढ़ा रही थी। प्रथम जाट सन्तकवि के रूप में चर्चित धन्ना का काव्य सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अमूल्य है। धन्ना ने अपने काव्य से भारतीय समाज में व्याप्त जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाकर समस्त मानव समुदाय को आपस में मिल-जुल कर रहने का उपदेश दिया –

जोति समाय समाने जाकै अछली प्रभु पहिचान्या।
धान्नै धान पाया धारणीधार मिलि जनसंत समान्या॥

धन्ना की वाणी में सहजता है। उन्होंने जन में आत्मसम्मान, समता तथा मानवतावाद का सन्देश दिया। तत्कालीन समाज में लूट-खसोट, गरीबी-भुखमरी और बीमारियों का बड़ा आतंक था, समाज में झाड़-फूँक और

तन्त्र-मन्त्र करने वालों का आधिपत्य बना हुआ था। सन्त धन्ना ने अपने काव्य के माध्यम से इसका विरोध किया। समाज सुधारक सन्त धन्ना ऊँच-नीच, धनी-निर्धन एवं जातिगत भेदभाव को मिटाने के लिए सतत संघर्षरत रहे। साम्यवादी व्यवस्था के पैरोकार सन्त धन्ना ने सहज-सरल भाषा में अपने अनुभूत सत्यों को व्यक्त किया है। इनके सत्य वचनों का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

4.2.6.05. गुरु नानकदेव की सामाजिक चेतना

सिक्खमत के प्रवर्त्तक गुरु नानकदेव अपने समय के महान् समाज सुधारक, चिन्तक एवं सन्त परम्परा के उत्कृष्ट कवि थे। उनका जन्म सन् 1469 ई. में तलवंडी नामक गाँव (वर्तमान 'ननकाना साहब' जिला लाहौर, पाकिस्तान) में हुआ। नानक ने एक ऐसे विकट समय में जन्म लिया जब भारत में कोई केन्द्रीय शक्ति संगठित नहीं थी। विदेशी आक्रमणकारियों से त्रस्त भारतीय जनता धर्म के नाम पर अन्धविश्वास और आडम्बरों में उलझी हुई थी। ऐसे विपरीत समय में नानक एक महान् दार्शनिक और विचारक के रूप में अवतरित हुए। उदार प्रकृति के नानक सामंजस्यवादी और सहिष्णुता के समर्थक थे। नानक ने लगभग सभी दिशाओं में यात्राएँ कीं। इन यात्राओं के दौरान उनकी मेल-मुलाकात विभिन्न मतावलम्बी साधु-सन्तों से हुई जिसने उनके व्यावहारिक ज्ञान एवं चिन्तन प्रक्रिया को समृद्ध किया। नानक के काव्य में निर्गुण ब्रह्म के प्रति गहन आस्था का भाव दिखलाई पड़ता है –

राम सुमरि, राम सुमरि, एही तेरो काज है॥
माया कौ संग त्याग, हरिजू की सरन लाग।
जगत सुख मान मिथ्या, झूठौ सब साजहै॥
सुपने ज्यों धन पिछान, काहे पर करत मान।
बारु की भीत तैसें, बसुधा कौ राज है॥
नानक जन कहत बात, बिनसि जैहै तेरो गात।
छिन छिन करि गयौ काल्ह तैसे जात आज है॥

नानक ने अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से धार्मिक रूढ़ीवाद, आडम्बरों और जाति के संकीर्ण बन्धनों का विरोध किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि "जिन वाणियों से मनुष्य के अंदर इतना बड़ा अपराजेय, आत्मबल और कभी न समाप्त होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते हैं, यह नानक वाणियों ने स्पष्ट कर दिया।"

4.2.6.06. मलूकदास की सामाजिक चेतना

ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास रखने वाले सन्त मलूकदास इलाहाबाद (उत्तरप्रदेश) के रहने वाले थे। उनका मानना था कि वह परमपिता ईश्वर ही जगत् का पालनहार है। जगत् में लोकोक्ति के रूप में प्रसिद्ध उनका कथन है –

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सब के दाता राम ॥

पिता सुन्दरदास खत्री के घर में पैदा हुए मलूकदास ने अत्यन्त सरल जनभाषा में उपदेश कर हिन्दू और मुसलमानों दोनों धर्मावलम्बियों को अपने पंथ में शामिल किया। इनके काव्य में अरबी और फारसी शब्दों की बहुलता है। अन्य सन्तों के समान इनकी वाणी में भी बोलचाल की खड़ी बोली का सम्मिश्रण पाया जाता है। हृदय के कोमल मलूकदास के काव्य में कुशल कवियों-सा पदविन्यास और कवित्त आदि छन्दों का सहज समावेश है। मलूकदास की अनेक रचनाएँ मिलती हैं। इनके प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है – ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, भक्तिविवेक, ज्ञानपरोछि, बारहखड़ी, राम अवतार लीला, ब्रजलीला, ध्रुवचरित, विभयविभूति, सुखसागर, विविध शब्द संग्रह, पद संग्रह तथा पदावली। इनमें ज्ञानबोध, रतनखान, ज्ञानपरोछि, विभयविभूति में ज्ञानयोग की बातें है। इनकी भाषा अवधी है। भक्तिविवेक और सुखसागर में कवि ने कथानकों के आधार पर दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। राम अवतार लीला, ब्रजलीला, ध्रुवचरित में अवतारों एवं चरित्रों का वर्णन है। भक्तवच्छावली, बारहखड़ी स्फुट पदों में कवि ने उपदेश व नीति की बातें कही हैं। इनके काव्य में शृंगार व शान्त दोनों रस प्रधान रूप से विद्यमान हैं। ज्ञानबोध इनकी उल्लेखनीय कृति है। मलूकदासी पंथ के प्रवर्त्तक मलूकदास माया की सत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं कि – "ब्रह्म तो एक ही है जो सर्वव्यापी तथा अनन्त है, परन्तु माया के प्रभाव के कारण उसका प्रकाशवान रूप दिखायी नहीं देता है। उनके अनुसार वह ब्रह्म संसार के अणु-अणु में समाया है।" मलूकदास ब्रह्म और गुरु को एक समान सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते हैं। गुरु के स्थान को महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहते कि जो तुम इतने बड़ेसन्त हुए हो वो किसके उपदेश से हुए हो –

कौन मिलावै जोगिया हो, जोगिया बिन रह्यो न जाय ॥
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं पिउ पीव।
जो जोगिया नहिं मिलिहै हो, तो तुरत निकासूँ जीव ॥
गुरुजी अहेरी मैं हिरनी, गुरु मारें प्रेम का बान।
जेहि लागै सोई जानई हो, और दरद नहिं जान ॥
कहै मलूक सुनु जोगिनी रे, तनहि में मनहिं समाय।
तेरे प्रेम की कारने जोगी सहज मिला मोहिं आय ॥

4.2.6.07. पीपा की सामाजिक चेतना

राजघराने से सम्बन्ध रखने वाले सन्त पीपा रामानन्द के शिष्य परम्परा में आते हैं। सन्त पीपा के जन्म समय को लेकर विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। पीपा के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रचलित है कि ये रामानन्द के शिष्य न होकर क्रान्तिकारी समाज सुधारक कबीर के शिष्य हैं। परशुराम चतुर्वेदी की पुस्तक 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में डॉ॰ फर्कुहर ने पीपा का जन्म सन् 1925 माना है किन्तु कनिंघम ने गागरौनराज की वंशावली के आधार पर इनका समय सन् 1360 से लेकर सन् 1383 के मध्य बताया है। उपर्युक्त समय सत्य प्रतीत नहीं होता है क्योंकि पीपा की दो रचनाओं से यही प्रतीत होता है कि ये कबीर साहब के बहुत बड़े प्रशंसक थे और उन्हें गुरुतुल्य और

मार्ग प्रदर्शक भी मानते हैं। उच्च वर्ग में जन्मे सन्त पीपा जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआ-छूत के विरोधी थे। इनका काव्य-संग्रह श्री पीपाजी की बानी शीर्षक से प्रकाशित है।

सन्त पीपा के काव्य में कबीर, रैदास, गुरु नानक, नामदेव इत्यादि सन्तों का प्रभाव परिलक्षित होता है। पीपा के हृदय में भक्तिभावना का बीज बाल्यावस्था में ही अंकुरित हो उठा था। पीपा की भाषा-शैली अन्य समकालीन कवियों से कहीं ज्यादा सहज, सरल और स्पष्ट है। इनके पदों में लालित्य की अभिव्यंजना है। पीपा का मत है – मानव शरीर के ही भीतर अपना इष्टदेव, देवालय तथा सारे चर जीव है। उसी में धूप एवं नैवेद्य है और उसी में कुलपूजन की सामग्रियाँ भी हैं। काया के ही भीतर खोज करने पर नवों निधियाँ राम की कृपा से बिना कहीं आए-गए ही प्राप्त हो सकती है। जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है, वह सभी पिण्ड में भी वर्तमान है और जो कोई खोजता है, वह उन्हें उपलब्ध भी कर सकता है। पीपा परमतत्त्व को प्रणाम करता है और निवेदन करता है कि उक्त वस्तु को कोई सद्गुरु ही लखा सकता है। उस हृदयस्थ ब्रह्म को नाना विधान कर बाहर ढूँढना व्यर्थ उपक्रम है –

कायउ देवा काइअउ देवल काइअउ जंगम जाती ॥
काइअउ धूप दीप नईबेदा काइअउ पूजउ पाती ॥
काइआ बहु खंड खोजते नव निधि पाई ॥
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दु हाई ॥
जो ब्रहमंडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै ॥
पीपा प्रणवै परम ततु है सतिगुरु होइ लखावै ॥

4.2.6.08. सुन्दरदास की सामाजिक चेतना

बहुभाषाओं के जानकार सुन्दरदास का जन्म द्यौसा (जयपुर) नामक स्थान पर संवत् 1653 में हुआ था। काव्य प्रतिभा के धनी सुन्दरदास ने बाल्यावस्था से ही गुरु का सान्निध्य प्राप्त किया। 6 वर्ष की अवस्था में सन्तकवि दादूदयाल ने सुन्दरदास को अपना शिष्य बनाया। उनकी शिक्षा आध्यात्मिक नगरी काशी में सम्पन्न हुई। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रखर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सुन्दरदास के व्यक्तित्व का चित्रण इन शब्दों में किया है – "इनका डीलडौल बहुत अच्छा, रंग गोरा और रूप बहुत सुन्दर था। स्वभाव अत्यन्त कोमल और मृदुल था। ये बाल ब्रह्मचारी थे और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे। निर्गुण पंथियों में यही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञान चर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बड़े सुन्दर पद कहे हैं। इनकी रचना काव्य पद्धति के अनुसार होने के कारण और सन्तों की रचना से भिन्न दिखाई पड़ती है। सन्त तो ये थे ही पर कवि भी थे।"

सुन्दरदास ने समाज के रीति-नीति पर बड़ी बारीकी से लेखनी चलाई है। इनके काव्य में मनोरंजन का पुट भी देखने को मिलता है। गुर्जर प्रदेश पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए कहते हैं –

आभड़छीत अतीत सों होत बिलार और कूकर चाटत हाड़ी।

मारवाड़ पर लिखते हैं –

वृच्छ न नीरन उत्तम चीर सुदेसन में गत देस है 'मारु'।

दक्षिणवासियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं –

राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करै सब भच्छन।

पूरब के निवासियों के लिए कहते हैं –

ब्राह्मन, क्षत्रीय, वैसरु सूदर चोराड़ वर्न के मच्छय बघारत।

सुन्दरदास समाज के प्रत्येक अंग-उपांगों को ध्यान में रखकर कविताई करते हैं जिससे उनका काव्य सोद्देश्य और साभिप्राय सिद्ध होता है। वे पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली स्त्रियों का सुन्दर चित्रण करते हैं जो समाज को संस्काय्युक्त करती हैं और सभ्यता तथा संस्कृति को सुदृढ़ करती तथा देश को आचार-विचार से विस्तृत करती है। स्त्रियाँ यदि पथभ्रष्ट हों तो समाज रसातल में पहुँच जाएगा। पातिव्रत धर्म का उल्लेख करते हुए सुन्दर कहते हैं–

पति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रात है।
पति ही यज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूँ मिटे सोग, पति ही को जात है।
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुण्य दान,
पति ही है तीर्थ, न्हान, पति ही को मत।
पति बिनु पति नाहिं, पति बेनु गति नाहि,
सुंदर सकल विधि एक पतिव्रत है।

4.2.6.09. सन्त रैदास की सामाजिक चेतना

साहित्यकार समाज से अलग न होकर उसी का एक अभिन्न अंग होता है वह समाज में घटित होने वाले तत्कालीन परिस्थितियों से अवगत होता है। इस कारण उसका चिन्तन किसी-न-किसी रूप में अपने युग और परिस्थितियों का परिणाम होता है। साहित्यकार अपने युग की सीमाओं को न लाँघकर उन परिस्थितियों और परिवेश का सामना करता है जिससे वह स्वयं प्रभावित होता है। भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी (वाराणसी) में जन्मे सन्त रैदास भी अपने समय की परिस्थितियों और परिवेश से प्रभावित थे। अपने समय की सामाजिक विसंगतियों का चित्रण सन्त रैदास के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। सन्त रैदास का अवतरण उस युग में हुआ

हुआ जबकि भारत धार्मिक अशान्ति और आंतरिक कलह से जूझ रहा था। समाज का सम्पन्न वर्ग धर्म के नाम पर सामान्य जन को लूट रहा था। मिथ्याडम्बरों, रूढ़ीगत परम्पराओं, मूर्तिपूजा, जप-तप, तीर्थाटन आदि कुसंगतियों का बोल-बाला था। सामान्य जन पर दोहरी मार का प्रभाव पड़ रहा था। एक ओर तो अपने ही देश के पण्डित, मुल्ला-मौलवी धर्म के नाम पर ठग रहे थे तो दूसरी ओर विदेशी आक्रमणकारी भी भारत भूमि पर क़ाबिज़ होना प्रारम्भ हो चुके थे। इन सब से भयभीत होकर जनसामान्य अपनी रक्षा और बचाव के लिए दर-दर भटक रही थी। सन्त रैदास ने तत्कालीन समाज की परिस्थितियों को क्षोभ से देखा और उन परिस्थितियों को समझकर लोकवाणी में तत्कालीन परिस्थितियों की समस्याओं का एक व्यावहारिक समाधान निकाला। सन्त रैदास भक्त होने के साथ ही सच्चे समाज-सुधारक थे। इन्होंने तत्कालीन युग में प्रचलित सभी साधना-पद्धतियों एवं विचारों का समन्वय कर युग को एक ऐसी समेकित भक्ति पद्धति सुलभ करवायी जिसमें प्रत्येक विचारधारा का लाभकारी स्वरूप समाविष्ट था। सन्त रैदास की साधनापद्धति में व्यावहारिक पक्ष के साथ ही सामाजिक पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

भक्ति के नाम पर जप-तप करना और तीर्थ यात्राओं को सन्त रैदास तर्कसंगत नहीं मानते हैं। उसके विरोध में उनका मानना है कि हज, नमाज, तीर्थ यात्रा, विभिन्न प्रकार के रूपों (जैसे मूड़ मूड़ाना, टीका लगाना) को धारण करना सब व्यर्थ प्रलोभन हैं। इन्होंने आत्मा का निवास स्थान ब्रह्म में ही माना है। इनका मानना है कि जब तक आत्मा ब्रह्म में नहीं मिल जाती है तब तक वह उदासीन रहती है। उस ब्रह्म ही बाह्य अनुभूति दुर्लभ है, परम ब्रह्म मनुष्य से बाहर न होकर उसकी अन्तरात्मा में ही विद्यमान है। उसको देखा नहीं जा सकता परन्तु मनुष्य अपने सच्चे हृदय से उसको अनुभव कर सकता है। बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए रैदास कहते हैं –

ऐसी भगति न होइ रे भाई।
रांम नांम बिन जे कुछ करिये, सो सब भरम कहाई॥ टेक॥
भगति न रस दांन, भगति न कथै ग्यांन, भगत न बन मैं गुफा खुँदाई।
भगति न ऐसी हासि, भगति न आसा पासि, भगति न यहु सब कुल कानि गँवाई॥1॥
भगति न इंद्री बाधें, भगति न जोग साधें, भगति न अहार घटायें, ए सब क्रम कहाई।
भगति न निद्रा साधें, भगति न बैराग साधें, भगति नहीं यहु सब बेद बड़ाई॥2॥
भगति न मूंड़ मुड़ायें, भगति न माला दिखायें, भगत न चरन धुवांयें, ए सब गुनी जन कहाई।
भगति न तौ लौं जांनीं, जौ लौं आप कूँ आप बखांनीं, जोई जोई करै सोई क्रम चढ़ाई॥3॥
आपौ गयौ तब भगति पाई, ऐसी है भगति भाई,
राम मिल्यौ आपौ गुण खोयौ, रिधि सिधि सबै जु गँवाई।
कहै रैदास छूटी ले आसा पास, तब हरि ताही के पास, आतमां स्थिर तब सब निधि पाई॥4॥

रैदास ने बाह्याडम्बरों का विरोध ही नहीं किया अपितु उनके स्थान पर सच्ची आराधना का पंथ भी प्रकाशित किया। मनुष्य को बाह्याडम्बरों में न फँसते हुए परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए कौन-कौन से प्रयास करने आवश्यक हैं, इससे जनसामान्य को परिचित करवाया –

मनसा मन्दिर धूप छुपाइये, प्रेम प्रीति की माल चढ़ाइये।
चहुँ दिसि दिवला वर रहे, जगमग है रह्यो रे।
जोति-जोति सम जोति, ज्योति में हिलमिल है रह्यो रे।

रैदास जाति व्यवस्था से खिन्न थे इसलिए सामाजिक व्यवस्था पर वे घोर क्षोभ और दु:ख प्रकट करते हैं –

जात जात में जात है, ज्यों केलन के पात।
रविदास मनुख ना जुर सके, सब लग जात न जात॥

रैदास के अनुसार परम तत्त्व एक है। उसकी दृष्टि में किसी प्रकार का भेद-भाव एवं ऊँच-नीच नहीं है। ठीक उसी प्रकार समस्त मानव जाति एक है, उसमें रूप एवं रंगगत आधार पर भेद करना उचित नहीं है। जाति के आधार पर भेद करना कुण्ठित मनुष्यों की मनोवृत्ति है –

ब्राह्मण, वैश्य, शुद्र और क्षत्रिय। कोम चंडाल मलेछ मन सोए॥
होए पुनीत भगवंत भजन ते। आप तरे तारे कुल दोए।
पण्डित सूर छत्रपति राजा। भक्त बराबर और न कोए॥
जैसे पुरैन पात रहै, जल समीप। भनि रविदास जनमें जग ओए॥

रैदासजी ऐसी व्यवस्था को समाज में लाना चाहते थे, जिसमें ऊँच-नीच, धनी, निर्धन एवं जाति-पात के आधार पर कोई भेद न हो इनकी वाणी हमेशा जनसामान्य को समानता का भाव मिलता है। जन मानस के साथ हमेशा सामान्य स्थिति को स्थापित करना चाहते हैं –

पराधीन पाप है जान लेहू रे मीत।
रैदास पराधीन सों कौन करे है प्रीत।
ऐसो चाहौ राज मैं, जहाँ मिलै सबन को अन्न।
छोट-बड़ौ, सम-सम वसै, रैदास रहै प्रसन्न॥

लोक कल्याण की भावना एवं समता रूपी समाज की स्थापना के लिए सन्त रैदास कर्म को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इन्होंने कर्म को ही ईश्वर के रूप में स्वीकार किया है और माना है कि कर्ममय जीवन ही व्यक्ति को इस संसार में सुखी रख सकता है –

श्रम को ईसुर जान के, जो पूजे दिन रेन,
रविदास तिन्हे संसार में, सदा मिले सुख-चैन।

सन्तकवियों पर सदैव यह आरोप लगता रहा है कि उन्होंने नारी के प्रति संकुचित दृष्टिकोण को अपनाया है जबकि किसी भी सन्त के काव्य में नारी को हेय और अपमान की दृष्टि से नहीं देखा गया। नारी के सतीत्व एवं पवित्रता की प्रशंसा लगभग सभी सन्तों ने की है यद्यपि नारी के कमनीय रूप की निन्दा अवश्य की है। इस विषय में रैदास का मत है –

नृप नारी क्यों निंदियै क्यों हेरि चेरी कौ माना।
ओह मांगु संवारै विषै को औहु सुमिरै हरिनाम॥

रैदास महान् सन्त एवं समाज सुधारक थे। इन्होंने अपने काव्य में उन बिन्दुओं को विशेष महत्त्व दिया है जिसमें सामाजिक कल्याण निहित है। कर्मकाण्ड के विरोध के साथ ही वे अवतारवाद और पुनर्जन्म को भी अस्वीकार करते हैं –

नाना खिआन पुरान वेदिवधि चउतीस अक्षरनाही।
बिआस विचारि कहिओ परमारथु राम नाम सरिनाही॥

4.2.6.10. सन्त दादू दयाल की सामाजिक चेतना

सन्तकवि दादूदयाल का जन्म अहमदाबाद (गुर्जर प्रदेश) में फाल्गुन सदी 2 बृहस्पति वार सं. 1601 (सन् 1544) में हुआ था। निम्न वर्ण मे जन्मे दादू का हृदय राममय था। इनका जीवनकाल बावन वर्ष बताया गया है। अपनी इस सीमित आयु में ही दादूदयाल ने सीधी-सरल भाषा के माध्यम से मध्यममार्ग का प्रचार-प्रसार कर लोक प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। अपने इष्ट के प्रति दादू की अनन्य आस्था है। वे कहते हैं – एकमात्र राम ही हमारे धन, वृत्ति वा वृत्तिदाता हैं और उन्हीं के कृपा के सहारे हम अपने सारे परिवार का पालन पोषण करने में सफल हो रहे हैं –

दादू रोजी राम है, राजिक रिजक हमार।
दादू उस परसाद सौं, पोष्या सब परिवार॥

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में परशुराम चतुर्वेदी ने दादूदयाल के लिए लिखा है – "इनके जीवनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना वह समझी जाती है जब इनकी अपने गुरु से भेंट हुई थी और जिन्होंने इनके जीवन में आमूल परिवर्तन ला दिया था।" लोकप्रसिद्ध है कि उस समय ये केवल 11 वर्ष के थे और अन्य बालकों के साथ खेल रहे थे। किसी समय इनसे अचानक एक बूढ़े साधु ने आकर भिक्षा माँगी और इनके तद्नुसार भीख दे देने के अनन्तर पान खाकर इनके मुख में अपनी पीक डाल दी। उस समय इस बात का इन पर प्रायः कुछ प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु जब ये अठ्ठारह वर्ष के हो गए तब उसी वृद्ध साधु ने इन्हें फिर से दूसरी बार भी दर्शन दिए और इनका कायापलट हो गया। दादूदयाल अपने पैतृक व्यवसाय में इतने व्यस्त थे कि इन्होंने अपने द्वार पर खड़े हुए उक्त साधु के अस्तित्व का भान तक भी नहीं हुआ। उस समय इनके मकान के बाहर वर्षा की झड़ी लगी हुई थी और सब कहीं अन्य प्रकार से शान्ति का ही अनुभव हो रहा था। नवयुवक दादूदयाल ने जब यों ही अपना सिर उठाया और उसे अपने सामने उस साधु की सौम्य मूर्ति यकायक दीख पड़ी, तब वह कुछ स्तब्ध-सा हो गया और संकोच भाव के साथ उसने अपने अतिथि को भीतर बैठ जाने का अनुरोध किया। साधू दादूदयाल के दिए हुए आसन पर बैठ गए किन्तु उनके नेत्रों से अश्रु-प्रवाह चलता हुआ दीख पड़ा। जब दादूदयाल इसका कारण पूछा, तब साधू ने बतलाया कि मैं तुम्हारे द्वार पर केवल कुछ ही समय तक खड़ा रहा और तुम्हें हमारे स्वागत के लिए इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करनी पड़ी, किन्तु भगवान् हमारे जीवन प्रदेश की छोर पर न जाने कितने युग-युगान्तर से हमारी प्रतीक्षा में

खड़े विद्यमान हैं और हमारी दृष्टि तक उनकी ओर नहीं जाती। नवयुवक के हृदय पर इन शब्दों ने विद्युत की भाँति प्रभाव डाला और वह उस वृद्ध साधु के चरणों पर गिरकर उनका शिष्य बन गया। शिष्यत्व धारण करने के बाद दादूदयाल का हृदय समाजोन्मुख हुआ।

निर्गुण सन्तकवियों ने परब्रह्म को ही एक मात्र परम पुरुष माना है। पुरुष और नारी को विस्तार का प्रतीक माना गया है। सभी भक्त चाहे वे पुरुष हों अथवा स्त्री, आत्मा रूप में वे उस एकमात्र परम पुरुष परमात्मा की स्त्रियाँ ही हैं। परमात्मा से आत्मा का सम्बन्ध वर्णित करते हुए दादू कहते हैं –

दादू पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जे जे जैसी ताहि सौं, खेलें तिस ही रंग॥

सभी सन्तों ने नारी के कामजनित वासनात्मक स्वरूप को घृणास्पद ओर गर्हित बताया है। उन्होंने काम वासना को घृणित और त्याज्य बताया और पुरुष एवं नारी दोनों को ही एक दूसरे के लिए अकल्याणकारी और बन्धनस्वरूप माना है। दादूदयाल कहते हैं –

नारी वैरणि पुरुष की, पुरुषा वैरी नारि।
अनन्त काल दु न्यूपचि मुए कछू न आया हाथ॥

दादू के समय का भारतीय जनमानस धार्मिक दृष्टि से दिग्भ्रमित था। पण्डित, मुल्ला और शासक वर्ग अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु उन्हें और भी अधिक उलझाने वाले विधानों में धकेल रहे थे। दादू ने उन पण्डित-मुल्लाओं का विरोध किया है जो पर-उपदेश में कुशल हैं किन्तु स्वयं कभी उनका पालन नहीं करते। ग्रन्थों को पढ़ते हैं परन्तु उनके सार को ग्रहण नहीं करते। कथनी और करनी में भेद रखने वालों को लक्ष्य कर दादूदयाल एक कहते हैं –

दादू कथनी औरकुछ, करणी करें कछु और।
तिन थें मेरा जीव डरै, जिनके ठीक न ठौर॥

सन्त दादूदयाल ने अपने काव्य में उन उपदेशों को विशेष महत्त्व दिया जिससे समाज का कल्याण हो। इन्होंने अपने काव्य में समाज और समाज से जुड़ी प्रत्येक अवधारणा और विचारों का गहराई से अनुभव किया और भ्रामक परिस्थितियों से समाज को बाहर निकालने के लिए अथक प्रयास भी किया।

4.2.6.11. सन्त धर्मदास की सामाजिक चेतना

भारतीय सन्त परम्परा में समय-समय पर अनेक लोकोपकारी सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी परम्परा के एक प्रमुख सन्त धरमदास (धनी धर्मदास) हैं जिन्हें कबीर पंथ में कबीर के बाद महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सत्य, अहिंसा, न्याय, भ्रातृत्व तथा मानवतावाद का प्रचार और प्रसार करने वाले सन्त धर्मदास ने कबीर का शिष्यत्व

ग्रहण किया था। जाति से वैश्य (बनिया) धर्मदास बाँधवगढ़ के रहने वाले थे। बाल्यावस्था से ही धर्मदास के हृदय में भक्ति का बीज अंकुरित होने लगा था। सन्तकवि धर्मदास दर्शन, पूजा, तीर्थाटन के साथ ही साधुओं का सत्संग भी करते थे जिसकी वजह से उनके काव्य में सामाजिक द्वन्द्व नहीं दिखाई देता है। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। कबीर उस समय अपनी क्रान्तिकारी विचारों के कारण चरमोत्कर्ष पर थे। कबीर मुख से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन आदि का खण्डन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण' सन्तमत की ओर हुआ। प्रभावस्वरूप ये कबीर से सत्यनाम की दीक्षा लेकर उनके शिष्य हो गए। संवत् 1575 में कबीरदास के परलोक वासी होने पर कबीरपंथ की गद्दी इन्हीं को मिली। कहते हैं, कबीरदास के शिष्य होने के पश्चात् इन्होंने अपनी अथाह सम्पत्ति लुटा दी। ये कबीरपंथ की गद्दी पर लगभग 20 वर्ष तक विराजित रहे। धर्मदास स्वभाव से जितने सहज, सरल और कोमल हैं, इनके पद भी उतने ही सरल भाव और भाषा में अभिव्यक्त हुए हैं। वहाँ कबीर सदृश कठोरता और कर्कशता नहीं है। कबीर की अपेक्षा इन्होंने अत्यन्त थोड़े पद लिखे जिनमें पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया गया है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंजक चित्र अत्यन्त मार्मिक हैं। 'खण्डन-मण्डन' से विशेष प्रयोजन न रख इन्होंने प्रेमतत्त्व का ही प्रचार-प्रसार किया है –

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजली चमकै, लहरि उठै शोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय।
खुली केवरिया, मिटी अन्धियरिया, धानि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

और भी,

मितऊ मड़ैया सूनि कर गैलो
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुऔ न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं वन वन ढूँढौ, हमरा के बिरह बैराग दै गैलो।
सँग की सखी सब पार उतरि गइलीं, हम धानि ठाढ़ि अकेली रहि गैलो
धरमदास यह अरजु करतु ह्वै, सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

सन्त धरमदास द्वारा रचित ग्रन्थों में अधिकांश संवाद शैली की रचनाएँ हैं जिनमें इनका कबीर साहब के साथ संवाद अथवा प्रश्नोत्तर हुआ है। इनकी कई फुटकर बानियों का एक संग्रह 'धनी धरमधास की बानी' नाम से बेलवीडियर प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित है। सन्त धरमदास सगुणोपासक भक्त हैं अपने गुरु कबीर साहब के प्रति इनकी प्रगाढ़ भक्ति एवं श्रद्धा प्रकट होती है। कबीर साहब वहाँ इनके इष्ट देव से प्रतीत होते हैं और उन्हें ये अपने स्वामी अथवा पति रूप में आर्तभाव के साथ स्वीकार करते हैं। इसके द्वारा प्रदर्शित भावों में हृदय की सच्चाई लक्षित होती है। इनका अपनी अन्तःसाधना का वर्णन भी बहुत सरल है।

4.2.7. पाठ-सार

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल को विद्वानों ने स्वर्ण-युग कहा है। साहित्य के इस स्वर्ण युग में सन्त-साहित्य को अत्यन्त विशिष्ट स्थान प्राप्त है। सन्तों ने अपने परिवर्तनकारी विचारों से शोषित और पीड़ित जनता को प्रभावित कर उसकी खोई हुई अस्मिता को जाग्रत् करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सन्त साहित्य की सामाजिक चेतना और विचारधारा आज विश्वभर में प्रासांगिक है। वस्तुतः सन्त वह है जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में कर और अहंकार का परित्याग कर जनसामान्य के लिए अपना समस्त जीवन समर्पित कर दिया हो। सन्त शब्द का तात्पर्य शान्त भी है अर्थात् जिसने अपनी सभी इच्छाओं को शान्त कर लिया हो।

सन्त ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को स्वीकार करते हैं तथा उसे इस सम्पूर्ण चराचर जगत् एवं प्राणिमात्र के हृदय में स्थित मानते हैं। निर्गुण ब्रह्म के प्रति उनकी यह भक्ति केवल आत्मोद्धार के लिए नहीं अपितु मानवमात्र की मुक्ति के लिए है। इन सन्तों ने मध्यकालीन समाज में व्याप्त अव्यवस्थाओं और बाह्याडम्बरों के निवारणार्थ प्रयास किए और मानव धर्म को ही श्रेष्ठ धर्म के रूप में स्वीकार किया है।

4.2.8. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सन्त शब्द को परिभाषित कीजिए।
2. भक्तिकाल की सामाजिक स्थिति का परिचय दीजिए।
3. सन्त परम्परा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
4. सन्तों द्वारा मूर्ति पूजाका विरोध किस प्रकार किया गया ?
5. सन्त धन्ना की सामाजिक चेतना पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "सन्त कबीर की सामाजिक चेतना" विषय पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।
2. सन्त रैदास की सामाजिक चेतना को विस्तारपूर्वक व्याख्यायित कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/

❖❖❖

खण्ड – 4 : हिन्दी निर्गुण-काव्य-परम्परा

इकाई – 3 : सूफी काव्य का वैचारिक आधार, हिन्दी के प्रमुख सूफी कवि और उनका काव्य

इकाई की रूपरेखा

4.3.0 उद्देश्य
4.3.1 प्रस्तावना
4.3.2 सूफी काव्य
4.3.3 सूफी काव्य का वैचारिक आधार
  4.3.3.1 वैचारिक आधार
    4.3.3.1.1 एकेश्वरवाद
    4.3.3.1.2 प्रेम की पीर की महत्ता
    4.3.3.1.3 शैतान का अस्तित्व
    4.3.3.1.4 सृष्टि तत्त्व
    4.3.3.1.5 जीव
    4.3.3.1.6 'अन-अल-हक्क' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ
    4.3.3.1.7 साधना के सोपान
  4.3.3.2 अन्य आधार
    4.3.3.2.01 प्रबन्ध कल्पना
    4.3.3.2.02 भाव-उत्कर्ष
    4.3.3.2.03 चरित्र-चित्रण
    4.3.3.2.04 सृजनात्मकता
    4.3.3.2.05 हिन्दू जीवन का चित्रण
    4.3.3.2.06 नारी-भावना
    4.3.3.2.07 शृंगार-रस प्रधान काव्य
    4.3.3.2.08 प्रतीक-पद्धति
    4.3.3.2.09 विविध प्रभाव
    4.3.3.2.10 काव्य-प्रकार
    4.3.3.2.11 भाषा-शैली
4.3.4 हिन्दी के प्रमुख सूफी कवि औरउनका काव्य
  4.3.4.1 असाइत
  4.3.4.2 मुल्ला दाउद
  4.3.4.3 दामोदर कवि
  4.3.4.4 ईश्वरदास
  4.3.4.5 कुतुबन
  4.3.4.6 मलिक मुहम्मद जायसी
  4.3.4.7 मंझन

4.3.4.8 उसमान
4.3.4.9 नूर मुहम्मद
4.3.5 पाठ-सार
4.3.6 बोध प्रश्न

4.3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सूफी काव्य और सूफी काव्य के वैचारिक आधार से परिचित हो सकेंगे।
ii. विभिन्न सिद्धान्तों/तत्त्वों/पक्षों चर्चा कर सकेंगे।
iii. सूफी काव्य की प्रवृत्तियों और उनके वैशिष्ट्य बता सकेंगे।
iv. सूफी काव्य में अभिव्यंजित प्रेम की व्याख्या कर सकेंगे।
v. सूफी कवि एवं उनके काव्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप हिन्दी निर्गुण-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत सन्तकवियों की सामाजिक चेतना का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई के अन्तर्गत आप निर्गुण-काव्य-परम्परा की दूसरी प्रेममार्गी धारा के विषय में पढ़ेंगे। निर्गुण सन्तकवियों के साथ ही उस युग में एक दूसरी काव्यधारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से अभिहित किया गया है। सूफी कवियों द्वारा रचित काव्य की मूल चेतना प्रेम रही है। सूफी प्रेम कथा काव्यों में यह प्रेम सूफीमत की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा पर आधारित है। जिसका विस्तृत वर्णन 'सूफी काव्य का वैचारिक आधार' शीर्षक के अन्तर्गत किया जाएगा। सूफी कवियों ने उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया। ये कवि विदेशी होते हुए भी भारतीय मानस से जुड़े रहे। सूफी कवि और उनका काव्य इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इस धारा के कवि दो संस्कृतियों को मिलाकर एक अद्वैत कायम करने में सफल हुए हैं। इस धारा के प्रमुख कवि कुतुबन जायसी उसमान, मंझन और नूर मुहम्मद प्रमुख हैं।

4.3.2 सूफी काव्य

हिन्दी निर्गुण-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत दो धाराएँ आती हैं। एक ज्ञानाश्रयी धारा और दूसरी शुद्ध प्रेममार्गी धारा। सूफी काव्य को प्रेमकथा काव्य, प्रेमाख्यान काव्य, प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, रोमांसिक काव्य आदि नामों से जाना जाता है। इस परम्परा के काव्यों को देखने से ज्ञान होता है कि इनको लिखने वाले कवि 'कथा' एवं 'प्रेमकथा' शब्द का प्रयोग कर रहे थे। जायसी ने अपनी रचना 'पद्मावत' को 'प्रेमकथा' ही कहा है –

प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु। बूझ लेउ जो बूझे पारउ॥

इसी तरह दाउद, मंझन, शेख उसमान, नूर मुहम्मद ने अपनी कृतियों चन्दायन, मधुमालती, चित्रावली, अनुराग बाँसुरी को प्रेम कथा ही कहा है। इस काव्य-परम्परा की कुछ रचनाओं के नामकरण में ही 'कथा' शब्द जोड़ा गया है। जैसे – लखमणसेन पद्मावती कथा, सत्यवती कथा आदि। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस धारा के कवियों का उद्देश्य प्रेमकथा काव्य लिखना था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी प्रेममार्ग की बात करते हुए लिखते हैं – "दूसरी शाखा शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियों की है जिनकी प्रेमगाथाएँ वास्तव में साहित्यक कोटि के भीतर आती हैं। इस शाखा के सब कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेममार्ग का महत्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलाने वाला है। ... पर 'प्रेम की पीर' की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है।" (द्रष्टव्य; शुक्ल, रामचन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; संशोधित एवं परिवर्धित बाईसवाँ संस्करण; सं. 2045; पृष्ठ-50)

सूफी मत में 'प्रेम' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। प्रेम ही सब कुछ है। क्या कर्म, क्या धर्म दोनों ही प्रेम हैं। मानो सूफीमत तो प्रेमाधार पर ही आधारित है। तात्पर्य यह है कि प्रेम ही सूफीमत का प्राण है, जिसके नशे में ईश्वर की अनुभूति होती है। इस प्रेम के नशे में परमात्मा के सिवाय नहीं दिखाई देता है। जिसने इस प्रेम क्षेत्र में प्रवेश किया तो वहाँ से लौटने की इच्छा तो होती नहीं। इसी कारण मीरा को 'प्रेम दीवानी' होना पड़ा।

कहने का आशय यह है कि प्रेमकथा काव्यों में यह प्रेम सूफीमत की दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा से अनुप्राणित है। सूफी कवियों ने इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) के माध्यम से 'इश्के हकीकी' (आध्यात्मिक प्रेम) की गूढ़ व्यंजना की है।

4.3.3 सूफी काव्य का वैचारिक आधार

4.3.3.1 वैचारिक आधार

सूफी काव्य के विषय में जानने के पश्चात् सूफी काव्य के वैचारिक आधार अथवा मत से परिचित होना भी आवश्यक है। निर्गुण ज्ञानाश्रयी सन्तों ने तो हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया था, परन्तु सूफी कवियों ने सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। सूफी लोग ईश्वर को अपना प्रेमपात्र मानते थे। उनकी धारणा थी कि आत्मा एवं परमात्मा का मिलन इसलिए सम्भव नहीं हो पाता है क्योंकि बीच में शैतान बाधा उत्पन्न करता है। सूफी काव्य में गुरु का बहुत बड़ा महत्त्व है। सच्चा गुरु मानवीय आत्मा का परमात्मा से मिलन करा सकता है, किन्तु वह तभी सम्भव है जबकि शैतान अर्थात् बाधक तत्त्व दोनों के बीच में दीवार बनकर न खड़ा हो। सूफी कवियों ने जिन कहानियों को अपने काव्य का विषय बनाया है, उनमें हिन्दुओं के घरों की प्रेम कहानियाँ ही हैं। उनका प्रेम अलौकिक है, वह लौकिक भूमि से आरम्भ होकर अलौकिक शिखरों तक चला गया है। सूफी काव्य का वैचारिक आधार जिन तत्त्वों पर निर्धारित है, वे इस प्रकार हैं –

4.3.3.1.1 एकेश्वरवाद

सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है, उसका एक नाम है। आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा तो अपने आपको ईश्वर के सामने एक भक्त के रूप में प्रस्तुत करती है और भक्त प्रेम के सहारे ईश्वर तक पहुँचने का प्रयास करता है। इस प्रयास में उसे चार सोपानों को पार करना पड़ता है। प्रायः सभी सूफी कवि धर्म-साधना की चार अवस्थाओं – शरीअत, तरीकत, मारीफत और हकीकत का उल्लेख करते हैं। जायसी पद्मावत के कड़वक 41 में कहते हैं –

चारि बसेरे मौं चढै सत सौं उतरे पार।

इसी प्रकार उसमान कवि चित्रावली के कड़वक 204 में कहते हैं –

जो कोई जान नहीं बिचारा। बीचहिं मारि लेहिं बटमारा।

सूफियों ने यह मत व्यक्त किया है कि ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता है, वही अलख और अनादि है तथा वह सर्वशक्तिमान भी है। ईश्वर को सूफियों ने अजन्मा, अविनाशी और सर्वव्यापी और अवर्णनीय बतलाया है। सूफी यह भी मानते हैं कि जीवन ब्रह्ममय है और संसार नश्वर है।

4.3.3.1.2 प्रेम की पीर की महत्ता

सूफी विचारधारा के अनुसार प्रेम की पीर का विशेष महत्त्व है। सूफी सन्तों ने प्रेम को ही ईश्वर प्राप्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन माना है। यही कारण है कि सूफी काव्य में प्रेमगाथाएँ हैं और नारी और नायिका ब्रह्म का प्रतीक बनकर आई है। सूफियों का प्रेम निःस्वार्थ है।

सूफीमत में प्रेम एक मादक तत्त्व के समान माना जाता है जिसकी खुमारी भी साधना का महत्त्वपूर्ण अंश है। इसी मादकता की खुमारी में सूफी साधक खुदा के नूर को उसकी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में सफल होता है। मिलन की स्थिति में उसे संसार की स्मृति नहीं रहती, देह का किंचिन्मात्र ध्यान नहीं रहता है। कहने का आशय यह है कि सूफियों की सम्पूर्ण साधना प्रेम पर आश्रित है। उन्होंने ईश्वर को प्रियतम माना उसके लिए वह अमूर्त होता हुआ भी मूर्तिमान सौन्दर्य है, अतः सूफी लोग प्रेम के मादक नशे में डूबकर ही परमात्मा का ध्यान लगाते थे।

4.3.3.1.3 शैतान का अस्तित्व

सूफी मतानुसार साधक और ईश्वर के मिलन में शैतान या माया को बाधक तत्त्व मानते हैं। परन्तु वे माया के स्थान पर शैतान शब्द का प्रयोग करते हैं। सूफी स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि शैतान साधक को उसके सच्चे मार्ग से विचलित कर देता है। शंकर मतानुसार 'माया' आत्मा और परमात्मा के मिलन में बाधक है। जायसी-कृत पद्मावत में रतनसेन जो पद्मावती रुपी ब्रह्म को पाने की इच्छा रखता है, राघव-चेतन शैतान के प्रभाव से विचलित

होने लगता है। राघव-चेतन शैतान का ही रूप है। केवल गुरु-कृपा से ही इस शैतान से मुक्ति पाई जा सकती है। इसलिए सूफी मत में पीर बड़ा सम्मान किया जाता है।

4.3.3.1.4 सृष्टि तत्त्व

सृष्टि तत्त्व पर भी सूफियों ने विचार किया है। इनके अनुसार सृष्टि का उपादान कारण 'रूह' है। रूह का अर्थ अलौकिक शक्ति से लिया गया है। इन्सान की रूह का शरीर से जो सम्बन्ध है, वही रूह का सृष्टि से है। ईश्वर ने पहले पहल अपनी सत्ता को रूह का रूप प्रदान किया था, जिससे सृष्टि, फरिश्तों आदि की उत्पत्ति हुई है। कहने का आशय यह है कि परमेश्वर ने सर्वप्रथम अपने नाम के आलोक से नूर-ए-मुहम्मदिया अर्थात् मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की और वही आदिभूत बना। सूफी मानते हैं कि सृष्टि के सभी उपकरण अल्लाह के अंग-प्रत्यंगों की ही झलक है अर्थात् नूर सम्बन्धी उपादान कारण से पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि नाम से चार तत्त्वों की सृष्टि हुई।

4.3.3.1.5 जीव

सूफियों ने वेदान्तियों की तरह जीव को ही ब्रह्म माना है। आदमी अल्लाह का प्रतिरूप है। अतः मूल रूप से जीव और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। सूफी कवियों ने अपने नायक, साधक जीव के रूप में चित्रित किए हैं जो परमसत्ता (नायिका) को पाने हेतु वैरागी बनकर, कष्ट झेलते हुए संघर्ष का मार्ग पार करके उसे पाने में सफल होते हैं। उनमें प्रेम की पीर की गहराई है। जायसी ने रतनसेन को मंसूर की तरह सूली पर चढ़ते दिखाया है–

जस मारइ महँ बाजा तूरू। सूरी देख हंसा मंसूरू॥
चमके दसन भएउ उजियारा। जो जहाँ तहाँ बीजु अस मारा॥

(पद्मावत, कड़वक 207)

सूली पर चढ़ा हुआ रतनसेन पदमावती का नाम जपता है। मंझन ने भी मंसूर को सूली पर चढ़ाने की घटना का संकेत दिया है–

धरै गोइ हिय प्रेम कै पूरी। को दै भेद जगत चढ़ै सूरी॥

(मधुमालती, कड़वक 454)

4.3.3.1.6 'अन-अल-हक्क' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ

सूफियों की मान्यता थी अल्लाह और इन्सान एक ही तत्त्व से निर्मित हुए हैं। कुछ सूफी यह मानते हैं कि परमसत्ता में जीव का पूरी तरह लोप हो जाता है। कुछ यह मानते हैं कि यह लोप आंशिक रूप से होता है। सूफी कवियों की साधना यह रही है कि वे 'अन-अल-हक्क' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' को स्वयं अनुभव कर सकें। इसके लिए साधना की आवश्यकता पड़ती है और यह साधना विरह भावना के सम्भव नहीं। ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ

भक्त की प्रधान सम्पत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता, किसी की आँख नहीं खुल सकती। विरह के विषय में रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं – "जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं।" (द्रष्टव्य – शुक्ल, रामचन्द्र ; संशोधित एवं परिवर्धित बाईसवाँ संस्करण; सं. 2045; हिन्दी साहित्य का इतिहास; वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा; पृष्ठ- 68) विरह के विषय में प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है – "विरह में कितना उल्लास, कितनी शान्ति और कितना बल है जो कभी एकान्त में बैठकर किसी की स्मृति में किसी के वियोग में सिसक-सिसक कर और बिलख-बिलख कर नहीं रोया, वह जीवन के ऐसे सुख से वंचित है जिस पर सैकड़ों मुस्कानें न्योछावर है। उस मीठी वेदना का आनन्द उन्हीं से पूछो जिन्होंने यह सौभाग्य प्राप्त किया है। हँसी के बाद मन खिन्न हो जाता है, आत्मा क्षुब्ध हो जाती है, मानो हम थक गए हों, पराभूत हो गए हों परन्तु विरह में कदम के पश्चात् एक नवीन स्फूर्ति एक नवीन जीवन, एक नवीन उत्साह का अनुभव होता है कि मानो दिल का भारी बोझ हल्का हो गया हो।

सूफी विचार के अन्तर्गत प्रेम ही भक्ति का साधन है। यह प्रेम नितान्त लौकिक है, किन्तु सूफी इस सांसरिक प्रेम को इतना उदात्त एवं दिव्य बना देते हैं कि वह अलौकिक प्रेम में बदल जाता है। ईश्वर के प्रेम में आकण्ठ डूबा और विरह में रत होकर सूफी संसार से अलग हो जाताहै। प्रेम के द्वारा ईश्वर या सत्य का आभास करके वे उन्माद की दशा में पहुँचते हैं और ईश्वर में एकाकार हो जाते हैं।

4.3.3.1.7 साधना के सोपान

सूफी मत के अन्तर्गत साधना के सात सोपान माने गए हैं – अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दरिद्रता, धैर्य, विश्वास, सन्तोष और प्रेम। इन सभी में प्रेम सबसे ऊपर है और उसी का महत्त्व अधिक है। सूफियों के अनुसार प्रेम के बिना साधना सम्भव नहीं है। इन सातों सोपानों को पार करके ही साधक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इन सोपानों को पार करके मानव के हृदय का अन्धकार दूर हो जाता है। इन सात सोपानों के अलावा सूफी मत में सूफी 'साधक' के चार मुकामात भी माने गए हैं –

(i) शरीअत अर्थात् धर्मग्रन्थों के नियमों का शुद्ध रूप से पालन करना। इसे यहाँ कर्मकाण्ड कह सकते हैं।

(ii) तरीकत का मतलब यह है कि बाहरी दुनियादारी से मुक्त होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का ध्यान करना। इसे उपासना के रूप में समझ सकते हैं।

(iii) हकीकत का अर्थ यह है कि भक्ति एवं उपासना के प्रभाव से सत्य का ज्ञान होना इसे ज्ञान प्राप्ति कहा जा सकता है।

(iv) मारफत के अन्तर्गत मानव हृदय की उपलब्धि अनुभूति के द्वारा करता है जिसे समाधि कहा जाता है।

आगे चलकर इसी समाधि की दशा में आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है। कहने का आशय यह है कि मारफ़त अर्थात् सिद्धावस्था, जिसमें कठिन उपवास एवं मौन आदि की साधना द्वारा साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। उक्त वैचारिक आधार पर समूचा सूफी काव्यलिखा गया है।

4.3.3.2 अन्य आधार

4.3.3.2.01 प्रबन्ध कल्पना

सूफी कवियों ने लौकिक प्रेम कहानियों को काव्य-बद्ध करके उनमें प्रेम-तत्त्व का निरूपण किया है। उन्होंने प्रबन्ध की क्रमबद्धता को बनाए रखने के लिए कथा में आवश्यक परिवर्तन भी कर लिए। सूफी कवियों ने सूफी मत के अनुसार प्रेम-काव्य को अलौकिक सौन्दर्य और प्रकाश से मण्डित करके प्रस्तुत किया है। प्रायः सभी प्रेम-काव्यों में कहानियाँ एक ही प्रकार की हैं। सभी में पृथ्वी, देवी और अप्सराओं की अन्तर्कथाएँ हैं। वस्तुतः ये कथाएँ प्रेम की दृढ़ता की प्रदर्शन करने के लिए लिखी गई हैं।

इन काव्यों के कथानक पूरी तरह संगठित, सुसम्बद्ध, व्यवस्थित और रोचक तथा आकर्षक घटनाओं से युक्त हैं। इन प्रबन्धों की क्रम योजना भी लगभग समान है। मंगलाचरण, ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर नमस्कार, शहंशाह की प्रशस्ति, गुरु महिमा, वंश परिचय, रचना काल आदि क्रम सभी काव्यों में हैं, जिनमें मौलिकता नहीं है। दूरवर्ती देशों के नायक-नायिका अनेक विघ्नबाधाओं को झेलते हुए परस्पर मिल जाते हैं। कथासूत्र का प्रारम्भ करने के लिए चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन अथवा शुक-शुकी द्वारा सौन्दर्य निरूपण का सहारा लिया गया है। प्रेमी युगल में प्रेम-भाव का उदय, मिलन के प्रयास, बाधाएँ और उनका शमन नायिका की विरह-दशा का चित्रण, पक्षियों द्वारा सन्देश, प्रतिनायक के दुष्कर्म आदि क्रम सभी प्रबन्धों में प्रायः एक-सा है। इन प्रेम-काव्यों का अन्त नायिकाओं की मृत्यु या सती होने की घटना के साथ होता है। कुतुबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती, जायसी का पद्मावत आदि सूफी प्रबन्ध काव्य इसके उदाहरण हैं।

4.3.3.2.02 भाव-उत्कर्ष

सूफियों ने प्रेम-तत्व का निरूपण ही अपने प्रबन्ध काव्यों तथा स्फुट रचनाओं में किया है। प्रेम के वियोग-पक्ष का चित्रण करने में इन कवियों को विशेष सफलता मिली है। विरह में ही प्रेम का अशरीरी स्वरूप झलकता है। विरह के अन्तर्गत भारतीय प्रेम-पद्धति के बारहमासे का वर्णन भी सहज और स्वाभाविक ढंग से इन काव्यों में चित्रित है। फारसी साहित्य का अतिरंजित विरह-वर्णन जिसमें रक्त के आँसू, मांस का सगबुगाना, तथा हड्डियों का ढाँचा आदि हैं – भी बहुत मात्रा में है। विरह-वर्णन में ऊहा के दर्शन होते हैं। प्रेम का संयोग-पक्ष मांसल काम-शास्त्र का चित्रण जैसा है। भोग-विलास का रहस्यमय अर्थ भी लिया गया है। प्रेमभाव के अतिरिक्त इन कवियों ने प्रसंगवश ईर्ष्या, द्वेष, वैर, कपट, उत्साह आदि भावों की भी सुन्दर अभिव्यंजना की है।

4.3.3.2.03 चरित्र-चित्रण

सूफी काव्य में जो नायक-नायिका या अन्य पात्र चित्रित हुए हैं, वे प्रेमी अधिक हैं। उनमें जीवन की विविधता के दर्शन नहीं होते। वे केवल प्रेम से ही अनुप्राणित हैं। नायकों के क्रिया-कलाप प्रायः पूर्व-निश्चित हैं। ऐतिहासिक पात्रों को भी सूफी रंग में रंगकर भिन्न आयाम प्रदान किए गए हैं। काल्पनिक पात्र अतिरंजित, रूढ़िबद्ध और लौकिक हो गए हैं। इन काव्यों के नायक राजकुमार हैं, जो प्रेम के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर बढ़ते जाते हैं।

4.3.3.2.04 सृजनात्मकता

निर्गुण सन्तों ने अपनी खण्डन-प्रवृति से हिन्दू मुसलमानों तथा समाज के विभिन्न घटकों में तनाव का वातावरण पैदा कर दिया था। उनकी तीखी वाणी से समाज में रोष व तीखापन व्याप्त था। सूफी कवियों ने खण्डन का पथ न अपनाकर सृजन का मार्ग अपनाया। इनकी पद्धति अधिक मनोवैज्ञानिक थी। हिन्दू और मुसलमान की तात्त्विक एकता का इन्होंने प्रचार-प्रसार किया। ये भेदों के खण्डन से दूर रहे। रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस ओर संकेत करते हुए लिखा है – "सूफियों के प्रेमप्रबन्धों में खण्डन-मण्डन की बुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिन्दुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। (द्रष्टव्य, शुक्ल, रामचन्द्र; संवत् 2045; हिन्दी साहित्य का इतिहास; वाराणसी; नागरी प्रचारिणी सभा; पृष्ठ – 52)

4.3.3.2.05 हिन्दू जीवन का चित्रण

सूफी काव्यों में हिन्दू घरों की प्रेम-कहानियाँ चित्रित हैं अतः इस काव्यों में लोक-जीवन के विश्वास, अन्धविश्वास, जादू टोना, मनौतियाँ, डायन, उत्सव, त्योहार, तीर्थ, व्रत, पौराणिक कथाएँ, महापुरुषों के नाम, खेल-कूद आदि की व्यापक झाँकियाँ हैं। इनमें हिन्दू जीवन और संस्कृति के ठेठ लोकसम्मत चित्र हैं। यद्यपि सूफी कवि अधिकतर मुसलमान थे किन्तु इन्हें हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, रहन-सहन, पूजा-उपासना, देवी-देवता, आचार-विचार का पूरा ज्ञान था। हिन्दू आदर्शों की पूर्ण प्रतिष्ठा इन प्रेम-काव्यों में है। भारतीय साहित्य की बारहमासा पद्धति, नख-शिख वर्णन, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, आयुर्वेद आदि का वैविध्य हिन्दू जीवन पद्धति का दिग्दर्शक है।

4.3.3.2.06 नारी-भावना

सूफी काव्य में नारी उस नूर की तरह है जिसके बिना यह संसार सूना है। नारी प्रेम-साधना का परम-साध्य है। वह लौकिक भोग की वस्तु नहीं हैं और न वह बौद्धों की तरह ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में सहायक मात्र है। वह तो स्वयं एक सिद्धि है। इन प्रेम-काव्यों में वह अलौकिक गुणों से युक्त बताई गई है। गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी नारी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बताया है – "इनका मूल आकर्षण-केन्द्र धर्म, दर्शन एवं ईश्वर नहीं है अपितु नारी या सुन्दरी है। नारी को जितना अधिक महत्त्व इन काव्यों में प्राप्त हुआ है, उतना भारत की किसी भी अन्य परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। नारी के सौन्दर्य की व्यंजना संस्कृत के महाकाव्य रचयिताओं ने भी की है, किन्तु वहाँ उस सौन्दर्य का इतना महत्त्व नहीं है कि उसके लिए प्राणों का भी मूल्य दिया जा सके। नारी सौन्दर्य को इन

कवियों ने एक ऐसा व्यापक महत्त्व प्रदान किया है कि उसके समक्ष संसार की सारी विभूत्यिाँ आभाहीन एवं तुच्छ प्रतीत होती हैं ।" (द्रष्टव्य, गुप्त, गणपतिचन्द्र; आठवाँ संशोधित संस्करण; 2007; हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास; इलाहाबाद; लोकभारती प्रकाशन; पृष्ठ - 349) अतः स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि नारी सूफी काव्यों में भोग्या न होकर एक शक्ति के रूप में चित्रित हुई है।

4.3.3.2.07 शृंगार-रस प्रधान काव्य

ये सभी प्रेम-काव्य शृंगार-रस-प्रधान हैं। इनमें पूर्वराग गुण-श्रवण, चित्र या स्वप्न–दर्शन अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से स्थापित होता है। प्रायः नायक आकर्षण से बँधकर नायिकाओं से मिलने के लिए धरती-आकाश एक कर देते हैं। नायिकाएँ आलम्बन बनती हैं, सखा-सखी, वन, नदी, ऋतु व अन्य उपकरण उद्दीपन का कार्य करते हैं। संयोग शृंगार वर्णन में इन कवियों ने विशेष उत्साह नहीं दिखाया। विप्रलंभ शृंगार में ही इन्होंने प्रेम के सूक्ष्म रूप को देखा था। प्रसंगानुसार वीर, भयानक, वीभत्स और शान्ति रस भी इन काव्यों में हैं किन्तु शृंगार की जो मोहक सत्ता इनमें है, वह आनन्ददायक है।

4.3.3.2.08 प्रतीक-पद्धति

रहस्यमय संकेत और अलौकिक सत्ता का परिचय देने के लिए इन कवियों ने कुछ रुढ़ प्रतीकों का सहारा लिया था। कुछ लोग तो सम्पूर्ण पद्मावत को ही प्रतीक-काव्य मानते हैं। 'तन चितउर मन राउर कीन्हा' से यह बात सिद्ध भी होती है। सिद्धों और नाथों ने भी उच्च आध्यात्मिक भक्ति के लिए प्रतीकों और रूपकों को आधार बनाया था। सूफियों ने भी प्रतीकों को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। सूर्य, चन्द्रमा, हंस आदि प्रतीकात्मक नामों का खूब वर्णन है।

4.3.3.2.09 विविध प्रभाव

सूफी काव्य पर भारतीय अद्वैतवाद, विशिष्टताद्वैत, इस्लाम की गुह्य विद्या, अफलातून का विचार-स्वातंत्र्य, वैष्णवों की अहिंसा, उपनिषदों का प्रतिबिम्बवाद, नाथपंथ का योग, फारसी साहित्य का प्रेम निरूपण आदि प्रभावों का समन्वित प्रभाव पड़ा है।

4.3.3.2.10 काव्य-प्रकार

सूफियों के प्रेमाख्यान सामान्यतः महाकाव्यों के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि इनमें भारतीय महाकाव्यों के अनेक लक्षण-सर्गबद्धता, उच्चकुलोत्पन्न नायक, महान् उद्देश्य की सिद्धि, विविध-छन्दों का प्रयोग, अध्यायों का गठन, सुखान्त फलागम आदि लक्षण नहीं मिलते हैं, फिर भी कथा-तारतम्य के कारण ये महाकाव्य ही हैं। रामचन्द्र शुक्ल का भी यही विचार है। मसनवी शैली में कथारम्भ है, गुरु-वन्दना, आत्म-परिचय है। इनमें दोहा, चौपाई, छन्द का अनवरत निर्वाह है।

4.3.3.2.11 भाषा-शैली

इन प्रेम काव्यों की भाषा प्रायः अवधी है। उसमान एवं नसीर पर भोजपुरी प्रभाव है। सूफी कवियों ने अवधी भाषा के प्रचलित रूप का प्रयोग किया है जिसमें लोक-प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों हैं।

छन्दों का प्रयोग सीमित और अनियमित है। दोहा, चौपाई, सोरठा आदि छन्द कई स्थानों पर पूरे नियमबद्ध नहीं है। चौपाई की अर्द्धाली को इन्होंने पूरा छन्द माना है। फारसी की बहारों का भी प्रयोग किया गया है।

फारसी साहित्य से परिचित होने के बावजूद इन कवियों ने भारतीय क्षेत्र के उपमान ग्रहण किए हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का सोद्देश्य प्रयोग इन प्रेमाख्यानों में मिलता है इन काव्यों में लोक-मंगल की कामना एक साथ की गई है। जाति, धर्म, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय भेद से परे इन्होंने प्रेम-तत्त्व को ही सब कुछ बताया।

4.3.4 हिन्दी के प्रमुख सूफी कवि और उनका काव्य

सूफी काव्य का वैचारिक आधार जानने के पश्चात् हिन्दी के प्रमुख कवि और उनके द्वारा रचित काव्य के विषय में जान लेना आवश्यक है।

4.3.4.1 असाइत

हिन्दी की सूफी-काव्य-परम्परा में आने वाली प्रथम कृति 'हंसावली' असाइत द्वारा रचित है। इस काव्य की रचना 1370 ई. में हुई। कवि ने कथा की शुरुआत करते हुए शक्ति, शंभू, सरस्वती आदि की वन्दना करके आत्म-परिचय दिया है। स्वयं कवि ने अपनी कृति का रचना-काल का उल्लेख करते हुए कहा है –"संवत् चउद्द चक्र मुनि शंख वछ हंसवर चरित असंख"। इसी के आधार पर इसे असंदिग्ध रूप से संवत् 1427 (1370 ई.) में रचित माना जा सकता है।

इस काव्य का नायक राजकुमार स्वप्न में पाटण देश की राजकुमारी हंसावली का दर्शन पाकर एवं उसके प्रेम में विह्वल होकर अपने मंत्री के साथ कहीं ब्राह्मण-वेश में और कहीं योगी-वेश में नायिका की खोज में निकल पड़ता है। वह खोजते-खोजते किसी प्रकार नायिका के देश में पहुँच जाता है; किन्तु वहाँ पहुँचकर ज्ञात होता है कि राजकुमारी ने पूर्व-जन्म की किसी घटना के कारण पखवाड़े में पाँच पुरुषों की हत्या करने का नियम ले रखा है। पूर्व जन्म की घटना का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है –

देवि अवधारु मुझ वीनती। पेलि भवि हूँ पंखिणी हती।
इडां मेहला सेवन कीउ। दब बलतउ तेणि बनि आविउ।
मझ भरतार साहस नीव कीउ। अपति मेहलीनि ऊडी गयु।

इस्यं करम ते निष्ठुर तणां। मूकी ग्यु बालक आपणां॥

अर्थात् नर पक्षी अपनी पत्नी एवं बच्चों को जलती हुई आग में छोड़कर उड़ जाता है; उन्हें बचाने का पराक्रम नहीं करता है। नर पक्षी के इस व्यवहार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मादा पक्षी अपने अगले जन्म (हंसावली के रूप) में सम्पूर्ण पुरुष-जाति से प्रतिशोध लेने का नियम लेती है।

राजकुमारी का दिल जीतने के लिए राजकुमार उसके द्वारा निर्धारित शर्त के अनुसार एक पखवाड़े में पाँच व्यक्तियों की हत्या करके नियम का पालन करता है। किसी तरह से हंसावली को एक ऐसा चित्र दिखाकर उसे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण कराया जाता है। स्मरण होने पर वह अपने कुकृत्य त्याग देती है। राजकुमार राजकुमारी को प्रसन्न करके उससे विवाह करने में सफल होता है।

कवि असाइत ने इस कृति की रचना स्रोत विक्रम एवं वेताल की प्रेम कथा को माना है। इस काव्य का कथानक सुखान्त है। इस आख्यान की भाषा गुजराती एवं राजस्थानी मिश्रित है। इसके अन्तर्गत वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं जो भारतीय प्रेमाख्यानों में उपलब्ध हैं, जैसे – स्वप्न में दर्शन कर प्रेम उत्पन्न होना, नायिका की प्राप्त हेतु योगी वेश धारण करना, यात्रा का विवरण, पूर्वजन्म का स्मरण होना एवं प्रेम की सफल परिणति होना जो रोमांस के विभिन्न तत्त्वों साहस, प्रेम, संघर्ष के विकास में मिलती हैं।

शैली की दृष्टि से इसे श्रेष्ठ काव्य कहा जा सकता है। भाव-सौन्दर्य एवं काव्य सौष्ठव की दृष्टि से यह सामान्य है। इसमें दोहा-चौपाई छन्द का प्रयोग हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि रोमांटिक तत्त्वों, कथानक, रूढ़ियों एवं शैली की दृष्टि से 'हंसावली' एक रोमांचक कथा है।

4.3.4.2 मुल्ला दाउद

हिन्दी-सूफी काव्य-परम्परा में आने वाले द्वितीय कवि के रूप में मुल्ला दाउद का नाम आता है। दाउद डलमऊ नगर के रहने वाले थे जो उत्तरप्रदेश के रायबरेली जिले के अन्तर्गत था। उनका सम्बन्ध चिश्ती सम्प्रदाय से था। इनके गुरु का नाम शेख जुनैदी था। उन्होंने 'चन्दायन' नामक काव्य सन् 1379 ई. में लिखा था। विद्वत्वर्ग ने मुल्ला दाउद के इस ग्रन्थ के कई नाम दिए हैं – लोर कहा, लोर कथा, चन्दायन, चांदायन। डॉ॰ माताप्रसाद ने निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर इस कृति का नाम 'लोर कहा' नाम दिया है –

तोर (लोर) कहा भइँ यहि खँह गाँउँ (गाँवँउ)।
कथा काब कइ लोग सुनाऊँ (सुनावउँ)॥

परन्तु इस ग्रन्थ में निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होता है कि इसका नाम 'चन्दायन' ही था –

दाउद कवि जो चाँदा गाई। जेंइरे सुना सो गा मुरझाई॥

अल बदायूनी ने भी 'चन्दायन' के कृतिकार के रूप में मुल्ला दाउद का नाम लिया है। इस प्रेमाख्यान के अन्तर्गत कवि ने अपने समय के बादशाह फिरोजशाह तुगलक और उसके वजीर खान-ए-जहाँ मकबूल जौनाशाह की स्तुति की है। अभी तक 'चन्दायन' काव्य की पूरी प्रति प्राप्त नहीं हुई है परन्तु प्राप्त अंशों के माध्यम से पता चलता है कि लौकिक कथा के रूप में प्रेमी-प्रेमिका के दो युग्म हैं – (i) लोरक और चाँदा (ii) लोरक और मैना। इसमें प्रेमकथा काव्य की रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है, जैसे – भिखारी द्वारा राजा रूपचन्द के सम्मुख चन्दा के सौन्दर्य का वर्णन करना, रूपचन्द और चन्दा के पिता के साथ युद्ध। युद्ध के नायक द्वारा चन्दा के पिता की मदद करना तथा रूपचन्द को परास्त करना, दर्शन मात्र से चन्दा-लोरक में प्रेम उत्पन्न होना, लोरक-चन्दा का भाग जाना, नाग द्वारा चन्दा को डसना, गारुड़ी द्वारा उसका ठीक हो जाना, लोरक की पत्नी मैना के वियोग का बारहमासे के रूप में वर्णन आदि इस काव्य की मुख्य विशेषताएँ हैं। 'चन्दायन' अवधी भाषा में लिखा हुआ सरल शैली का उदाहरण प्रस्तुत करने वाला आकर्षक काव्य है। इसमें लोरक को आत्मा तथा चन्दा को परमात्मा का प्रतीक माना गया है।

4.3.4.3 दामोदर कवि

कुछ विद्वान् दामोदर कवि को दामो कवि के नाम से पुकारते हैं। 'लखमणसेन-पद्मावती कथा' नामक रचना दामोदर कवि द्वारा सन् 1459 ई. में रचित की गई। इस कृति का नायक राजा लक्ष्मणसेन पुरोहित का रूप धारण कर राजकुमारी पद्मावती के स्वयंवर में पहुँच जाता है। पद्मावती लक्ष्मण सेन के गले में माला डाल देती है। स्वयंवर में आए हुए राजकुमार लक्ष्मणसेन पर आक्रमण कर देते हैं तो वह उन्हें पराजित कर देता है और राजकुमारी पद्मावती के साथ उसका विवाह हो जाता है। इस काव्य के अन्तर्गत राजा लक्ष्मण सेन और पद्मावती के प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन भावात्मक शैली में किया गया है। कथा के आरम्भ में कवि ने आत्म परिचय, मंगलाचरण, गणेश की स्तुति, रचना काल एवं काव्य का उद्देश्य दिया है। प्रेमाख्यानकों की अधिकतर विशेषताएँ इस काव्य में मिलती है। काव्य की भाषा राजस्थानी है और इसे कड़वक शैली में लिखा गया है। काव्य में दोहा-चौपाई और सोरठा छन्द प्रयुक्त किए गए हैं।

4.3.4.4 ईश्वरदास

ईश्वरदास ने 'सत्यवती कथा' नामक कथा दोहे चौपाइयों में लिखी थी। इसका रचना काल 1501 ई. है। कवि ने अपनी कृति के रचनाकाल का उल्लेख इस तरह किया है –

भादौं मास पाष उजियारा। तिथि नौमी औ मंगलवारा॥
नषत अस्विनी, मेष क चन्दा। पंच जना सो सदा अनंदा॥
जोगिनीपुर दिल्ली, बड़ थाना। साह सिकन्दर बड़ सुलताना॥
कंठे बैठ सरसुती विद्या गनपति दीन्ह।
ता दिन कथा आरम्भ यह इसरदास कवि कीन्ह॥

शिव की तपस्या करने के उपरान्त मथुरा के राजा चन्द्रउदय को संतान के रूप में एक पुत्री का जन्म हुआ जिसका नाम सत्यवती रखा गया। राजकुमारी सत्यवती प्रतिदिन सरोवर में स्थान कर शिव-पूजन किया करती थी। इन्द्रपति राजा का पुत्र ऋतुवर्ण जंगल में शिकार खेलने गया तो उसे एक कल्पवृक्ष दिखाई दिया, जिसकी शाखाएँ तीस कोस तक फैली हुई थी। वृक्ष पर चढ़कर राजकुमार ने चारों ओर देखा तो उसे सरोवर में स्नान करती हुई सत्यवती दिखाई दी। वह वृक्ष से उतरकर सत्यवती के पास गया और देखते ही उस पर मोहित हो गया। ऋतुवर्ण जब उसकी ओर एकटक देखता रहा तो उसको गुस्सा आ गया और कहा –

एक चित्त हमैं चितवै जस जोगी चित जोग।
धरम न जानसि पापी, कहसि कौन तैं लोग॥

सत्यवती ने उसे कोढ़ी और व्याधिग्रस्त होने का शाप दे दिया परन्तु पिता के आदेश की उपेक्षा करने पर सत्यवती उसी कोढ़ी को सौंप दी गई। तत्पश्चात कोढ़ी ऋतुवर्ण को लेकर तीर्थयात्रा करने जा रही सत्यवती को एक ऋषि ने मृत्यु का शाप दे डाला, परन्तु वह अपने सत आचरण का पालन करती रही और अपने पति को उस स्थान पर स्नान कराने ले गई जहाँ पर बहुत से देवता, मुनि, किन्नर आदि निवास करते थे। सत्यवती ने उनसे ऋतुवर्ण को सुन्दर एवं आकर्षक शरीर प्राप्त करने का वरदान माँगा जिससे ऋतुवर्ण स्वस्थ हो गया तथा देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त कर दोनों विवाह बन्धन में बंध गए।

कवि ने कथा-काव्य की रूढ़ियों का प्रयोग किया है जैसे – नायक में प्रथम दर्शन से प्रेम जाग्रत् होना, कोढ़ी होने का अभिशाप, देवों का आशीर्वाद आदि। इस काव्य की भाषा अवधी है तथा दोहा-चौपाई शैली में लिखी गई है। ईश्वरदास ने 'सत्यवती कथा' काव्य में प्रेम, सौन्दर्य और विरह का आकर्षक वर्णन किया है।

4.3.4.5 कुतुबन

प्रसिद्ध सूफी कवि कुतुबन बंगाल के बद्दशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। कुतुबन के गुरु जौनपुर के शेख बुरहान थे जिनका सुहरावर्दी सम्प्रदाय से सम्बन्ध बताया जाता है। कुतुबन ने हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध के उद्देश्य से 'सत्यपीर' नाम से एक मत भी चलाया था। इन्होंने 'मृगावती' नामक प्रेमगाथा की रचना 1503 ई. में की थी। इस काव्य में चन्द्रगिरि के राजा पणपतिदेव के पुत्र राजकुँवर एवं कंचनपुर के राजा रूपमुरारी की पुत्री मृगावती की प्रेम कहानी का वर्णन है। राजकुँवर द्वारा हिरनी का पीछा करना, हिरनी का गायब होना, सरोवर पर मृगावती का आना, राजकुँवर द्वारा मृगावती के वस्त्र चुराना, मृगावती का उड़कर चले जाना, राजकुँवर का योगी होना, राह में एक सुन्दरी को राक्षस से बचाकर उसके साथ विवाह करना, राजकुँवर का पुनः योगी वेश में निकलना, सुन्दरी रूपमणि का विरह वर्णन, राजकुँवर द्वारा मृगावती को वापस प्राप्त कर बारह वर्ष बाद लौटना आदि का वर्णन कथा-काव्य की परम्परा के अनुसार ही हुआ है। इसमें कवि ने प्रेम मार्ग के त्याग और कष्ट कर निरूपण करते हुए साधक के भगवत् प्रेम का स्वरूप दिखाया है। सूफी कवियों की मसनवी शैली में प्रणीत इसके कथानक के बीच-बीच में रहस्यमय आध्यात्मिक चित्रण उपलब्ध होता है जो अति सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है। वृद्धावस्था में

नायक राजकुँवर की मृत्यु एवं दोनों रानियों का सती होना इस काव्य का दुखान्त है। अर्थात् ग्रन्थ की परिणति शान्त रस में दिखाई गई है। इस काव्य में दोहा-चौपाई छन्द प्रयुक्त हुए हैं। भाषा अवधी है। काव्य की शैली में सरसता, प्रवाह और सरलता विद्यमान है, कहीं कोई क्लिष्टता देखने को नहीं मिलती है।

4.3.4.6 मलिक मुहम्मद जायसी

प्रेममार्गी सूफी काव्य-परम्परा में मलिक मुहम्मद जायसी का नाम प्रतिनिधि कवि के रूप में आता है। कवि का जन्म उत्तरप्रदेश में रायबरेली जिले के जायस नगर में हुआ था। पिता की मृत्यु हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण ननिहाल में हुआ था। जायसी देखने में कुरूप थे। बड़े होने पर जायसी अपने जन्म स्थान लौट आए और वहीं इनका निधन हो गया। जायसी का जन्म सन् 1500 ई. के आस-पास माना गया है। जायसी ने अपनी कृति में शेख बुरहान मोहिदी (मुहीउद्दीन) को अपना गुरु माना है और उनकी स्तुति की है –

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिनकर खेवा॥
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहि दीन्ह गियानू॥

जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' प्रसिद्ध काव्य है। इसका रचना काल 1520 ई. के लगभग माना जाता है। इस काव्य के नाम के विषय में कुछ लोगों का मानना है कि नायिका के नाम के आधार पर इसका नाम पद्मावती था। जायसी ने यह काव्य फारसी लिपि में लिखा था। पाण्डुलिपि को पढ़ने में मामूली गलती हो जाने से यह पद्मावत पढ़ा गया। इसके पीछे यह तर्क दिया गया कि सूफी कवियों की सभी रचनाओं में कथा काव्य का नामकरण नायिका अथवा नायक-नायिका के नामों के आधार पर हुआ है।

'पद्मावत' काव्य की कथा दो भागों में विभाजित है। इस काव्य का पूर्वार्द्ध पूरी तरह कल्पना पर आधारित है और इसके उत्तरार्द्ध का आधार राजस्थान के इतिहास का अध्याय प्रतीत होता है। 'पद्मावत' में चित्तौड़ के राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेमकथा अंकित है। राजा रतनसेन हीरामन तोते से पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर योगी के वेश में सिंहल पहुँचता है। शिव-मन्दिर में दोनों की मुलाकात होती है, किन्तु रतनसेन पद्मावती के रूप-सौन्दर्य को देखकर मूर्च्छित हो जाता है, उसका दर्शन अच्छी तरह नहीं कर पाता है। जागने पर राजा पद्मावती से मिलने के लिए अधीर हो गया। इस बात पर पद्मावती ने सन्देश भिजवाया कि समय पर तो तुम चूक गए; अब तो इस दुर्गम सिंहलगढ़ पर चढ़ो तभी मुझे देख सकते हो। रतनसेन योगियों की सेना की सहायता से गढ़ तोड़ कर पद्मावती को पाने में सफल हो जाता है। जायसी ने रतनसेन एवं पद्मावती के प्रेम का विस्तृत वर्णन किया है। दूसरी ओर रतनसेन की पत्नी नागमती विरह में पीड़ित हो उठती है। जायसी ने बारहमासा के माध्यम से विभिन्न ऋतुओं में विरहिणी नागमती की दशा का चित्रण किया है। जायसी का बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है। वर्षा ऋतु का मौसम अभिसार के योग्य होता है, पर नागमती अकेली है। वह सोचती है जिसके पति पास हैं वे तो गर्व से फूली नहीं समाती पर उसका तो सब सुख लुट गया है –

जिन्ह धर कन्था ते सुखी हम गौरी औ गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै हम सुख भूला सर्ब॥

राजा रतनसेन पद्मावती के साथ चित्तौड़ पहुँचता है और दोनों रानियों के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगता है। इसी कथा में अलाउद्दीन का प्रसंग भी वर्णित है। अलाउद्दीन धोखे से मित्रता दिखाते हुए रतनसेन को कैद कर लेता है और यह शर्त रखता है कि पद्मावती उसे दे दी जाए तो वह उसे मुक्त कर देगा। परन्तु पद्मावती के प्रयत्नों से रतनसेन सुलतान के पंजों से मुक्तहो जाता है। इसके बाद देवपाल के साथ हुए युद्ध में रतनसेन की मृत्यु हो जाती है और नागमती और पद्मावती रानियाँ सती हो जाती हैं।

'पद्मावत' एक विशिष्ट एवं प्रभावी प्रेमकाव्य है। इसमें पद्मावती के सौन्दर्य, नागमती के विरह एवं रतनसेन के साहस, त्याग एवं शौर्य की जैसी व्यंजना हुई है, वह अद्भुत है। जायसी ने सम्पूर्ण काव्य को प्रेम और शृंगार से जोड़ते हुए भी आध्यात्मिक अवसान दे दिया है। इसके साथ ही इसमें सामाजिक रीतियों, वात्सल्य वर्णन, भारतीय नारी का विरह एवं लोकपक्ष की भावनाओं का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी भाषा अवधी है तथा दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग है। फारसी की मसनवी का प्रयोग किया गया है।

विद्वानों ने जायसी द्वारा रचित निम्नलिखित कृतियाँ बताई हैं – (1) पद्मावत (2) अखरावट (3) आखिरी कलाम (4) महरी-बाईसी (5) चित्ररेखा (6) चम्पावत (7) इतरावत (8) मटकावत (9) चित्रावत (10) खुर्बानाया (11) सखावत (12) मोराइनामा (13) मुखरानामा (14) होलीनामा (15) पोस्तीनामा (16) मेखरावटनामा (17) मुकहरानामा (18) नैनावत (19) मसलानामा (20) कान्हावत (21) अन्य (स्फुट छन्दादि)।

उपलब्ध रचनाओं के अन्तर्गत 'अखरावट' में हिन्दी वर्णमाला के क्रम से प्रत्येक कड़वक का आरम्भ हुआ है। 53 कड़वकों की इस कृति में सृष्टि की उत्पत्ति, कारण और प्रयोजन आदि दार्शनिक विषयों पर इस्लाम की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। 'आखिरी कलाम' में उस पुनरुत्थान के समय की कथा वर्णित है जो इस्लाम की मान्यताओं के आधार पर सृष्टि के अन्त में होने वाला है। 'चित्ररेखा' में प्रेमकथा का वर्णन है। दाम्पत्य प्रेम के रूपक के माध्यम से कवि ने आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की है। वे इस लोक को नैहर तथा परलोक को प्रियतम मानते हैं। 'महरी बाईसी' अन्योक्तिपरक काव्यो है। कहार जीवात्मा को दुल्हन के रूप में प्रियतम के पास ले जाते हैं। 'मसलानामा' के अन्तर्गत सूक्तियों का वर्णन है तथा 'कान्हावत' में कृष्ण की कथा दोहा-चौपाई में वर्णित है।

4.3.4.7 मंझन

मंझन कवि का जन्म कब हुआ, यह कहना कठिन है। कुछ विद्वानों का मानना है कि इनका जन्म लखनौती में हुआ। इनके पिता का नाम अब्दुल्ला काजी शरीफ था। इनके पूर्वज बल्ख से आकर यहाँ बस गए थे। मंझन के गुरु का नाम मोहम्मद गोस था। 'मधुमालती' नामक प्रेमगाथा की रचना 1545 में मंझन कवि द्वारा की गई। इस काव्य में कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर एवं महारस नगर के राजा विक्रम राय की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। अप्सराएँ राजकुमार को पलंग सहित उठाकर

मधुमालती की चित्रशाला में ले जाती है, वहाँ पर दोनों का मिलन होता है, परन्तुर वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। बाद में मधुमालती के माता-पिता की अनुमति से विवाह-सूत्र में बँधते हैं। कवि मंझन ने मधुमालती की सुन्दरता का बखान इस प्रकार किया है –

इहै रूप सब नैनन जोती। इहै रूप सब सायर मोती॥
इहै रूप सब फूलन बासा। इहै रूप रस भँवर बेरासा॥
इहै रूप ससिहर ओ सूरा। इहै रूप जग पूरि अपूरा॥

कहा जा सकता है कि 'मधुमालती' का कथानक प्रतीकात्मकता लिए हुए है। इस कृति में प्रेम, विरह, सौन्दर्य, सूफी चिन्तन का स्पष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। इसमें अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है। सरस एवं सरल शैली में लिखा गया यह एक सुखान्त काव्य है। दोहा-चौपाई छन्द का प्रयोग किया गया है।

4.3.4.8 उसमान

कवि उसमान गाजीपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था। नारनौल के शाह निजाम चिश्ती इनके पीर थे तथा हाजी बाबा से इन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया था। ये जहाँगीर के समकालीन थे। उसमान ने 'चित्रावली' नामक प्रेमगाथा की रचना सन् 1613 में की। इस काव्य में नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान एवं रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रणय-गाथा का वर्णन किया गया है। इस काव्य की कहानी पूर्णतया कल्पना पर आधारित है, जैसा कि उसमान कवि ने स्वयं कहा है –

कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ औ सुनत सोहाई॥

इस कृति में राजकुमार सुजान को एक साधक के रूप में चित्रित किया गया है। यह एक बड़ी कष्टप्रद साधना के बाद चित्रावली को प्राप्त करता है। इस कृति की कहानी भले ही कल्पित हो, परन्तु उसमान ने बड़ी कुशलता से सूफी साधना का आध्यात्मिक स्वरूप अभिव्यक्त कर दिया है। कवि ने सूफी परम्परा के अनुसार ईश वन्दना, मुहम्मद की स्तुति, चार खलीफाओं की प्रशंसा, गुरु महिमा, बादशाह (जहाँगीर) की स्तुति और आत्मपरिचय दिया है। इस काव्य की कथा सुखान्त है। 'चित्रावली' को 'पद्मावत' छाया कह सकते हैं। जायसी के 'पद्मावत' की भाँति ही कवि ने नगर, समुद्र, यात्रा और विरह भावना आदि का निरूपण पूरी सजीवता और मार्मिकता के साथ किया है। भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण अवधी है। भोजपुरी भाषा का भी प्रभाव है।

4.3.4.9 नूर मुहम्मद

नूर मुहम्मद जौनपुर जिले के सबरहद नामक स्थान के रहनेवाले थे, जो जौनपुर आजमगढ़ की सरहद पर पड़ता है। इनके श्वसुर शमसुद्दीन के कोई पुत्र न था इसलिए ये अपनी ससुराल भादों जिला आजमगढ़ में रहने लगे। बताया जाता है कि ये 'कामयाब' उपनाम से फारसी में भी काव्य का सृजन करते थे। इन्हें दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह का समकालीन माना गया है। नूर मुहम्मद फारसी के विद्वान् अवश्य थे, परन्तु उनकी रुचि हिन्दी

काव्यरचना में अधिक थी। इन्होंने 'इन्द्रावती' नाम से एक प्रेमकाव्य की रचना की है। इसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर के राजा जगपति की कन्या इन्द्रावती की प्रेम कहानी कही गई है। मसनवी शैली पर रचित इस काव्य में तत्कालीन बादशाह मुहम्मद शाह की प्रशंसा की गई है, वह इस प्रकार है –

करौ मुहम्मदशाह बखानू। सूरज है देहली सुलतानू॥

विद्वान् मानते हैं कि कवि नूरमुहम्मद ने इन्द्रावती की रचना 1744 ई. में की थी। इसकी कथा-वस्तु पूर्णतः काल्पनिक एवं साथ ही रूपकन्युक्त है।

फारसी लिपि में लिखी गई 'अनुराग बाँसुरी' इनकी दूसरी रचना है जो सम्भवतः 1764 ई. में लिखी गई। इस समय तक उर्दू भाषा का विकास होने लगा था, जिसे मुसलमान अपनी भाषा समझते थे। 'इन्द्रावती' की रचना हिन्दी में करने के कारण नूर मुहम्मद को ताने सुनने पड़ते थे इसीलिए उन्हें 'अनुराग बाँसुरी' के प्रारम्भ में यह कहना पड़ा –

हिन्दू मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउ॥

अनुराग बाँसुरी में शरीर, आत्मा और मानवीय प्रवृतियों पर प्रकाश डाला गया है। विरह की दस दशाओं एवं नायिका-भेद के विषय में भी कवि ने वर्णन किया है। भाषा अवधी है और चौपाइयों के बीच-बीच में दोहे न लिखकर बरवै का प्रयोग किया है।

4.3.5 पाठ-सार

इस इकाई में आपने सूफी काव्य का वैचारिक आधार का अध्ययन किया। सूफी काव्य यहाँ के दार्शनिक मतों एवं उनके सिद्धान्तों का प्रभाव ग्रहण कर निरन्तर विकासमान रहा है। यही कारण है कि एकेश्वरवाद से आरम्भ सूफी कवियों की यात्रा सर्वात्मवाद, एकतत्त्ववाद से होती हुई अद्वैतवाद तक पहुँचती है। सूफी साधकों की यह निरन्तर विकासमान वैचारिक स्थिति जहाँ एक ओर उनके उदारमना होने का परिचय देती है वहीं दूसरी ओर स्थूल दृष्टि वाले पैगम्बरियों के लिए इनकी बातें कुफ्र समझी गई।

सूफी काव्य की वैचारिक स्थिति का उद्घाटन के पश्चात् इस इकाई के अन्तर्गत सूफी-काव्य-परम्परा के महत्त्वपूर्ण कवियों एवं उनकी रचनाओं पर विचार किया गया है, जिससे सूफी काव्य को समग्र रूप से ग्रहण करने में सुविधा हो।

वस्तुतः सूफी काव्य हिन्दी-निर्गुण-काव्य-परम्परा का एक ऐसा काव्य है, जिसमें प्रेम को महत्त्व देकर अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में विभिन्न शास्त्रीय तत्त्वों, दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक सम्बन्ध आदि का भी समन्वय किया है।

4.3.6 बोध प्रश्न

1. सूफी काव्य से क्या अभिप्राय है ?
2. सूफी काव्य का वैचारिक आधार किन तत्त्वों पर आधारित है ?
3. सूफी काव्य की प्रवृतियों का वर्णन कीजिए।
4. सूफी मत के अन्तर्गत साधना के सोपान क्या हैं ? प्रेम के पीर की महत्ता समझाइए।
5. सूफी काव्य के प्रमुख कवि एवं उनके काव्य पर प्रकाश डालिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : हिन्दी निर्गुण-काव्य-परम्परा

इकाई – 4 : सूफी कवियों की लोक-संसक्ति, सांस्कृतिक-दृष्टि, सूफी साहित्य की भाषा, काव्य-रूप तथा छन्द-योजना

इकाई की रूपरेखा

4.4.0. उद्देश्य कथन
4.4.1. प्रस्तावना
4.4.2. सूफी कवियों की लोक-संसक्ति
4.4.3. सूफी कवियों की सांस्कृतिक दृष्टि
4.4.4. सूफी साहित्य की भाषा
4.4.5. काव्य-रूप तथा छन्द-योजना
4.4.6. पाठ-सार
4.4.7. बोध प्रश्न

4.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सूफी कवियों के भावपक्ष को जान पाएँगे तथा सूफी काव्य के विविध पहलुओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. लोकजीवन पर सूफी काव्य के पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा कर सकेंगे।
iii. सूफी काव्य के कलापक्ष पर बात कर पाएँगे।
iv. सूफी काव्य के परिवेश को जान सकेंगे।

4.4.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य की निर्गुण धारा काव्य-परम्परा में सूफी कवियों का प्रेमाख्यान परमात्मा प्राप्ति की एक नवीन और विशिष्ट धारा का द्योतक रहा है। सूफी कवियों का भारतीय परिवेश में पदार्पण मुस्लिम आक्रमणों के दौरान हुआ। तात्कालिक मुस्लिम शासकों में धार्मिक कट्टरता का प्राबल्य था परन्तु सूफी कवियों में मुसलमान होने पर भी इस कट्टरता का अभाव था। अपनी उदारता और लोक-समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण सूफी कवियों ने भारतीय परिवेश और जन-मन में अपनी जगह बना ली। भारतीय सन्तों की तरह के इनके जीवन और उदारता के कारण ये हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच समादृत होते गए और विस्तार पाते गए।

भारतीय परिवेश में आने के फलस्वरूप सूफी कवि यहाँ की संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित हुए, जिससे इसका मूल स्वरूप बदलता गया। यहाँ आने पर इन्होंने भारतीय समाज के साथ ऐक्य प्रस्थापित करने का पूर्ण

प्रयास किया। सांस्कृतिक सामंजस्य के साथ परमात्मा की प्राप्ति के लिए अपनी प्रेमसाधना को आधार बनाया। अपने इसी प्रेमतत्त्व के बल पर ही ये मुस्लिम कट्टरता के बीच भारतीयों के मन में पोषक वातावरण बना पाए। इन सूफी कवियों के भारत आने पर भक्ति की एक नवीन प्रेमाख्यान पद्धति का प्रणयन भी हुआ। इन प्रेमाख्यानों के कथानक स्थानीय ऐतिहासिक और पौराणिक घटनाओं पर आधारित होने से वे काफी लोकप्रिय भी हुए। सूफी काव्य-परम्परा प्रेमकथाओं से सम्बद्ध हैं। इनकी रचनाओं में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का रूप समन्वित हुआ है। सूफी कवियों ने ऊँच-नीच के भेद को अमान्य तो किया ही साथ ही शास्त्रों के ज्ञान के उच्चतर मापदण्डों को भी नहीं माना। इनके लिए प्रेम की भावना ही सर्वोच्च स्थान रखती है। अपनी रचनाओं के माध्यम से इन सूफियों ने शास्त्रीय रूढ़ीवाद के स्थान पर प्रेमभावना की प्रतिष्ठापना की।

विभिन्न परिवेशों से प्रभावित सूफी कवियों की लोकप्रियता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था इनके काव्य में निहित लोकतत्त्व की प्रधानता। वैसे भी लोक-जीवन से परे जाकर कोई भी रचनाकार लोकप्रियता ग्रहण नहीं कर सकता। अतः सूफी कवियों के काव्य में लोकधर्मिता के अनुरूप विभिन्न रीति-रिवाज, तीज-त्योहार, धार्मिक-सामाजिक अनुष्ठान, संस्कारों का व्यापक चित्रण मिलता है। साथ ही सूफी कवियों ने लोक-जीवन में व्याप्त भिन्न-भिन्न लोकाचारों के जो बहुतेरे चित्रों को रंगा है उससे इन सूफी कवियों का जनजीवन के प्रति जुड़ाव देखा जा सकता है।

4.4.2. सूफी कवियों की लोक-संसक्ति

संसक्ति का तात्पर्य है, जुड़ाव या लगाव। सूफी कवियों ने भारतीय जनमानस में अपने अधिकार और लोकप्रियता के लिए अपनी रचनाओं में लोकतत्त्वों को प्रधानता दी। मुस्लिम संस्कार होते हुए भी सूफी कवियों के काव्य में हिन्दू त्योहार, रीति-रिवाज और विभिन्न धार्मिक, सामाजिक संस्कारों की महीन जानकारी देखी जा सकती है, जिसका मनोहारी वर्णन इन सूफी कवियों के काव्य में मिलता है। लोकजीवन का प्रत्यक्ष अनुभव लेने वाले ये सूफी सन्त हिन्दुओं की जीवन पद्धति और तमाम विधि-विधानों से परिचित हो चुके थे। समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण स्थानीय समाज, इतिहास, धार्मिक, पौराणिक मान्यताओं तथा उनसे सम्बन्धित लोककथाओं, गाथाओं आदि को वे पूर्ण सम्मान देते थे। बहुधा इस्लाम और हिन्दू धर्म में उन्हें जो कुछ भी अच्छा उन्हें मिला उसे इन्होंने अपनाया और अपनी भक्ति के माध्यम से उनका प्रचार भी किया। अखरावट और आखिरी कलाम में समन्वय की यह भावना देखी जा सकती है।

सूफी कवियों का मूल प्रतिपाद्य प्रेम-निरूपण रहा। इसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने जो कथानक और जिन पात्रों को चुना वे किसी-न-किसी विशेष कुटुम्ब से सम्बन्धित हुआ करते थे। जैसे अद्भुत सौन्दर्य की प्रतीक राजकुमारी और उसके प्रेम में व्याकुल किसी राज्य का राजकुमार। इनके विलक्षण प्रेम और इनके जीवन की घटनाओं के प्रतिपादन में इन सूफी कवियों ने विभिन्न लोकप्रचलित रीति-रिवाज, रूढ़ि, परम्परा, तीज-त्योहार, उत्सव, संस्कारादि के साथ-साथ लोकजीवन के रहन-सहन का सहृदयता के साथ वर्णन किया। एक राज परिवार

की गाथा होकर भी इन वर्णनों में सामान्य लोकजीवन का सजीव चित्र उभरकर सामने आया है। सूफी काव्य की रचनाओं में लोकजीवन से उनके जुड़ाव को देखा जा सकता है।

सूफी कवियों ने लोक-जीवन की महत्त्वपूर्ण कुटुम्ब व्यवस्था अर्थात् यहाँ के संगठित और सम्मिलित परिवार का बड़ा ही सार्थक प्रस्तुतीकरण किया है। वस्तुतः मानव-जीवन के बीच परिवार ही वह कड़ी है जिसके माध्यम से मनुष्य के सभी रिश्ते-नातों का संचालन होता है। सूफी कवि इस तथ्य से भलीभाँति परिचित भी थे। पारिवारिक जीवन की ही एक व्यवस्था है विवाह, जिसके माध्यम से कुटुम्ब विस्तार पाता है। इनके काव्य में विवाह सम्बन्धों को लेकर कोई अश्लीलता अथवा भोगवाद अथवा सामाजिक मर्यादाओं को भंग होता नहीं दिखता अपितु ये विवाह की सार्थकता और उसकी अनिवार्यता को पूरी अर्थवत्ता के साथ प्रस्तुत भी करते हैं। कथा नायक का किसी नायिका अथवा किसी सुन्दर स्त्री से सम्बन्ध को सामाजिक मर्यादाओं के अधीन ही दिखाया गया है। किसी भी प्रकार से वहाँ अनैतिकता को स्थान नहीं दिया गया है। जानकवि की 'रूपमंजरी' को छोड़कर प्रायः सभी काव्यों में विवाह की अनिवार्यता को प्राथमिकता दी गई है। विशेष बात यह है कि तात्कालिक लोकविश्वासों के अनुरूप सभी नायिकाओं ने पति को महत्त्व दिया है भले ही वे बहुविवाह के कारण सौतिया डाह से अन्तर्मन में ही क्यों न हो ग्रसित हैं। पत्नी का अस्तित्व पति के अस्तित्व में समाहित बताया गया है। 'पद्मावत' में नागमती, 'इन्द्रावती' में इन्द्रावती आदि स्त्री पात्रों में पति के प्रति समर्पण भाव दिखाई देता है। और कई पुरुष पात्रों में भी इसी प्रकार की झलक दिखाई देती है। जैसे 'इन्द्रावती' में एक गणिका का उल्लेख मिलता है जो राजा हंसराज से उनके प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करती है परन्तु राजा हंसराज अपनी पत्नी चन्द्रवदन की प्रशंसा कर उसे समझाता है। प्रायः कई रचनाओं में स्त्रियाँ सती भी होती हैं। परिवार में स्त्री की महत्ता का प्रतिपादन उनके वैशिष्ट्य का परिचय देता है। यहाँ नारी मात्र उपभोग्या न होकर समाज की धारा को निर्धारित करती हुई दिखाई देती हैं। सूफी कवियों ने अपने काव्य में जिस प्रकार से प्रेम और पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन का चित्रण किया है उससे स्पष्ट होता है कि सूफी कवि लोकप्रचलित मर्यादाओं और व्यवहारों को महत्त्व देते थे। उनके प्रेम निरूपण में कोरी स्वच्छन्दता न होकर कर्तव्यपरायणता का भी सूचक है। सूफी काव्य के पात्र अपनी मर्यादाओं का निर्वाह करते दिखाई देते हैं।

सूफी कवियों की रचनाओं में नायक-नायिकाओं के विवाह-पूर्व के प्रसंगों की भी चर्चा मिलती है। नायिकाओं की विवाह-पूर्व स्थिति का जो वर्णन मिलता है उससे उनका दैन्यभाव स्पष्ट हो जाता है। ये नायिकाएँ अपने इच्छित वर से विवाह करने की अभिलाषी होती हैं, परन्तु पारिवारिक दबाव के कारण बहुधा ऐसा नहीं हो पाता। 'हंस जवाहिर' में जवाहिर बेमन के साथ विवाह की बजाय मृत्यु को उससे अच्छा बताती है। 'प्रेमरस' में तो चन्द्रकला अपने प्रेम को पाने के लिए घर तक छोड़ने के लिए तैयार हो जाती है। यही स्थिति चित्रावली और रानी देवयानी की भी है। इन पात्रों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि इनमे प्रेम व्याकुलता तो है परन्तु अपनी व्याकुलता के प्रति विरोध का अतिरेक नहीं। अपने माता-पिता और परिवार की लाज का ध्यान रखने की प्रवृत्ति हंस जवाहिर की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है –

हौं सौ बारी पिता घर, बोलत बचन लजाऊँ।
तब मैं बचौं कलंक तै, प्राण काँप मर जाऊँ॥

इस प्रकार अपने काव्य के माध्यम से सूफी कवि तात्कालिक महिलाओं की स्थिति को भी प्रस्तुत करते हैं, जब उन्हें मात्र आदेशों का पालन करने का अधिकार था, न की अपनी इच्छाओं के प्रकटीकरण का। जान कवि की नायिका विवाह के सम्बन्ध में प्रतिक्रिया देते हुए यह भी कहती है कि विवाह सुख की प्राप्ति दो समान स्वभाव वालों के मेल से ही हो सकती है। ये विवाह सूत्र को अत्यन्त पवित्र और अपरिवर्तनशील मानते थे तभी तो जान कवि ने उपयुक्त और गुणवान जोड़ों के अभाव में विवाह सम्बन्ध को अयोग्य ठहराया। कंबलावती की कथा में जान कवि कहते हैं –

कह्यो यहै निहचय कै जानौ, एक गाँठ सों फेर निभानों।
आप समान न पाऊँ जौलों, भूल ब्याह नहिं करिहौ तौलों॥

लोकहित और समाज कल्याण को केन्द्र में रखकर इन सूफियों ने प्रेम के निरूपण में वासना को कोई स्थान न देकर उसके पवित्र पक्ष की प्रस्तुति की है। यहाँ उनके प्रेम की विरहानुभूति लौकिक न होकर अलौकिक अध्यात्म की प्रतीक है। और, यह अलौकिक प्रेम इन्होंने विवाह और दाम्पत्य जीवन में परिणत होता हुआ दिखाया है। विवाह और दाम्पत्य सम्बन्धों के साथ-साथ इन्होंने बेटा-बेटी के उत्पन्न होने पर किए जाने वाले भेद को भी उजागर किया है। वे बताते हैं कि कन्या के जन्म लेते ही घर परिवार में खुशियों की बजाए चिन्ता की लकीरें बनने लगाती हैं, जबकि पुत्र-जन्म पर सोहर गाए जाते हैं। सूफी कवि उसमान चित्रावली में लिखते हैं –

जब ते दुहिता ऊपनी सतत हिये उतपात।
निकसै काँटा तबहिं जब आँगन आउ बरात॥

विवाह सम्बन्धों के साथ विवाह से जुड़े विभिन्न रीति-रिवाजों का वर्णन भी सूफी काव्य में मिलता है। जैसे – बरात, भाँवर, सिंदूर-दान, कोहबर, भोजन, विदाई, गौना आदि संस्कारों अनुष्ठानों का उल्लेख भी इनकी रचनाओं में हुआ है। इनकी लेखनी यहीं पर नहीं थमती, बल्कि विवाहोपरान्त ससुराल के विभिन्न परिदृश्यों का उद्घाटन भी इनकी रचनाओं में होता है। इसके अतिरिक्त इन काव्यों में हिन्दू जनजीवन के जन्म से मृत्युपर्यन्त के लोकाचार, संस्कार और अनुष्ठानों का भी उल्लेख मिलता है। जन्म के समय ज्योतिषि द्वारा नामकरण, कुण्डली बनवाना, छठी के समय उत्सव मनाना, पुत्र-जन्म पर दान-पुण्य का क्रम, विद्यारम्भ संस्कारादि लोकाचारों का वर्णन भी यहाँ हुआ है।

परम्पराओं और रीति-रिवाजों के साथ ही इन कवियों ने लोकजीवन के विभिन्न उत्सवों, आयोजनों का भी चित्रण किया है। उत्तर भारत का लोकप्रिय त्योहार है – होली। सूफी कवियों ने होली उत्सव के समय की गतिविधियों का रंगीन चित्रण तथा दीपावली के दीपोत्सव का भी उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है। इसके अलावा विभिन्न व्रतों में हरितालिका तीज, शिवरात्रि, सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले देवी-देवताओं

की आराधना, पूजा पद्धतियों का भी व्यापक वर्णन किया है। आमतौर पर सामान्य लोकजीवन में भूत-प्रेत, जादू-टोना, शकुन-अपशकुन आदि को लेकर एक आस्था विद्यमान रहती है। सूफी कवियों ने इनका सुनियोजन भी अपने काव्य में किया है। टोने-टोटके का उल्लेख इन्द्रावती की कथा में है तो हंस जवाहिर और शेखनबी के ज्ञानदीप में मंत्रों के प्रभाव का उल्लेख हुआ है।

इसके अतिरिक्त स्त्रियों की शृंगार प्रियता, उनका नख-शिख वर्णन, लोक का भाग्यवादी होना, ईश्वर के प्रति आस्था, ग्रामीण उपादानों का वर्णन, लोकप्रचलित मुहावरों, कहावतों, लोकगीतों, लोकगाथाओं, जाति प्रथा, पारिवारिक जीवन आदि पक्षों के उदाहरण देखकर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि लोक के बीच रहकर इन सूफी कवियों ने लोकजीवन की सघन अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है। लोक के बीच रहकर उनमें प्रचलित लोकजीवन की महत्ता और अर्थवत्ता का प्रभावी चित्रण सूफी कवियों ने किया है। अतः कहा जा सकता है कि इन सूफी कवियों ने प्रेम निरूपण के माध्यम से स्थानीय लोक-जीवन गुणों-अवगुणों के प्रति जनजाग्रति निर्माण करने का सफल प्रयास किया है। उनकी लोक-संसक्ति मात्र काव्य निरूपण नहीं था अपितु सन्तों की भाँति वे जनजीवन को एक मार्मिक और सम्वेदनशील सन्देश भी देते हैं।

4.4.3. सूफी कवियों की सांस्कृतिक दृष्टि

संस्कृति अपने आप में व्यापक अर्थ का बोध कराती है। यह भौतिक संसाधनों के साथ-साथ मनुष्य जीवन के विविध पक्षों की भी परिचायक है। भारतीय परिवेश में मुसलमानों के आक्रमण से भारतीय जनजीवन प्रभावित हुआ। जिन स्थानीय लोगों का जबरन धर्म परिवर्तन किया गया वे एकाएक अपनी सभ्यता और संस्कृति को छोड़ नहीं पाए जिससे संक्रमित होकर मुस्लिम धर्म में कुछ नवीनता का समावेश हो जाना स्वाभाविक था। महापण्डित राहुल संकृत्यायन का कथन इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। 'हिन्दी काव्यधारा' नामक अपने ग्रन्थ में वे कहते हैं, "अभी तक जितने भी आक्रमणकारी भारत आए थे, वह भारतीय संस्कृति को स्वीकार कर – हाँ, उसमें कुछ अपनी ओर से देकर भी – हजारों जाति-पाँति में बिखरे भारतीय जन समुद्र में मिलते गए।" इस्लाम के आ जाने से स्थानीय हिन्दू धर्म की मान्यताएँ रूढ़ियों की पक्षधर हो गईं। स्त्री वर्ग पर मुस्लिमों के अत्याचार ने स्त्रियों को चार-दीवारी के बीच कैद होने के लिए विवश कर दिया, जिसके लिए मुस्लिमों की हरम पद्धति विशेष तौर पर कारणीभूत थी। हिन्दू धर्म और समाज व्यवस्था चरमराने लगी थी।

सूफी कवि सदाचार के प्रचारक थे। अतः अपनी मान्यताओं में उन्होंने पारम्परिक आचार-विचार और अति रूढ़ीवाद को स्थान नहीं दिया। परमात्मा की प्राप्ति के लिए उन्होंने प्रेमाभिव्यंजना के आधार पर चित्तशुद्धि और नैतिकता का पाठ पढ़ाया। परमात्मा की प्राप्ति ही इन सूफियों का परम उद्देश्य था। ये ऊँच-नीच के भेद को नहीं मानते थे। परिणामतः विविध शास्त्रोक्त ज्ञान-अर्जन और विविध ग्रन्थों की प्रकाण्डता इनके मानदण्डों के अनुरूप नहीं थी। ये केवल मनुष्य की सात्विकता पर बल देते थे। शास्त्र ज्ञान से ज्यादा इन्होंने प्रेमभावना को उच्चतर स्थान दिया। इस्लाम के प्रभाव से कुरान और हिन्दू संस्कृति के प्रभाव से यहाँ के आध्यात्मिक और अलौकिक तत्त्वों का अद्भुत समन्वय इनके काव्य में है।

इस्लाम के साथ सूफियों के आने पर सांस्कृतिक दृष्टि से स्थानीय सभी क्षेत्र संक्रमितहुए। धर्म, समाज, राजनीति, लोकाचार आदि सभी अंग इससे प्रभावित हुए। अपनी स्वाभाविक सरलता तथा प्रेम की भावना के कारण जनसाधारण के निकट आ गए। मध्यकालीन संस्कृति में दोनों ही संस्कृतियों का मेल देखा जा सकताहै। सूफियों के प्रभाव से फैज़ी जो अकबर के एकेश्वरवाद का समर्थक था और राजकुमारों को शिक्षा देता था, उसने महाभारत और रामायण तथा वेदों के कुछ सूत्रों का फ़ारसी अनुवाद किया। अबुल फजल में भी यही प्रवृत्ति विद्यमान थी। अबुल फज़ल और फैज़ी सिन्ध में बसे थे, परन्तु इनके वंशज आगे बढ़ते हुए नागौर में आ बसे और अपने सांस्कृतिक समन्वय की भावन को प्रोत्साहन दिया। उनकी इसी उदारता के कारण उन्हें मुस्लिम कट्टरता का भी शिकार होना पड़ा। आगे चलकर जहाँगीर और शाहजहाँ के बाद दाराशिकोह में यही उदारता और समन्वय की भावना थी। फिर औरंगजेब के बेटे आज़मशाह और बहन जहाँआरा ने इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया। आज़मशाह ने 'बिहारी सतसई' पर टीका भी लिखी थी। सूफी साधक शाह कलंदर, शाह शाकर्गंज, जमालुद्दीन और फरीदगंज भी गजनी से सिन्ध की ओर आए और यहीं बसकर अपनी अपने उदारवादी और समन्वयवादी विचारों का प्रचार कर लोकप्रियता ग्रहण की।

सूफियों की इस उदारता का प्रादुर्भाव भारतीय परिवेश में सिन्ध से ही माना जाना युक्तिसंगत है। क्योंकि सूफी साधकों का भारतीय परिवेश में पदार्पण और भावनाओं का प्रस्फुटन सर्वप्रथम यहीं हुआ था। कबीर, दादू, नानक आदि सन्तकवियों की वाणी में भी सूफियों की यह समन्वयवादी भाव देखी जा सकती है। गुजरात के पीरन पंथ जिसकी स्थापना इमाम शाह ने की थी, इनकी सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों में हिन्दुओं की गतिविधियों का प्रभाव है। वस्तुतः ये निष्कलंक नामक महापुरुष की आराधना विष्णु के दसवें अवतार के रूप में करते हैं। रसखान पर भी वैष्णव भक्ति का प्रभाव रहा। इस प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण संस्कृतियों में काफी बदलाव आए। इनमें अपने सांस्कृतिक प्रभाव को न छोड़ते हुए भी अन्य संस्कृतियों की सकारात्मकता को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का विकास सूफी मत के प्रभाव के कारण ही हुआ था।

सूफियों की यह प्रवृत्ति स्थानीय संस्कृतिके प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करती गई। धर्म, अध्यात्म, समाज, साहित्य आदि कई ऐसे क्षेत्र थे, जिनमें सूफीमत के प्रभावों को ग्रहण किया। साहित्यिक दृष्टि से चन्दबरदायी के पृथ्वीराज रासो में फ़ारसी शब्दावली का प्रयोग हुआ। वहीं बीजापुर के शासक आदिलशाह के कुछ विभागों की भाषा हिन्दी थी। इसी के समकालीन गोलकुंडा के शासकों की भाषाओं में भी हिन्दी के रूप प्रचलित थे। साहित्य के साथ संगीत पर भी इसका प्रभाव पड़ा। अमीर खुसरो को कई नवीन लयों के आविष्कार का श्रेय दिया जाता है। सम्राट अकबर ने तो ईरान की करीब दो सौ तानों को भारतीय संगीत शैली के अनुरूप ढलवाया था और कविराज पद्धति की शुरुआत भी की थी। इसी शृंखला में आगे इब्राहिम, आदिलशाह, जहाँगीर, गुजरात के शासक सुलतान, जौनपुर के सुलतान हुसैन, शाहजहाँ आदि ने भी संगीत को प्रोत्साहित करते हुए संगीत के समन्वय को गति प्रदान की। राग जूही, ठुमरी, शाहपसंद आदि रागों ने भी इसी दौरान लोकप्रियता ग्रहण की।

इस्लामी संस्कृति की स्थापत्य कला का भी स्थानीय रचनाओं पर प्रभाव पड़ा। अकबर निर्मित रचनाओं में अरबी, ईरानी और भारतीय स्थापत्य शैलियों का मेल दिखाई देता है। इसके साथ ही हस्तकला और चित्रकारी

में भी इन संस्कृतियों की झलकियाँ मिलती हैं। समन्वयात्मक ये सभी बदलाव सूफी कवियों की उदारता और समन्वय भावना की ही परिणति थी।

4.4.4. सूफी साहित्य की भाषा

भाषा अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होती है परन्तु भाषा में यह सशक्तता जन सामान्य तक की व्याप्ति के अनुरूप ही आ सकती है। अपने उद्देश्य को केन्द्र में रखकर अपने परिवेश की यथेष्ठ परख साहित्य सृजन की महत्त्वपूर्ण कोटि है अतः रचनाकार भी परिवेश और उद्देश्यपरक भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में करता है। वैसे भी रचनाकार की लोकप्रियता और आत्मीयता उसके जनसामान्य की पहुँच पर ही निर्भर होती है। सूफी कवि इस बात से परिचित थे। सूफी काव्य का अवलोकन करने पर उनके काव्य ज्ञान की बात स्पष्ट हो जाती है और यह भी कि वे अपने काव्य को किसी विशिष्ट वर्ग तक सीमित नहीं रखना चाहते थे अपितु समाज के सभी अंगों के जनजागरण के लिए इन्होंने जनभाषा को अपनाया।

सम्पूर्ण सूफी साहित्य की भाषा पर विचार करने से पूर्व उनकी उपलब्धता को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि कई सूफी रचनाएँ अप्राप्त हैं। इन सूफी रचनाओं में एक ओर फ़ारसी का प्रयोग मिलता है तो वहीं सभी सूफी प्रेमाख्यानों में कई जगह ब्रज के साथ ठेठ अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। अवधी के आम बोलचाल के स्वरूप को आधार बनाते हुए सूफियों ने अपनी रचनाओं को अभिव्यक्ति तो दी ही साथ ही उन्हें इसी आधार पर जनसाधारण के लिए बोधगम्य भी बनाया। अवध प्रदेश में रहकर अवधी भाषा के माध्यम से इन सूफी कवियों ने पौराणिक प्रसंगों, चरित्रों तथा घटनाओं की बजाए स्थानीय लोकगाथाओं, लोककथाओं को अपने साहित्य का वर्ण्य विषय बनाकर लोक-मन में अपने संदेशों को अंकित किया। जबकि तुलसीदास ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए पौराणिक पात्र का आधार लिया था।

सूफी काव्य की भाषा 'मानस' की भाषा से थोड़ी भिन्न है, क्योंकि 'मानस' में तुलसीदास ने साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह किया है और सूफी कवियों ने साहित्यिक परम्पराओं से अधिक लोकजीवन को महत्ता प्रदान की। अवधी फैजाबाद, लखनऊ, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, उन्नाव तथा उसके आस-पास के जनपदों में बोली जाती है। भाषा के प्रभाव के आधार पर अवधी भाषा के दो रूप मिलते हैं – पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी। तुलसी का रामचरितमानस अवधी के पश्चिमी रूप का उदाहरण है तो जायसी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद, कवि नसीर, शेख रहीम और ख्वाज़ा अहमद की रचनाओं में पूर्वी अवधी का प्रभाव रहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "जायसी की भाषा देशी साँचे में ढली हुई, हिन्दुओं के घरेलू भाव से भरी हुई बहुत ही मधुर और हृदयग्राहिणी है।" तुलसी और जायसी की भाषा पृक्ति में यह अन्तर स्वाभाविक भी था, क्योंकि तुलसीदास अवधी के साथ-साथ ब्रज और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् भी थे।

सूफियों के प्रेमाख्यानकों की भाषा अवधी ही रही। जानकवि, नूर मुहम्मद और हुसैन अली के काव्य में अवधी के साथ ब्रज भाषा का भी प्रभाव है और भोजपुरी के भी शब्द मिलते हैं। यद्यपि 'कामरूप की कथा' में

खड़ी बोली के आदिरूप के दर्शन होते हैं। इन स्थानीय भाषाओं के साथ अरबी, फ़ारसी के शब्द भी इनकी रचनाओं के अंग हैं। इसके अतिरिक्त इन सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में तत्सम और तद्भव शब्दों का व्यापक प्रयोग किया है, जिसमें संस्कृत के शब्द भी समाविष्ट हुए हैं। जैसे – नूर मुहम्मद के काव्य में दृष्टि के लिए दिस्टि, सर्व के लिए सरब, प्रसून के लिए पर्सून आदि तत्सम शब्द, तथा कमला के लिए कंवला, सामने के लिए सौंह आदि शब्द। इस प्रकार इन सूफी कवियों ने भाषा को लोकरुचि के अनुरूप ढाला है। व्याकरणिक विशेषताओं के साथ इनमें विपुल मात्र में मुहावरों और कहावतों तथा रस का यथावश्यक प्रयोग किया गया है। भावाभिव्यक्ति की प्रबलता के लिए मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाषा प्रभावी बन जाती है और साहित्य में आकर्षण के साथ जनसामान्य की रुचि को भी बढ़ावा देती है।

4.4.5. काव्य-रूप तथा छन्द-योजना

हिन्दी साहित्य में काव्य के दो रूप मिलते हैं – एक, प्रबन्धकाव्य और दूसरा, मुक्तककाव्य। प्रबन्धकाव्य उसे कहा जाता है जहाँ छन्दों की योजना कथानक के आधार पर क्रमबद्ध तरीके से की जाती है। इनमें क्रम परिवर्तन नहीं किया जा सकता जबकि मुक्तक काव्य में ये उपबन्ध लागू नहीं होते। वे अपने आप में पूर्ण होते हैं। जिनके क्रम परिवर्तानादि का उसके छन्द पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य का क्षेत्र व्यापक होता है। इसमें किसी पात्र के सम्पूर्ण जीवन की गाथा होती है तो खण्डकाव्य में किसी प्रसंग को आधार बनाकर उसका आख्यान किया जाता है। प्रबन्धकाव्य में सर्गबद्ध तरीके से घटनाओं का नियोजन किया जाता है।

प्रबन्धकाव्य की ही तरह एक फ़ारसी शैली है – 'मसनवी'। इसका प्रयोग इन सूफी कवियों ने अपने काव्य सृजन में किया है। ये सर्गबद्ध काव्य तो नहीं होते, बल्कि घटना विशेष के आधार पर उनका एक शीर्षक होता है। हिन्दी के प्रबन्ध काव्य की तरह मसनवी में सर्गों को लेकर कोई नियम नहीं हैं। मसनवी में एक खण्ड में एक ही छन्द का प्रयोग किया जाता है और अन्त में यदि छन्द में परिवर्तन होता है तो वह कथानक के परिवेश में बदलाव का परिचय देता है। वाक्य पूर्णता के साथ उसमें अंत्यानुप्रास होता है। यहाँ किसी प्रकार का छन्द परिवर्तन नहीं होता। सूफियों के काव्य में दोहे और चौपाइयाँ ही मिलती हैं। मसनवी में चौपाई को द्वीपदी कहते हैं, क्योंकि मसनवी में एक छन्द दो चरणों का माना गया है। प्रबन्ध काव्य में कवि को अपने ज्ञान के प्रचार के लिए विविध छन्दों के प्रयोग की छूट होती है, परन्तु मसनवी में छन्दों का यह वैविध्य नहीं दिखता। हाँ, किसी प्रसंग का यहाँ घटना वैचित्र्य के साथ चित्रण हो सकता है। मसनवी की काव्य शैली वर्णनात्मक है। अतः कई जगह ये सूफी कवि कुछ प्रसंगों के ज्यादा वर्णनों में भी रुचि दिखाते हैं। जो पाठक के लिए अरुचिकर हो जाता है।

हिन्दी प्रबन्ध काव्य में काल्पनिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। जो भी वर्णन होता है वह घटनाओं के सापेक्ष ही होना अपेक्षित होता है जबकि मसनवी शैली में कई कथानकों की काल्पनिकता देखी जा सकती है। जिसमें चमत्कार, तिलिस्मादि प्रकार के कथानक शामिल हैं। इसी प्रकार रस निरूपण मसनवी शैली का अनिवार्य अंग नहीं है। फिर भी सूफी प्रेमाख्यानों में वर्णनात्मकता होकर भी रस नियोजन किया गया है। जहाँ एक ओर प्रबन्ध काव्य में रचनाओं के नाम घटनाओं पर आधारित होते हैं वहीं अधिकांश सूफी प्रेमाख्यानों के नाम कथा-

नायिका के नाम पर किए गए हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति के विविध उपादान, सामाजिक क्रिया-कलाप, रीति-रिवाज, लोकाचार आदि का वर्णन मसनवी में प्रबन्ध काव्य की तरह ही हुआ है।

सूफी काव्य मूलतः प्रेमाभिव्यक्ति का काव्य है, जिसमें सूफी कवि किसी लोकप्रसिद्ध लोककथा अथवा लोकगाथा में प्रेम प्रसंगों का नियोजन करते हैं और उसी के माध्यम से अपने अलौकिक सिद्धान्त को भी प्रस्तुत करते हैं। कई बार मूल कथा के साथ एक सहकथा भी चलती रहती है। विद्वानों ने मसनवी को पाँच भागों में विभक्त करके उन्हें अध्ययन सुलभ बनाया है। प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नीयाताप्ति और फलाश्रुति। कथा आरम्भ के अनुरूप सभी नायकों की उत्पत्ति, उनकी योग्यता और भविष्य निर्धारण में अद्‌भुत चमत्कारी कल्पना की गई है। तदुपरान्त नायक-नायिका की मुलाकात का माध्यम कोई जीव होता है, जैसे – 'पद्मावत' का हीरामन तोता। इसके बाद प्रियतम के दर्शन हो जाने के बाद उसकी प्राप्ति की तीव्र इच्छा होती है। यही प्राप्त्याशा है। जिसके बाद नायक नायिका की विरह-वेदना, बिछोह आदि स्थितियाँ नीयाताप्ति कही गई हैं और अन्त में कथा की फलाश्रुति होती है। इन प्रेमाख्यानों में प्रेमी और प्रेमिका के मिलन की अपेक्षा होते हुए भी सूफियों के कई प्रेमाख्यानों में ऐसा नहीं होता। इस तरह एक के बाद एक प्रसंगों का चित्रण इन सूफी कवियों ने अपने कथानकों में किया है। सार रूप में कहें तो सूफी काव्य में कथा शब्द के प्रयोग से ही इसकी प्रबन्धात्मकता का आभास हो जाता है।

देशकाल और वातावरण का भी चित्रण इन सूफी काव्यों में मिलता है। प्रबन्ध काव्य के नायकों की तरह ही सूफी कवियों के नायक तमाम गुणों से युक्त एवं सम्मानित स्तर केहैं। लगभग सभी का प्रेमी रूप ही इन काव्यों में उभरकर सामने आया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के प्रबन्धकाव्य की कई विशेषताएँ इन मसनवी काव्य में मिलती हैं जिसके आधार पर इन्हें प्रबन्ध रचना के स्तर की रचनाएँ कही जा सकती हैं। यद्यपि इसकी मूल रचना प्रबन्धकाव्य से कुछ भिन्न जरूर है अतः इसे फ़ारसी की मसनवी और भारतीय प्रबन्धकाव्य का समन्वित रूप कहा जा सकता है। प्रेम निरूपण के लिए सूफी कवियों ने रसराज शृंगार का प्रधानतः उपयोग किया। इसके अलावा वीर रस, करुण रस, युद्ध के दौरान वीभत्स रस, हास्य, वात्सल्य, रौद्र आदि रसों का विषयानुकूल उपयोग इन सूफी कवियों ने किया।

छन्द की दृष्टि से प्रबन्धकाव्यों में एक सर्ग या खण्ड में एक ही प्रकार के छन्द की प्रयुक्ति की जाती है। यद्यपि अपने ज्ञान और विद्वता के प्रचारार्थ वह एक से ज्यादा छन्दों का भी उपयोग कर सकता है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्य में दोहा और चौपाई छन्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु सूफी कवि नूर मुहम्मद ने दोहों की जगह बरवै छन्द का प्रयोग किया तो कवि नासिर ने षटऋतु वर्णन करते हुए सवैय्या छन्द का प्रयोग किया। फुटकर मुक्तक सूफी काव्यों में झूलना, कुण्डलियाँ, फ़ारसी के वजन, मित्र छन्द जैसे विविध छन्दों के माध्यम से भी अपने भावों को अभिव्यक्ति दी। जान कवि की रचनाओं में दोहा-चौपाई के अलावा उपर्युक्त अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इन सूफी कवियों ने दोहा और चौपाई के माध्यम से चरितकाव्य रचने की प्रथा बनाई। इन चौपाइयों को द्विपदी समझकर अपने काव्यों में पाँच, सात अथवा नौ अर्धालियों के बाद एक दोहे का प्रयोग किया जबकि शेख रहीम के काव्य में चौपाई की परम्परा के अनुरूप छुपाई के चार ही पद हैं। इसके अलावा कई ऐसे भी सूफी कवि हैं

जिनकी रचनाओं में ऐसा कोई क्रम नियोजन नहीं मिलता। अली मुराद, शाह नज़फ़, अली सलोनी और कवि निसार ऐसे ही सूफी कवि थे। अलंकारों का प्रयोग प्रसंगानुरूप हुआ है न की बहुज्ञता प्रदर्शन के लिए। छन्दों के प्रयोग में जान कवि ने अपनी विद्वता दिखाई है।

सूफियों के मसनवी में एक छन्द या बहर का प्रयोग किया होता है। छन्दों की एकरूपता आवश्यक होती है। इस पर अपभ्रंश के चरित काव्यों का भी प्रभाव देखा जा सकता है। प्रबन्ध काव्य की तरह कथा का आरम्भ मंगलाचरण की तरह ही मुहम्मद साहब का गुणगान किया जाता है। इसके बाद उनके चार खलीफाओं और मुहम्मद साहब की पुत्री और उनके पति और पुत्रों का गुणगान किए जाने की प्रथा है। सभी सूफी कवियों ने मसनवी की प्रथा का निर्वाह किया है। आत्म परिचय के साथ काव्य सृजन का उद्देश्य बताने की भी प्रथा यहाँ है। कथा का विभाजन घटना या प्रसंगानुरूप होता है।

विद्वानों ने मसनवी को चार अंगों में विभक्त किया है – (i) बड़े महाकाव्य, (ii) प्रेमाख्यान काव्य, (iii) सामान्य काव्य और (iv) उद्देश्य विशेष हेतु लिखे कुछ स्फुट काव्य। सूफी प्रेमाख्यानों में मुल्ला दौड़ की चन्दायन या नूरकचन्दा, दामो कवि की लक्ष्मण सेन पद्मावती, शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी की प्रेमवनजोब निरंजन, कुतुबन की मृगावती, जायसी का पद्मावत, मंझन की मधुमालती, उस्मान की चित्रावली, शेख नबी की ज्ञानदीप, जान कवि की कनकावती, कामलता, मधुकर मालती, कथा रत्नावती, छीता, कासिम शाह की हँस जवाहिर, नूर मुहम्मद की इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी, कवि निसार की युसुफ़ जुलेखा, ख्वाजा अहमद की नूरजहाँ, शेख रहीम की प्रेमरस कवि नसीर का प्रेमदर्पण आदि महत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यान हैं। इनमें सूफियों की वर्णनात्मक शैली के कारण ये काव्य प्रेमाख्यान काव्य की कोटि में आ जाते हैं। इनके कथानक प्रेमकथाएँ हैं। अधिकांश कथाओं का समापन प्रेमी और प्रेमिकाओं के मिलन के सुखान्त की बजाय दुखान्त में किया गया है। यद्यपि कुछ रचनाएँ सुखान्त भी मिलती हैं।

4.4.6. पाठ-सार

भारतीय परिवेश में मुस्लिमों के आगमन के साथ दो संस्कृतियों का आपसी संक्रमण हुआ। लेकिन दो संस्कृतियों का यह संक्रमण सहज ही आसान नहीं था। भारतीय संस्कृति के कुछ पक्ष ऐसे थे जहाँ समन्वय की स्थापना हो पाना सम्भव ही नहीं था। ऐसे में सन्त और सूफी कवियों ने दोनों के बीच सामंजस्य की स्थापना का सफल प्रयास किया। इन सन्त और सूफियों ने धार्मिक रूढ़ियों से परे जाकर जनमानस को सदाचरण के लिए प्रेरित किया। जनमानस में व्याप्त हताशा और निराशा को दूर करने के लिए सन्तों ने अपनी स्पष्टोक्ति और सूफियों ने अपने प्रेमाख्यानों के सहारे परमात्मा की उपासना का मार्ग बताया। दोनों का ही उद्देश्य दोनों संस्कृतियों में आपसी तालमेल और समन्वय की स्थापना करना था। अपने इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण और उदारता के कारण तत्कालीन साहित्य, समाज, धर्म, संगीत और विविध कलाओं पर इनके प्रभावों को देखा जा सकता है। इनकी आरम्भिक रचनाओं में कुछ सूफी कवियों में इस उदारता का आभाव अवश्य है। जैसे कवि निसार और नूर मुहम्मद में इस्लाम का आकर्षण अधिक है। किन्तु समय के साथ-साथ अन्य सूफी कवियों की रचनाओं में

शिवोपासना, शक्ति की उपासना, वैष्णव भक्ति का भी प्रभाव इनकी उदार वृत्ति का ही परिचय देता है। सूफियों ने भारतीय परम्पराओं की विविध उपासना पद्धतियों में निहित सभी अच्छाइयों का अंगीकार किया। सूफियों की रचनाओं में लोकतत्त्व संरक्षण पाते गए और अपनी लोकप्रियता के कारण प्रेमाख्यानों काफी फले-फूले. प्रबन्ध और मसनवी के संयोग से जो-जो प्रेमाख्यान रचे गए वे हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही संस्कृतियों में समादृतहैं।

सूफी काव्य प्रेमाभिव्यक्ति का काव्य है। धार्मिक कट्टरता और परस्पर द्वन्द्व की अपेक्षा सूफियों ने प्रेम मार्ग का अवलम्बन करते हुए अपने मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। अपने काव्य में लोकतत्त्व को प्रधानता देते हुए स्थानीय लोकाचारों, लोककथाओं और लोकगाथाओं को माध्यम बनाकर इन कवियों ने सामाजिक आत्मीयता और लोकप्रियता हासिल की। जीवन के लगभग सभी पक्षों परिवार, समाज, लोकचार, रहन-सहन, पूजा-पाठ, व्रत-त्योहार, सामाजिक और धार्मिक उत्सव, विवाह संस्कार, सामाजिक लोक विश्वास, जादू-टोना, भूत-प्रेत, चमत्कार, रीति-रिवाज, लोकगीत, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ आदि सभी अंगों का यहाँ सम्यक् विवेचन कर अपनी व्यापक लोकदृष्टि का भी परिचय दिया है।

सूफी काव्य में लोकजीवन की झाँकी प्रस्तुत करते समय इन कवियों ने लोकजीवन की मर्यादाओं का अखण्ड निर्वाह किया है। वे अपना सन्देश लोकमर्यादाओं के दायरे में ही रखर देना चाहते थे। अतः सूफी काव्य में कहीं भी सभ्यता और संस्कृति के विरोध में कोई गतिविधि नहीं मिलती और जो मिलती भी हैं वे स्वभाव सुलभ हैं कालान्तर में कवि ने अपने कथानक में उसे सुधार भी दिया है। तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश की अभिव्यक्ति के साथ सूफी काव्य ने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि भी की।

4.4.7. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सूफी काव्य का मुख्य वर्ण्य विषयहै –
   (क) भक्ति निरूपण
   (ख) शक्ति प्रदर्शन
   (ग) प्रेम निरूपण

2. सूफी कवियों का भारतीय परिवेश में पदार्पण हुआ-
   (क) इंग्लैंड से
   (ख) ग्रीस से
   (ग) सिन्ध से

3. सूफी कवियों के काव्य को कहा जाता है –

(क) महाकाव्य
(ख) खण्डकाव्य
(ग) प्रेमाख्यान

4. सूफी काव्य निम्नलिखित में से किसका समन्वित रूप हैं ?
   (क) प्रबन्ध काव्य और मसनवी
   (ख) उपन्यास और आत्मकथा
   (ग) नाटक और एकांकी

5. सूफी काव्य के मुख्य छन्द के प्रकार हैं –
   (क) रोला और उल्लाला
   (ख) छप्पय और सोरठा
   (ग) दोहा और चौपाई

लघूत्तरीय प्रश्न

1. सूफी काव्य की भाषा बताइए।
2. सूफी काव्य को प्रेमाख्यान क्यों कहा जाता है ?
3. मसनवी छन्द किस भारतीय काव्य-रूप का ही एक प्रकार है ?
4. मसनवी के अन्तर्गत सर्गों का विभाजन किस आधार पर होता है ?
5. कवि नूर मुहम्मद की काव्य भाषा का परिचय दीजिए।

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. सूफी कवियों की लोकदृष्टि का परिचय दीजिए।
2. सूफी काव्य की भाषा शैली पर प्रकाश डालिए।
3. सूफी काव्य के छन्द-विधान की जानकारी दीजिए।
4. सूफी कवियों के काव्य-रूपों का विवेचन कीजिए।
5. मसनवी और भारतीय प्रबन्धकाव्य के साम्य-वैषम्य की जानकारी दीजिए।

❖❖❖

खण्ड – 5 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य-परम्परा

इकाई – 1 : कृष्णभक्ति-काव्य का दार्शनिक आधार, कृष्णभक्ति-काव्य-परम्परा, वल्लभ सम्प्रदाय, अष्टछाप, पुष्टिमार्ग

इकाई की रूपरेखा

5.1.0 उद्देश्य
5.1.1 प्रस्तावना
5.1.2 कृष्णभक्ति-काव्य का दार्शनिक आधार
5.1.2.1 कृष्णभक्ति-काव्य-परम्परा
5.1.2.2 वल्लभ सम्प्रदाय
5.1.2.3 अष्टछाप
5.1.2.4 पुष्टिमार्ग
5.1.3 बोधप्रश्न
5.1.4 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

5.1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. कृष्णभक्ति-काव्य के दार्शनिक आधार पर बात कर सकेंगे।
ii. कृष्णभक्ति-काव्य के परम्परा की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iii. वल्लभ सम्प्रदाय, अष्टछाप और पुष्टिमार्ग पर चर्चा कर सकेंगे।

5.1.1 प्रस्तावना

मध्यकाल में भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हुए। मुहम्मद गोरी ने मुस्लिम-राज्य की नींव डाली और भारत वर्ष में मुस्लिम-शासन का युग प्रारम्भ हो गया, जिससे हिन्दू पराधीनता की बेड़ियों में आबद्ध हो गए। इस प्रकार की परिस्थितियों के कारण हिन्दू जनसमुदाय पर उदासी छाई हुई थी। हताश जनता केवल भक्ति के सहारे रह गई थी। विद्वानों ने इसे एक वजह माना है जिससे जन-समुदाय भक्ति की ओर आकृष्ट हुआ। मुस्लिम-शासन के कारण हिन्दू-धर्म की प्राचीन मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया। इसी काल में कवि रामानन्द, कबीर तथा रैदास जैसे सन्त हुए जिन्होंने जाति-पाँति, मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड आदि पुरानी मान्यताओं का विरोध किया। इन सन्तों ने निराश हिन्दू जनता के हृदय में एक नवीन आलोक जगाया तथा समाज की रूढ़ीवादी मान्यताओं को समाप्त करके नूतन क्रान्ति को जन्म दिया। सन्त काव्य में वाटिका-सा श्रमसाध्य कृत्रिम सौन्दर्य नहीं, अपितु उसमें वनराजि की प्रकृति-श्री है। इन काव्यों में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है।

यह अभिव्यक्ति जन-जीवन में डूबी हुई अनुभूतियों से सम्पन्न है। सन्त काव्य ने अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, किन्तु इनमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं, बल्कि जन-भाषा में उसका मर्म है। इस काव्य में जन-जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकारविहीन सीधी-सादी भाषा में है, जहाँ पग-पग पर स्वाधीन चिन्तन प्रतिफलित हुआ है। सन्त साहित्य साधना, लोक-पक्ष तथा काव्य-वैभव सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सन्तकवियों की विचार-सरणी निजी अनुभूतियों पर आधारित है, अतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की कोमलता है। सन्त साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में भक्ति की दो धाराएँ प्रवाहित हुईं – (i) निर्गुण तथा (ii) सगुण। निर्गुण शाखा के अन्तर्गत सन्तों और सूफियों का साहित्य परिगणित किया जाता है। निर्गुण सन्तों में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता है जबकि सूफी कवियों में प्रेम का अत्यधिक महत्त्व है, पर दोनों के यहाँ ईश्वर निर्गुण हैं। मध्यकालीन सगुण सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से पोषण प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय की दोनों शाखाओं – रामभक्ति-धारा और कृष्णभक्ति-धारा में ईश्वर सगुण हैं। इन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति में से भक्ति को ही अपने उपजीव्य के रूप में ग्रहण किया। हिन्दी के वैष्णव भक्तकवियों ने ज्ञान की अवहेलना तो नहीं की पर उसे भक्ति जैसा समर्थ भी नहीं बताया। ज्ञान तारक तो है पर वह कष्ट साध्य और कृपाण की धार के समान है। इन भक्तकवियों से बहुत पहले ही सिद्ध अपनी कष्टसाध्य साधना-पद्धतियों से जन-सामान्य को विस्मित कर चुके थे, नाथपंथी अपनी योगप्रणाली द्वारा लोक को चमत्कृत करने में अपने आपको कृतकृत्य मान रहे थे और इधर निर्गुणवादी सन्तों की वाणी कर्मकाण्ड का घोर तिरस्कार करती हुई परम्परा के प्रति अनास्था को जन्म दे रही थी। ऐसे में इन सगुण भक्तकवियों ने एक नूतन भाव-क्रान्ति को जन्म दिया।

सगुण सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म और शक्ति का समृद्ध साहित्य है। इस साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं – भगवद्गीता, विष्णु और भागवत पुराण, पंचरात्र संहिताएँ, नारद-भक्ति-सूत्र और शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र। इनके अतिरिक्त आलवार भक्तों की रचनाएँ भी वैष्णवों की अमूल्य निधि हैं। दक्षिण के आचार्यों – नाथमुनि, यमुनाचार्य, रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने सगुणभक्ति-धारा को निजी अनुभूतियों एवं शास्त्रीय दार्शनिकता से संवलित किया। इन आचार्यों ने सगुण भक्ति के उस रूप को प्रतिष्ठा की जिसमें मानव हृदय विश्राम भी पाता है और कलात्मक सौन्दर्य से मुग्ध और तृप्त भी होता है।

5.1.2 कृष्णभक्ति-काव्य का दार्शनिक आधार

भारतीय धर्म साधना, संस्कृति, साहित्य तथा कलाएँ कृष्ण के विलक्षण व्यक्तित्व से जिस रूप में प्रभावित हैं उतनी किसी अन्य चरित्र से नहीं। यह प्रभाव ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में अधिक गहरा और लोकव्यापी हुआ। कृष्ण आख्यान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है जो कि प्राचीन भारतीय साहित्य में विविध रूपों में उपलब्ध होती है। वैदिक और संस्कृत साहित्य में कृष्ण के तीन रूप मिलते हैं – (i) ऋषि एवं धर्मोपदेशक (ii) नीति विशारद क्षत्रिय राजा (iii) बाल और किशोर रूप में विभिन्न प्रकार की अलौकिक तथा लौकिक लीला करने वाले अवतारी पुरुष। प्रथम रूप का विकास भगवद्गीता में, दूसरे का महाभारत में तथा तीसरे का पुराणों में हुआ।

कृष्ण (आंगिरस) का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, जिसके अनुसार वे एक स्रोता ऋषि सिद्ध होते हैं। वहाँ वे अपने पौत्र विष्णापु के पुनर्जीवन के लिए अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करते हैं। ऋग्वेद में कृष्ण नाम के एक असुर का भी उल्लेख हुआ है जो कि अपने सहस्र योद्धाओं के साथ इन्द्र द्वारा पराजित किया गया था। आंगिरस कृष्ण और कृष्णासुर एक ही हैं, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि "प्रसिद्ध कृष्णाख्यान में कृष्ण के सम्मुख प्रसिद्ध देवता इन्द्र को जो हीन और निर्वीर्य चित्रित किया गया है, उसे वैदिक कृष्णासुर के सन्दर्भ की प्रतिक्रिया समझा जाए तो असंगत नहीं होगा।" किन्तु यह कल्पना निराधार है। वास्तविकता यह है कि वैदिक काल में विष्णु एक अप्रधान देवता के रूप में था और बाद में पौराणिक साहित्य में विष्णु को सर्वसम्मति से इन्द्रदेव मान लिया गया। कृष्ण के विष्णु अवतार होने के कारण उसके सम्मुख इन्द्र को निश्चित रूप से हीन सिद्ध किया जा सकता है। अस्तु ! छांदोग्य उपनिषद् में कृष्ण का उल्लेख देवकी-पुत्र, आंगिरस के शिष्य एवं एक वैदिक ऋषि के रूप में हुआ है। महाभारत के प्रारम्भिक भागों में कृष्ण पाण्डवों के सखा और एक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किए गए हैं तथा अन्तिम अंशों में विष्णु के अवतार के रूप में। सभापर्व में शिशुपाल के कुछ शब्दों के अतिरिक्त महाभारत में कृष्ण के गोपजीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। परवर्ती पुराणों हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त आदि में उनके बाल्यावस्था सम्बन्धी आख्यानों और गोप-जीवन सम्बन्धी क्रीड़ाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कृष्ण की रसलीला और गोपियों के प्रेम का विस्तृत रूप में वर्णन-चित्रण लगभग नौवीं शताब्दी में रचित भागवत पुराण में हुआ है। इसमें कृष्ण की एक विशेष आराधिका गोपबालिका का भी उल्लेख हुआ है जो कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में गोपियों में सर्वाधिक प्रभावशाली राधा के रूप में चित्रित हुई है। वस्तुतः कृष्ण के तीनों रूप भागवत धर्म की तीन विभिन्न अवस्थाओं के परिचायक हैं। आरम्भ में भागवत धर्म में सरल और भावपूर्ण उपासना की प्रधानता थी जिसका प्रतिपादन छांदोग्य उपनिषद् और गीता के कृष्ण के द्वारा हुआ है। महाभारत-युग में भागवत धर्म, भावना प्रधान होते हुए भी कर्म का विरोधी नहीं है अतः उसमें कृष्ण की कर्मशीलता का चित्रण हुआ है। सम्भवतः महाभारत में चित्रित व्यक्ति कृष्ण का मूल ऐतिहासिक रूप है जो परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे परिवर्तित, विकसित एवं विकृत होता गया। पौराणिक युग में भागवत धर्म बौद्ध, जैन, शैव, महायान, वज्रयान एवं तांत्रिकों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कामुकता और विलासिता से परिपूर्ण होता गया, जिससे वह जनसाधारण के आकर्षण का केन्द्र बन सके। डॉ॰ भण्डारकर गोपालकृष्ण को वासुदेवकृष्ण से भिन्न मानते हैं, किन्तु उनका यह मत भ्रामक सिद्ध हो चुका है। डॉ॰ ए.डी. पुसाल्कर ने लिखा है कि कृष्ण ने गोकुल में गोपियों के संग सामूहिक नृत्य-गानादि में भाग लिया था जो उनके कला-प्रेम का द्योतक है। आगे चलकर इसी को प्रणय-क्रीड़ा का रूप दे दिया गया। अतः मूलतः गोकुल के कृष्ण के चरित्र में कोई ऐसा दोष नहीं मिलता जिससे उनकी सत्ता महाभारत के कृष्ण या गीता के कृष्ण से भिन्न मानी जाए।

केनेडी और बेबर, ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अनुमान लगाया था कि गोपालकृष्ण का बाल चरित्र जिसे वैष्णव भक्तों ने प्रेमाभक्ति के अवलम्बन रूप में अपनाया, क्राइस्ट के बाल चरित का अनुकरण है किन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक है – पूतना को वर्जिल तथा प्रसाद को लवफीस्टम मानने का विचार सर्वथा अमान्य है। सम्भावना यह है कि गोपालकृष्ण मूलतः शूरसेन प्रदेश के सात्वत वृष्णिवंशी पशु-पालक क्षत्रियों के कुल-देव थे

और उनके क्रीड़ा-कौतुक की मनोरंजक कथाएँ खूब लोकप्रचलित थीं। कुछ जातियों में आज तक बाल और किशोर कान्ह की ललित लीलाएँ जातीय उत्सवों का विषय बनी हुई हैं। मध्यकालीन भाषा-कवियों ने भी कृष्ण की मधुर और ललित कथाओं को जो लोक-गीतों और लोक-कथाओं के माध्यम से प्रचलित थीं, अपने साहित्य का विषय बनाया। उनका ध्यान महाभारत तथा पुराणों में वर्णित कृष्ण के ऐश्वर्य एवं पराक्रम पूर्ण चरित्र पर नहीं गया। अस्तु ! हरिवंशपुराण तथा अन्य पुराणों में कृष्ण के शृंगारी रूप के दो पक्ष मिलते हैं – एक, उनका राजसी वैभवविलास का ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र तथा दूसरा, उनका गोपाल रूप में ग्रामीण केलि-क्रीड़ा का माधुर्यपूर्ण चरित। हरिवंशपुराण तथा विष्णुपुराण में गोपाल कृष्ण की लीला भागवतपुराण, पद्मपुराण और वैवर्तपुराण की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त रूप में दी गई है। पुराणों में सबसे पहले भागवतपुराण में ही गोपाल कृष्ण के जन्म से लेकर द्वारिका-प्रवास तक का सम्पूर्ण चरित्र विस्तृत रूप में दिया गया है। इसमें कृष्ण के ऐश्वर्य और मधुर रूपों का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण है। मध्यकालीन कवियों पर भागवतपुराण का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवतकार ने भी गोपालकृष्ण की लोक विश्रुत कथाओं और अप्रचलित लोकवार्ताओं का सदुपयोग करके अपनी उर्वरा कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। गोपाल कृष्ण की ललित कथा के लोक-प्रचलित होने के प्रमाण कुछ पाषाण मूर्तियों तथा शिला-पट्टों पर उत्कीर्ण चित्रों में भी मिले हैं। इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर छठी, सातवीं शताब्दी तक है।

महाभारत में अनेक ऐसे स्थल देखे जा सकते हैं जहाँ कृष्ण के पूजे जाने का उल्लेख है। महाभारत के कृष्ण केवल नीति विशारद न होकर धर्मात्मा भी है। अर्जुन और युधिष्ठिर उन्हें पूज्य बुद्धि से देखते हैं। वेदव्यास जैसे ऋषि ने कृष्ण को अपने से अधिक धर्म-धुरंधर स्वीकार किया है। महाभारत के पश्चात् शताब्दियों तक कृष्ण-पूजा का प्रचलन अवश्य रहा। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में मथुरा के आसपास कृष्ण-पूजा के प्रचलन का उल्लेख मेगस्थनीज़ के यात्रा-विवरण से मिलता है। आगे चलकर जैनों और बौद्धों से प्रतिस्पर्धा में भागवत धर्म के प्रचारकों ने विष्णु के अवतार राम-कृष्ण की उपासना एवं भक्ति का प्रचार किया। फिर भी मौर्य युग तक बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार नहीं हो सका। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गुप्त सम्राटों ने भागवत धर्म स्वीकार करके उसकी खूब उन्नति की। सातवीं-आठवीं शताब्दी तक दक्षिण-भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार ज़ोरों से हुआ। प्रसिद्ध आलवर भक्तों में से अनेक कृष्ण–भक्त थे। कृष्ण-भक्ति को अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान करने वाले भागवतपुराण की रचना भी दक्षिण में ही हुई थी।

5.1.2.1 कृष्णभक्ति-काव्य-परम्परा

संस्कृत काव्यों में कृष्ण-भक्ति का स्वरूप प्राचीन काल से विकसित हो गया था। अश्वघोष (प्रथम शताब्दी) के बुद्ध चरित्र में लोक प्रचलित गोपालकृष्ण की लीला का उल्लेख मिलता है। हाल सातवाहन (प्रथम शती) ने प्राकृत भाषाओं का संग्रह करवाया। उनमें कृष्ण, राधा, गोपी और यशोदा आदि का उल्लेख हुआ है। इन गाथाओं में कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन है। लेकिन इन गाथाओं में भक्ति-भावना के दर्शन नहीं मिलते, फिर भी इन गाथाओं का कृष्णभक्ति में काफ़ी उपयोग हुआ। दक्षिण के आलवार सन्तों द्वारा वर्णित कृष्ण-भक्ति उसी का लोक-प्रचलित स्वरूप है। भट्ट नारायण (8वीं सदी) ने अपने 'वेणीसंहार' नाटक में नांदी के श्लोक में रास

के अन्तर्गत राधा के केलिकुपित होने पर कृष्ण के अनुनय का वर्णन किया है। 9वीं शती में आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' तथा दसवीं शती के कवीन्द्र-वचन समुच्चय में कृष्ण-लीला सम्बन्धी पद प्राप्त होते हैं। बारहवीं शती में हेमचन्द्र ने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में राधा-कृष्ण सम्बन्धी दो पद उद्धृत किए हैं। इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि बारहवीं शताब्दी में राधा-कृष्ण सम्बन्धी अनेक नाटकों और काव्यों का प्रणयन हुआ। लीलाशुक का कृष्णमत स्रोत्र इसी सदी की रचना है। जयदेव का गीत-गोविन्द राधा-माधव के उद्दाम शृंगार का वर्णन करते हुए भी एक धार्मिक काव्य है। विद्यापति गीतगोविन्दकार से अत्यधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। गीत-गोविन्द के अनुकरण पर संस्कृत साहित्य में अनेक कृष्ण काव्यों की रचना हुई। बारहवीं सदी के बाद अनेक कृष्ण चरित सम्बन्धी प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई। सोलहवीं शती में गौड़ीय वैष्णव मत के अनुयायी विद्वान् पण्डित गोस्वामी ने 'नाटक-चन्द्रिका' में केशव-चरित तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' में गोविन्द-विलास का उल्लेख किया तथा उद्धरण भी प्रस्तुत किए। रूप-गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि ने मध्यकालीन कृष्ण-काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया। इस सम्बन्ध में डॉ॰ ब्रजेश्वर वर्मा लिखते हैं – "इस प्रकार आधुनिक भाषाओं में कृष्ण-भक्ति साहित्य की रचना होने से पूर्व प्राकृत और संस्कृत साहित्य की एक लम्बी परम्परा थी। इस साहित्य का लोकगीतों तथा लोक-गाथाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा वह अधिकतर गीति तथा मुक्तक रूप में था। जो रचनाएँ प्रबन्ध काव्य और नाट्य के रूप में हुईं, उनमें भी कदाचित् गीति-भावना प्रधान रही होगी। सम्भवतः इसी कारण संस्कृत साहित्य में उन्हें अधिक गौरव का स्थान नहीं मिल सका। परन्तु आगे चलकर परिस्थितियाँ बदल गईं, जिसके फलस्वरूप काव्य की प्रेरणा, भावना, रूप और भाषा में आमूल परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन क्रम में हिन्दी कृष्णकाव्य को जन्म मिला जिसकी प्रकृति मूलतः धार्मिक है।"

कुमारिल और शंकर (8-9 वीं शताब्दी) के मायावाद के कारण भक्ति-आन्दोलन तेज़ी से नहीं चल सका, लेकिन आगे चलकर रामानन्द (11वीं सदी), मध्व (1199-1303), निम्बार्क (12-13वीं शती), वल्लभ (1479 से 1530), चैतन्य (16वीं शती), हितहरिवंश (17वीं शती) आदि आचार्यों ने भक्ति-विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन करके भक्ति का प्रचार किया और अपने-अपने सम्प्रदायों की स्थापना की। कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित प्रमुख सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं – विष्णु सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय, रामानुज का श्री सम्प्रदाय, रामानन्द सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय आदि। हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य पर वल्लभ सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

हिन्दी से कृष्ण-काव्य का आरम्भ अनेक विद्वानों ने विद्यापति से माना है पर इस सम्बन्ध में याद रखना होगा कि विद्यापति-पदावली में राधा और कृष्ण के मादक शृंगारी चित्र हैं जिसमें भक्ति का अभाव है और वासना का रंग गहरा है। इस कारण विद्यापति-पदावली को विशुद्ध रूप से कृष्ण-भक्ति-काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। यह सिद्ध हो चुका है कि विद्यापति शैव भक्त थे। कृष्णकाव्य में समरसता और प्राणों का संचार करने का श्रेय महाकवि सूरदास को है। सूर द्वारा कृष्ण-काव्य को अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। सम्भव है कि इसी लोकप्रियता के परिणामस्वरूप तुलसी ने अपनी कृष्णगीतावली में कृष्ण की सरस लीलाओं का चित्रण किया हो। पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति के प्रसार एवं प्रचार में अमूल्य योगदान दिया। सूरदास इन

कवियों में अग्रगण्य हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवि हैं – कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुज और नन्ददास। इनमें नन्ददास तथा कृष्णदास का योगदान साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस दिशा में राजस्थान की प्रसिद्ध कवयित्री मीराबाई भी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी भक्ति दाम्पत्य भाव की है और इन्होंने राधा का स्थान स्वयं ही ग्रहण कर लिया। इनका काव्य भक्ति के गाम्भीर्य, सरसता और तन्मयता की दृष्टि से अपूर्व बन पड़ा है। कृष्णभक्त स्त्री कवयित्रियों में प्रवीणराय, कुंवरिबाई साई, रसिक बिहारी रत्निकुंबरि आदि ने कृष्णभक्ति सम्बन्धी सुन्दर रचनाएँ की हैं। कृष्णभक्त-कवियों में अकबर के दरबारी कवि गंग, रहीम, रसखान, बीरबल और टोडरमल भी प्रमुख हैं। रीतिकाल के कृष्णोपासक कवियों में नागरीदास, अलवेली अलि, चाचा हितवंदन दास, भगवतरसिक ललितकिशोरी तथा सहचरीशरण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रामधारीसिंह 'दिनकर' का कहना है कि – "भक्तिकालीन कृष्णभक्त-कवियों में जो स्थान सूरदास का है रीतिकालीन कृष्णभक्त-कवियों में वही स्थान आनन्दघन का है।" भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य तथा रीतिकालीन कृष्ण-काव्य में प्रेरणा और उद्देश्य का मौलिक अन्तर है। आधुनिककाल में भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल में कृष्ण सम्बन्धी रचनाएँ लिखी गईं, किन्तु उनमें भक्ति की अपेक्षा देश-प्रेम और सुधार की भावनाओं की अधिकता है। आधुनिक कृष्ण-काव्य में मौलिकता बहुत कम है। इस काल में कृष्ण को मानव रूप में चित्रित किया गया है जो कदाचित् बुद्धिवादी युग का प्रभाव है। आधुनिक कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरीऔध' तथा मैथिलीशरण गुप्त का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने कृष्णाचरित्र को आधार बनाकर काव्य-रचनाएँ कीं।

कृष्णभक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत यह कहा जा सकता है कि भारतीय धर्म-साधना क्षेत्र में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनका उद्देश्य शंकर के मायावाद का खण्डन करके भक्ति का प्रचार-प्रसार करना था। सोलहवीं शताब्दी में स्थापित सम्प्रदायों में विशेष रूप से वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य का गौड़ीय सम्प्रदाय, स्वामी हितहरिवंश का राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा स्वामी हरिदास का सखी सम्प्रदाय उल्लेखनीय है जिसमें कृष्णभक्ति साहित्य की रचना हुई। इन सम्प्रदायों में वल्लभ के पुष्टिमार्ग को छोड़कर शेष सभी सम्प्रदाय साधनापक्षी थे और उनमें कोई विशेष दार्शनिक विवेचन नहीं था किन्तु बाद में इन सम्प्रदायों में भी दार्शनिक भित्ति को सुदृढ़ बनाने का प्रयास जारी रहा। परवर्ती कृष्णभक्ति साहित्य पर वल्लभ के पुष्टिमार्ग तथा हित हरिवंश के राधावल्लभ सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव पड़ा।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय-धर्म-साधना, संस्कृति साहित्य और कलाएँ प्राचीन काल से अद्यतन कृष्ण के विलक्षण व्यक्तित्व से अद्वितीय रूप से प्रभावित हुई हैं। यह प्रभाव ईसा की 15वीं-16वीं शताब्दी में कृष्णभक्त-कवियों में अत्यन्त ही गहरा और लोकव्यापी हो गया। हिन्दी के मध्यकालीन कृष्णभक्त-कवियों के साहित्य में सरलता, माधुर्य, तल्लीनता अनुपम है।

5.1.2.2 वल्लभ सम्प्रदाय

भक्तिकालीन साहित्य गुणवत्ता और परिमाण दोनों दृष्टियों से अतीव महनीय बन पड़ा है। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में यह अपनी कोटि का विलक्षण साहित्य है। इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन-स्रोत रस है और इसका लक्ष्य सर्वोच्च मानवतावाद की प्रतिष्ठा है। इसमें हृदय, मन व आत्मा को तृप्त करने की अपार शक्ति है। तत्कालीन जनजीवन में व्याप्त विषाद, नैराश्य तथा कुण्ठाओं का विगलन इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। इस साहित्य में चर्चित समन्वयवादिता, भावात्मक एकता एवं सांस्कृतिक अभिन्नता अभिनन्दनीय तथा अनुकरणीय है। भक्तिकालीन साहित्य निश्चित रूप से अनुपम व विलक्षण और अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कालों के साहित्य से उत्तम है इसीलिए विद्वानों ने इसे युग को हिन्दी के स्वर्णयुग की संज्ञा से अभिहित किया है। आदिकालीन तथा रीतिकालीन साहित्य इसकी समकक्षता में नहीं ठहराए जा सकते। हाँ, आधुनिककाल का साहित्य विषय-व्यापकता एवं विधाओं की विविधता की दृष्टि से कुछ अंशों में भक्तिकालीन साहित्य से आगे निकल जाता है परन्तु अनुभूतियों की गहनता, उसके निश्छल प्रकाशन तथा भाव प्रवणता की दृष्टि से भक्तिकालीन साहित्य उससे कहीं अधिक प्रशस्त है। भक्तिकालीन साहित्य काव्यात्मक आदर्श, विषय-वस्तु के उत्कर्ष, काव्यसौष्ठव एवं शिल्प-विधान के प्रकर्ष, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के स्पष्ट प्रतिफलन तथा श्रेय व प्रेय समस्त दृष्टियों से सर्वोत्तम है। निर्गुण धारा के सन्तकाव्य एवं प्रेमाख्यानक काव्य तथा सगुण धारा के राम और कृष्णभक्ति काव्यों ने इस काल के साहित्य को भारती के भाल का गौरव बना दिया है।

भक्ति-आन्दोलन के विकास में तीन मुख्य सहायक तत्त्व हैं – (i) तत्कालीन सामाजिक जीवन के परिवर्तन, (ii) आचार्यों का दार्शनिक चिन्तन और (iii) भक्तकवियों की सृजनशीलता। जीवन के भौतिक और सामाजिक आधार के परिवर्तन, नए सामाजिक सम्बन्धों के विकास और नए वर्ग सन्तुलन के कारण विचारधारा के स्तर पर नए परिवर्तन सम्भव हुए, सामन्तवादी विरोधी चिन्तन और भावना के लिए नई ज़मीन तैयार हुई। भक्ति-दर्शन इसी नई ऐतिहासिक-सामाजिक ज़मीन पर विकसित हुआ। दर्शन के आचार्यों ने अपने चिन्तन से उसे सैद्धान्तिक रूप दिया। भक्तकवियों ने जनजीवन के नए यथार्थ और सामन्त विरोधी भावना की अभिव्यक्ति की। भक्तिकाव्य में शास्त्रमत और लोकमत, दार्शनिक चिन्तन और सहज भावना तथा जीवन की वास्तविकता और आध्यात्मिक चेतना की व्यंजना है। कृष्ण-भक्ति-काव्य में वैराग्य, निष्क्रियतावाद, मायावाद आदि के बदले जीवन की विभिन्न दशाओं, स्थितियों, भावनाओं को विशेष महत्त्व दिया गया है। श्रुति और स्मृति पर आधारित वैष्णव भक्ति के नाना सम्प्रदायों से मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य अत्यधिक प्रभावित हुआ है। अतः उपर्युक्त साहित्य के पोषक तत्त्वों की सम्यक् जानकारी के लिए उक्त सम्प्रदायों का अवबोधन आवश्यक है। इन सम्प्रदायों में रामानुजाचार्य का श्रीसम्प्रदाय, विष्णु गोस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य का निम्बार्क सम्प्रदाय, मध्वाचार्य का द्वैतवादी माध्व सम्प्रदाय, रामानन्द का विशिष्टाद्वैतवादी रामानन्द सम्प्रदाय, वल्लाभाचार्य का पुष्टि सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु का गौड़ीय अथवा चैतन्य सम्प्रदाय, हित हरिवंश का राधा वल्लभ सम्प्रदाय तथा हरिदासी सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबका मूल उद्देश्य शंकर के मायावाद का खण्डन कर भक्ति की स्थापना करना है।

पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे । इनका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है । इसमें वल्लभाचार्य ने शंकर की माया के लिए कोई स्थान नहीं दिया है । वल्लभ-सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताएँ विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क के सिद्धान्तों पर निर्भर करती है । वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द के रूप में सर्वव्यापक है । वह ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से प्रकट होता है । अग्नि की चिंगारियों के समान ब्रह्म से जीव और प्रकृति आविर्भूत होते हैं । यह सब कुछ ब्रह्म की रचनात्मक शक्ति का परिणाम है इसलिए इसमें माया का कोई स्थान नहीं है । ब्रह्म-स्वरूप कृष्ण के अनुग्रह से ही उसकी अनुभूति होती है, वह अनुग्रह की पोषक है । इसे ही पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित किया जाता है । इसी कारण वल्लभ सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग कहलाया । इस सम्प्रदाय के साहित्य में वात्सल्य और सख्यभाव की भक्ति का प्राधान्य है ।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि वल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त का मूल स्रोत श्रीमद्भागवत है, नारद पांचरात्र नहीं । वल्लभ सम्प्रदाय पर केवल निकट पूर्ववर्ती भक्तिग्रन्थों का ही प्रभाव संभाव्य नहीं है, अत्यन्त प्राचीन काल के भक्तिग्रन्थों का प्रभाव भी संभाव्य है । वल्लभ दिग्विजय के अनुसार वल्लभाचार्य का जन्म वैशाखकृष्ण, एकादशी, रविवार, संवत् 1535 वि. तथा तिरोधान ज्येष्ठ 10 संवत् 1587 वि. निश्चित है । उनके मुख्य ग्रन्थ हैं – 1. पूर्वमीमांसा भाष्य, 2. उत्तरमीमांसा या ब्रह्मसूत्र का अणुभाष्य, 3. भागवत की सूक्ष्म टीका और सुबोधिनी टीका, 4. तत्त्वदीप निबन्ध तथा 16 छोटे-छोटे प्रकरण ग्रन्थ । वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण सर्वोच्च ब्रह्म हैं । वे सच्चिदानन्द और पुरुषोत्तम हैं । भक्ति के लिए भगवान का अनुग्रह आवश्यक है । महापुष्टि ईश्वर प्राप्ति में बाधक तत्त्वों का परिहार करती है । ईश्वर अनुग्रह से ही प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है । प्रेमाभक्ति की प्राप्ति की तीन अवस्थाएँ हैं – प्रेम, आसक्ति और व्यम । राधाकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं, रामेश्वरी और रासेश्वरी । राधाकृष्ण की लीला में प्रवेश ही भक्ति का लक्ष्य है, जो भगवान के अनुग्रह से सम्भव है ।

5.1.2.3 अष्टछाप

हिन्दी कृष्ण-काव्य-परम्परा में आचार्य वल्लभाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है । इनके द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग में दीक्षित सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रेष्ठतम कृष्ण साहित्य का सृजन किया । वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप में दीक्षित सूरदास आदि अष्ट (आठ) कवियों की मण्डली अष्टसखा के नाम से भी जानी जाती है । सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से आठों कवि भगवान कृष्ण के सखा हैं । गुसाईं विट्ठलनाथ ने सं. 1602 के लगभग अपने पिता वल्लभ के 84 शिष्यों में से 04 तथा अपने 252 शिष्यों में से 04 का चयन कर सम्प्रदाय के इन आठ प्रख्यात भक्तकवियों तथा संगीतज्ञों की मण्डली स्थापित की । अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभ के चार प्रसिद्ध शिष्य थे – कुम्भनदास, परमानन्ददास, सूरदास तथा कृष्णदास अधिकारी । और, गुसाईं विट्ठलनाथ के प्रसिद्ध शिष्य थे – गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास । अष्टछाप के कवियों में आयु में सबसे बड़े कुम्भनदास तथा सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे । काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से इनमें सर्वोच्च स्थान सूरदास का है तथा उनके पश्चात् नन्ददास की गणना की जाती है । पद-रचना की दृष्टि से परमानन्ददास अप्रतिम हैं । गोविन्द स्वामी संगीत-मर्मज्ञ हैं । साहित्यिक दृष्टि अमहत्त्वपूर्ण होने पर भी कृष्णदास अधिकारी का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है । कृष्ण-भक्तों में साम्प्रदायिकता, लीलाओं में आध्यात्मिकता के स्थान पर इहलौकिकता, श्रीनाथजी के मन्दिर में विलासप्रधान

ऐश्वर्य, कृष्ण-भक्ति साहित्य में नख-शिख वर्णन तथा नायिकाभेद वर्णन का समावेश होने का बहुत-कुछ दायित्व इन्हीं पर है। इसके प्रमाण के लिए 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का अध्ययन करना उपयोगी रहेगा। अष्टछाप के शेष कवियों की प्रतिभा साधारण कोटि की है।

अष्टछाप के ये आठों भक्त समकालीन थे। ये सभी भक्त श्रेष्ठ रचनाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे तथा अपनी-अपनी पारी पर श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन, सेवा तथा प्रभुलीला सम्बन्धी पद रचना करते थे। गुसाईं विट्ठलनाथ ने इन अष्ट सखाओं पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई, अतः इनका नाम अष्टछाप पड़ा।

हिन्दी साहित्य में साहित्यिक, साम्प्रदायिक, धार्मिक, कलात्मक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टियों से अष्टछाप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अष्टछाप के समस्त कवि भगवान कृष्ण की नैमित्तिक लीलाओं से सम्बद्ध पदों की रचना किया करते थे। इन सब कवियों में कृष्ण के माधुर्यमय रूप के वर्णन की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रेम-लोक की विविध भाव दशाओं का जो अत्यन्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वर्णन इन कवियों ने किया है, वह इनके काव्य-कौशल का उत्कृष्ट नमूना है। सूर के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है – "न भूतो न भविष्यति"। परमानन्ददास के पद रसपूर्ण हैं और गोविन्द स्वामी के काव्य में संगीत की प्रधानता है। नन्ददास शब्दों के कुशल शिल्पी हैं। उनके विषय में प्रसिद्ध उक्ति है – "अन्य कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया"। नन्ददास का साहित्य पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों को जानने के लिए तथा कृष्ण-भक्ति की साम्प्रदायिकता के बोध के लिए उपयोगी है। इनकी रचनाओं में तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति का भी परोक्ष रूप से बोध हो जाता है। गोपी-उद्धव संवाद तथा कलि-प्रभाव वर्णन आदि में इस बात का स्पष्ट संकेत है। इनके साहित्य में तत्कालीन सरल ग्रामीण जीवन की सहज छटा मिल जाती है। पर्वों, उत्सवों और लीलाओं के वर्णनों में तत्कालीन समय की सांस्कृतिक झाँकी एवं कलाप्रियता का बोध हो जाता है। विभिन्न नैमित्तिक उत्सवों के लिए इन्होंने विविध राग-रागनियों में पदों का सृजन किया, जो आजतक गायकों के गले का हार बने हुए हैं।

अष्टछाप के कवि प्रतिभाशाली साहित्यकार, सुकीर्तनकार एवं अच्छे गायक हैं अतः इनके साहित्य में काव्य-कला तथा संगीत-कला का प्रशस्त गंगा-यमुना संयोग है। ब्रजभाषा का काव्य के क्षेत्र में शताब्दियों तक निरन्तर एकाधिपत्य बना रहा, वह इन्हीं महानुभावों के कारण है। इन कवियों की परिमार्जित एवं प्रौढ़ भाषा को देखकर सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी एक सुनिश्चित परम्परा थी। वह कोई एक दिन की गढ़ी हुई भाषा नहीं है। अष्टछाप के कवियों ने स्वयं कोई भी रचना ब्रजभाषा गद्य में नहीं लिखी, फिर भी उनके प्रासंगिक चरित ब्रजभाषा गद्य में लिखे गए। 'अष्टसखान की वार्ता', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

तन्मयता और तल्लीनता कवित्व की सबसे उदात्त वस्तु हैं। कविता के ये गुण सूरदास इत्यादि कवियों में अपनी चरम सीमा पर पहुँचे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं – "इन भक्तिभाव की रचनाओं के प्रचार के बाद लौकिक रस की परम्परा फीकी पड़कर निर्जीव हो गई। इन कवियों ने उसमें नए प्राण संचारित किए और नया तेज भर दिया। परवर्ती काल की ब्रजभाषा का लीलानिकेत कृष्ण के गुणगान के साथ

एकान्त भाव से बाँध देने का श्रेय इन्हीं कवियों को प्राप्त है।" यह अलग बात है इन कवियों की कविता का एक निश्चित विषय है, उसमें विविधता के लिए अवकाश नहीं है।

धार्मिक और साम्प्रदायिक दृष्टि से भी अष्टछाप का महत्त्व अक्षुण्ण है। ये अष्ट कवि भगवान कृष्ण के अन्तरंग सखा हैं, जो उनकी नित्यलीला में सम्मिलित होते हैं। गिरीराज निकुंज के आठ द्वार हैं, ये अष्ट सखा उन आठों द्वारों के क्रमशः अधिकारी हैं। लौकिक लीला में वे भौतिक शरीरों से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लीला की समाप्ति पर भौतिक शरीर को त्यागकर अलौकिक रूप से नित्यलीला में लीन हो जाते हैं।

5.1.2.4 पुष्टिमार्ग

वल्लभाचार्य ने ब्रजमण्डल में जिस कृष्णभक्ति को प्रतिष्ठित किया उसका दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्ग है। "पुष्टि किं मे ? पोषणमा पोषणं किम् ? तद् अनुग्रह । भगवतत्कृपा।" पुष्टिमार्ग का संकेत श्रीमद्भगवद्गीता में परिलक्षित होता है – "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" भगवद् अनुग्रह या कृपा को पुष्टि कहा जाता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति रागानुगा भक्ति है। इसमें किसी साधन या कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं होती है। ईश्वरकृपा से पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध व संचित कर्मों का शमन हो जाता है। पुष्टिभक्ति से सद्योमुक्ति होती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के तीन फल हैं – (i) रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानन्द की शक्ति प्राप्त कर उसकी लीला में प्रविष्ट होना, (ii) पूर्णपुरुषोत्तम के श्रीअंग अथवा आभूषण आदि अंग बनना, (iii) प्राकृत देहेन्द्रियादि से मुक्त होकर अप्राकृत शरीर से भगवान के वैकुण्ठ आदि लोकों में आनन्द भोग की स्थिति प्राप्त करना।

वल्लभाचार्य ने भक्ति के तीन मार्ग बताए हैं – (i) मर्यादा मार्ग, (ii) प्रवाह मार्ग और (iii) पुष्टिमार्ग। आगम-निगम द्वारा प्रतिपादित कर्तव्यकर्मों का विधिपूर्वक अनुसरण मर्यादा मार्ग है। संसार के प्रवाह में पड़कर लौकिक सुखभोग का प्रयत्न प्रवाह मार्ग है जिसमें भक्त को बार-बार भव-बन्धन सहना पड़ता है जबकि पुष्टिमार्ग के भक्त किसी लौकिक या बाह्य का आश्रय लिए बिना ईश्वर-कृपा पर विश्वास करते हैं। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है जहाँ भगवान के अनुग्रह का सबसे अधिक महत्त्व है, जिसकी प्राप्ति के लिए सेवा मार्ग और हरि लीला-गान की आवश्यकता है।

वल्लभाचार्य के अनुसार भक्ति के तीन मार्गों की तरह जीव के भी तीन भेद हैं – (i) पुष्टिजीव, (ii) मर्यादाजीव तथा (iii) प्रवाहजीव। प्रवाही जीव सांसारिक सुखों की प्राप्ति में लीन रहते हैं। मर्यादा जीव वेद की रीतियों पर आस्था रखता है, जबकि पुष्टि जीव भगवान की कृपा का ही सहारा रखता है। पुष्टिजीव ईश्वर की नित्यलीला का भागीदार होता है।

इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने भक्तों के भी चार भेद किए – (i) प्रवाही पुष्ट भक्त, (ii) मर्यादा पुष्ट भक्त, (iii) पुष्टिपुष्ट भक्त तथा (iv) शुद्ध पुष्ट भक्त। प्रवाही पुष्ट भक्त संसार की 'मैं और तुम' की ममता-मोह में पड़कर कुछ ऐसे

शुभकार्य करते हैं जिनसे भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। विषय वासना से अपनी इन्द्रियों को हटाकर भगवान के श्रवण-कीर्तन में मन लगाते हैं। भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर होकर भी जो मर्यादानुसार कार्य करते हैं, वे मर्यादा पुष्ट भक्त हैं। तीसरे, जो पहले से ही पुष्टि प्राप्त कर और अधिक पुष्टि प्राप्त करते हैं, तत्त्वचिन्तन से भगवान् के विधानों को जो जान लेते हैं, वे पुष्टिपुष्ट भक्तहैं और जो केवल अनुग्रह का ही अवलम्बन कर सदैव ईश्वर के प्रेम में तन्मय रहते हैं वे शुद्ध पुष्ट भक्तहैं।

5.1.3 बोधप्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सगुण भक्ति का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।
2. विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित कृष्णभक्ति-काव्य की सोदाहरण विवेचना कीजिए।
3. सगुण भक्ति शाखा के मूलतत्त्व को बताते हुए उसकी विशेषताओं को समझाइए।
4. वल्लभ सम्प्रदाय पर प्रकाश डालिए।
5. अष्टछाप के महत्त्व तथा कार्य पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निर्गुण तथा सगुण धाराओं की तुलना कीजिए।
2. भक्तिकालीन साहित्य का विश्लेषण कीजिए।
3. वल्लभाचार्य ने जीव के कितने भेद किए ?
4. पुष्टिमार्ग का तात्पर्य समझाइए।
5. कृष्णभक्ति-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ उद्धृत कीजिए।

टिप्पणी लिखिए –

1. कृष्णभक्ति-काव्य का दार्शनिक आधार
2. कृष्णाख्यान की प्राचीनता एवं कृष्ण का स्वरूप
3. वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त
4. अष्टछाप
5. वल्लभाचार्य के अनुसार भक्तों के भेद

5.1.4 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. कुँवरपाल सिंह (सं.), भक्ति-आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास

3. डॉ॰ सुमन शर्मा, मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन
4. डॉ॰ वासुदेव सिंह, हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन
5. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य-परम्परा

इकाई – 2 : रामभक्ति-काव्य का वैचारिक आधार, रामभक्ति-काव्य-परम्परा, रसिक सम्प्रदाय

इकाई की रूपरेखा

5.2.0 उद्देश्य
5.2.1 प्रस्तावना
5.2.2 रामभक्ति-काव्य का वैचारिक आधार
5.2.3 रामभक्ति-काव्य-परम्परा
  5.2.3.1 तुलसीदास
  5.2.3.2 केशवदास
  5.2.3.3 स्वामी अग्रदास
  5.2.3.4 नाभादास
  5.2.3.5 हृदयराम
  5.2.3.6 प्राणचन्द चौहान
  5.2.3.7 सेनापति
  5.2.3.8 गुरु गोविन्दसिंह
  5.2.3.9 महाराज विश्वनाथसिंह
5.2.4 रामभक्ति साहित्य की विशेषताएँ
  5.2.4.01. दास्य-भाव की भक्ति
  5.2.4.02. मर्यादा की प्रतिष्ठा
  5.2.4.03. आदर्श की स्थापना
  5.2.4.04. लोकमंगल की भावना
  5.2.4.05. काव्य-रूपों में विविधता
  5.2.4.06. भाषा-प्रयोग की विविधता
  5.2.4.07. सभी रसों का समावेश
  5.2.4.08. विविध छन्दों का प्रयोग
  5.2.4.09. प्रकृति चित्रण
  5.2.4.10. जन-श्रद्धा का आधार
  5.2.4.11. समन्वय भावना
  5.2.4.12. विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के साथ भक्ति पर बल
5.2.5 रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि
5.2.6 रसिक सम्प्रदाय
5.2.7 बोध प्रश्न
5.2.8 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

5.2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. वैष्णवी भक्ति के उदय और विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. रामभक्ति-काव्य के वैचारिक आधार को जान सकेंगे।
iii. रामभक्ति-काव्य-परम्परा और रामभक्ति साहित्य की विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
iv. रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवियों से परिचित हो सकेंगे।
v. रसिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.2.1 प्रस्तावना

वैष्णवी भक्ति अर्थात् राम तथा कृष्ण की भक्ति का उद्‌भव वेदों में खोजना असंगत नहीं है। भारत भूमि पर इसका क्रमिक उदय और विकास हुआ, इसलिए यह पूर्णरूपेण भारतीय अवधारणा है। इस पर किसी विदेशी प्रभाव की कल्पना करना या इसे राजनैतिक नैराश्य बताना अथवा परवर्ती दम्भी निर्गुणवादियों की प्रतिक्रिया में इसके पनपने को खोजना सर्वथा निराधार है। यह एक अकाट्य सत्य तथा ऐतिहासिक तथ्य है और आधुनिक अनुसंधानों से इसकी संपुष्टि भी हो चुकी है कि वैष्णवी भक्ति के प्रेम या राग तत्त्व तथा करुणा आदि तत्त्वों पर पाश्चात्य प्रभाव अर्थात् ईसा का तनिक भी प्रभाव नहीं है, बल्कि ईसा का इससे प्रभावित होना संभावित है। भक्ति-आन्दोलन क्रमशः तीव्र और बल-सम्पन्न हुआ। यह मध्ययुगीन राजनैतिक दासता जनित निराशा की उपज नहीं है। "रामानुज, निम्बार्क, माध्व और वल्लभाचार्य आदि दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा दम्भी निर्गुणवादी साधकों से बचने और संसार को सारयुत मानकर भगवद्भक्ति के पथ पर जनमानस को लाने के लिए सगुण-साकार अवतारी विष्णु की भक्ति का पुनः प्रवर्त्तन किया गया" – ऐसा कहना भारतीय साधना-पद्धति के इतिहास के प्रति सर्वथा अपनी अनभिज्ञता को दर्शाना है।

वेदों में विष्णु का उल्लेख हुआ है किन्तु वह भागवत या सात्वत सम्प्रदाय में विष्णु के प्रतिपादित रूपों – राम और कृष्ण से भिन्न है। भागवत धर्म का उदय ईसा से चार-पाँच शताब्दीयों पूर्व ही हो चुका था। महाभारत में भागवत और पांचरात्र मतों का उल्लेख मिलता है। पांचरात्र शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है। पांचरात्र-पंचनिध ज्ञान का तात्पर्य है – परम तत्त्व, भुक्ति, मुक्ति तथा विषय (संसार)। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता तथा पुराणों में भी भागवत तथा पांचरात्र धर्मों की चर्चा है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता भारतीय धर्म साधना का एक समन्वयक ग्रन्थ है और इसमें कृष्ण-भक्ति का विशद् चित्रण मिलता है। वैष्णव भक्ति के स्वरूप को स्वच्छ और स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित करने की दिशा में मुनिवर शाण्डिल्य और देवर्षि नारद के भक्ति सूत्रों का विशेष स्थान है। शाण्डिल्य के अनुसार – "भक्तिपथ समस्त भक्तों के लिए समान रूप से उन्मुक्त है। द्विजेतर भक्त भी भक्तिमार्ग का अनुसरण कर भगवान की भक्ति कर सकता है। जब तक भक्ति का उदय नहीं होता, आत्मा जन्म-मरण के चक्र में बनी रहती है। भक्ति-भाव के आने पर ही भक्त चक्र का बेधन करता है। भक्ति एक शुद्ध रागात्मिका वृत्ति है। इसके परा और अपरा दो भेद हैं।" नारद ने

भक्ति को प्रेमाभक्ति की संज्ञा दी है और इस ईश्वरीय प्रेम कहा है। "इस प्रेम के प्राप्त कर लेने पर भक्त न तो कुछ चाहता है, न चिन्ता करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न विषय भोगादि में उत्साही होता है। इस प्रेमरूपी भक्ति को पाकर भक्त सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।" इन भक्ति सूत्रों में भक्ति को दृढ़ शास्त्रीय-आधार प्रदान कर इसे व्यावहारिक साधना के लिए सरल तथा सुगम बना दिया गया। इसके पश्चात् पुराणों ने विष्णु के अवतार राम और कृष्ण के चरित्र और लीलाओं को एक नया आयाम प्रदान किया। राम के मर्यादापुरुषोत्तम रूप पर पुराणों का ध्यान इतना नहीं गया जितना कि कृष्ण की माधुर्यमयी लीलाओं पर। मध्ययुग तथा वर्तमान समय में विष्णु का जो रूप निखरा वह पुराणों द्वारा प्रतिपादित तथा समर्पित है।

5.2.2 रामभक्ति-काव्य का वैचारिक आधार

वैदिक-धर्म के कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में एक ही साथ दो धर्मों का उदय हुआ – (i) बौद्ध धर्म तथा (ii) वैष्णव धर्म। ये दोनों धर्म अहिंसा, उदारता और सदाचार की भावनाओं को लेकर खड़े हुए। बौद्ध धर्म तो आत्मशुद्धि के प्रचार में लग गया और वैष्णव धर्म ने भगवान की भक्ति का आश्रय लिया। आगे चलकर इसी वासुदेव धर्म या वैष्णव धर्म में अवतारवाद की भावना ने अपना स्थान बना लिया। बाद में विष्णु के दो रूप राम और कृष्ण माने जाने लगे। कालान्तर में भक्ति की यही धारा हिन्दी साहित्य में प्रकट हुई।

भक्तिकाल की यह धार्मिक भावना उत्तर भारत में विकसित होने से पूर्व दक्षिणी भारत में पल्लवित और पुष्पित हो चुकी थी। यह भावना वैष्णव धर्म से उद्भूत हुई थी जिसका सम्बन्ध भागवत या पांचरात्र धर्म से है। वैष्णव धर्म का आदिरूप हमें विष्णु के देवत्व में उपलब्ध होता है। विष्णु का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है किन्तु प्रथम श्रेणी के देवताओं में नहीं। इसे वहाँ सौर-शक्ति के रूप में या इन्द्र के सहयोगी रूप में देखा जा सकता है। विष्णु का परम ब्रह्ममय रूप जो कि इतिहास महाकाव्यों और भागवत से प्रतिपादित है, वह बाद का है। इसी विष्णु का राम और कृष्ण के रूप में प्रचार हुआ और लगभग यह भावना ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व उदित हो चुकी थी।

कुछ विद्वानों ने वैदिक संहिताओं में उल्लिखित राम, सीता, दशरथ और जनक आदि नामों को देखकर राम-भक्ति का सम्बन्ध ठेठ वैदिक काल से जोड़ने का प्रयास किया है, किन्तु वैदिक साहित्य में इन नामों के साथ वह कथा नहीं मिलती जो कि बाद में रामायण में मिलती है, फिर भी राम-कथा एक ऐसे युग की वस्तु प्रतीत होती है जबकि वैदिक युग के आदर्श जीवन के आदर्श बने हुए थे। वाल्मीकि रामायण में राम का रूप अवतार का नहीं, महापुरुष का ही है, इसलिए रामकथा वैदिक युग की वस्तु नहीं तो उसके कुछ ही पीछे की है।

महाभारत का रामोपाख्यान अनेक स्थलों पर वाल्मीकि रामायण से शाब्दिक साम्य रखता है। रामकथा के कुछ अन्य स्रोत भी हैं। बौद्ध जातक ग्रन्थ, जैन साहित्य में इसके परिवर्तित रूप मिलते हैं। जैन साहित्य में उसमें पर्याप्त हेर-फेर है परन्तु पुराणों में रामकथा बहुत कुछ वाल्मीकि के अनुसार है।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द विद्यालंकार का कहना है कि – "कालिदास के समय तक राम को विष्णु का अवतार नहीं माना जाता था अन्यथा अमरकोष में विष्णु के जो नाम गिनाए गए हैं, वे कृष्ण के न होते।" इससे

यही सिद्ध होता है कि कृष्णभक्ति-भावना अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। राम को भगवान् मानने की भावना पाँचवीं शताब्दी के बहुत बाद की है। इसी प्रकार हरदेव बाहरी का कथन है कि – "राम का पूर्णरूप गुप्तकाल में विकसित हुआ।" आचार्य चतुरसेन शास्त्री इनसे एक कदम और आगे बढ़ गए हैं। उनका कहना है कि – "राम और कृष्णभक्ति का विकास ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ।" लेकिन उपर्युक्त सभी मत भ्रमपूर्ण हैं। भास के प्रतिमा और पंचरात्र नाटक इस बात के प्रमाण हैं। डॉ॰ भण्डारकर ने यह सिद्ध कर दिया है कि ईसा के 500 वर्ष पूर्व राम और कृष्ण को ईश्वरावतार के रूप में माना जाने लगा था।

आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का निरूपण किया और इससे बौद्ध धर्म को आघात पहुँचा। शंकर का मायावाद भक्त के सन्निवेश के लिए उपयुक्त न था। फिर भी उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का सन्निवेश था, पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए जिस दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वह स्वामी रामानुजाचार्य (1073) ने खड़ा किया। उनके विशिष्ट द्वैतभाव के अनुसार सम्पूर्ण चराचर जगत् उसी ब्रह्म का अंश है, भक्ति द्वारा उसका सामीप्य लाभ ही परम लाभ है। रामानुज की शिष्य परम्परा सारे भारत में बराबर फैलती गई और जनता भक्तिमार्ग की ओर अधिकाधिक आकर्षित होती रही। उनका सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें विष्णु या नारायण की उपासना पर बल दिया गया। इस सम्प्रदाय में अनेक सन्त और महात्मा होते रहे।

विक्रम की चौदहवीं शती में श्रीसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द हुए। राघवानन्द रामानन्द को दीक्षा देकर निश्चित हुए। रामानन्द ने देशव्यापी पर्यटन द्वारा अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं – वैष्णवमताब्जभास्कर तथा रामार्चनपद्धति। इन्होंने रामानुजाचार्य के मतावलम्बी होने पर भी अपनी उपासना पद्धति का विशिष्ट रूप रखा। इन्होंने उपासना के लिए वैकुण्ठ निवासी विष्णु का रूप न लेकर लोक में लीला करने वाले उसके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमन्त्र हुआ रामनाम। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इससे पूर्व इस देश में रामोपासक भक्त होते ही नहीं थे। रामानुजाचार्य ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके प्रवर्त्तक श्री शठकोपाचार्य उनसे पाँच पीढ़ी पहले थे, जो कि स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर चुके थे –

दशरथस्य सुतं बिना, अन्य शरणवान्नस्मि।

रामानुज के शिष्य कुरेश स्वामी हुए जिनसे राम की भक्ति विशेष रूप से झलकती है। रामानन्द ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपों में राम के रूप को लोक के लिए अधिक कल्याणकारी समझकर छाँट लिया। इसके साथ देश-भेद तथा जाति भेद को मिटाकर भक्ति को सर्वजन-सुलभ बना दिया। रामानुजाचार्य ने द्विजमात्र के लिए भक्ति का विधान किया था परन्तु रामानन्द ने इसके साथ-साथ शूद्रों तथा स्त्रियों को भी भक्ति-क्षेत्र में अधिकारी ठहराया। इनकी भक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक था – "जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" यह उनका महान् कार्य था। किन्तु इससे यह समझना कि ये वर्णाश्रम के विरोधी थे, भूल होगी। कर्म के क्षेत्र में उन्हें शास्त्रमर्यादा ही मान्य थी। रामानन्द से पूर्व ज्ञानदेव तथा नामदेव भी रामभक्ति का प्रचार कर चुके थे। रामानन्द की भक्ति के उदार होने के कारण एक ओर तो कबीर, दादू, पीपा आदि निर्गुण पंथ वाले इनकी शिष्य

परम्परा में आए, जिनका राम निराकार था – "दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, रामनाम का मरम है आना" तो दूसरी ओर शेषसनातन तथा नरहरिदास जैसे सन्त भी थे जिन्होंने तुलसीदास जैसे भक्त को तैयार किया, जिसमें भक्ति का पूर्णपरिपाक हुआ।

तुलसीदास के पूर्व का हिन्दी राम-साहित्य प्रायः अप्रकाशित है। रामानन्द की एकमात्र प्राप्त हिन्दी रचना 'रामरक्षास्तोत' है। नाभादास के भक्तमाल के अनुसार उनके अनन्तानन्द, कबीर, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, रैदास, धन्ना, सेन, पद्मावती, पीपा, नरहरदास, भावानन्द और सुरसुरी आदि अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए। इन भक्तों में पद्मावती और भावानन्द के अतिरिक्त समस्त सन्तों के परिचयात्मक उल्लेख नाभादास ने किए हैं, किन्तु इनमें से किसी की रचना में राम का अवतारी रूप हमारे सम्मुख नहीं आता।

भक्ति की इस परम्परा में तुलसी से पूर्व के रामभक्त-कवियों में विष्णुदास का भी नाम आता है। इन्हें वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी रूपान्तरकार माना जाता है। ईश्वरदास की रामभक्ति से सम्बद्ध दो रचनाएँ बताई जाती हैं – 'भरतमिलाप' तथा 'अंगदपैज'।

कुछ जैन कवियों ने भी राम-कथा सम्बन्धी रचनाएँ प्रणीत कीं। मुनि लावराय की रचना 'रावण मंदोदरी संवाद' है। जिनराम शूरि की भी इस नाम की रचना बताई जाती है। इसी परम्परा में ब्रह्म जिनदास की दो रचनाएँ आती हैं – 'रामचरित' या 'रामदास' और 'हनुमंत रास'। ब्रह्मरायमल्ल तथा सुन्दरदास ने क्रम से 'हनुमंतगामी कथा' तथा 'हनुमान चरित' ग्रन्थ लिखे।

सूरदास सामान्यतः पुष्टिमार्ग में दीक्षित थे, परन्तु इनमें इस सम्प्रदाय के अन्य भक्तों के समान साम्प्रदायिकता बिल्कुल नहीं मिलती। इन्होंने अनेक पदों में राम-चरित का गान किया है। तुलसीदास के राम-काव्य और कृष्ण-काव्य में आकार-प्रकार विषयक जो अनुपात है लगभग वही सूरदास के कृष्ण-काव्य और राम-काव्य में दिखाई देता है। सूरदास के रामचरित सम्बन्धी अनेक पद कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं।

रामभक्ति-धारा में एक नवीन मोड़ आया जिसके आदिप्रवर्त्तक हैं, अग्रदास, जिन्होंने अग्रअली के नाम से रचनाएँ की हैं। इन्होंने जानकी की एक सखी भावना से रामभक्ति की है। इन्हीं के द्वारा रामभक्ति में रसिक भावना का प्रवेश हुआ। इनकी इस भावना से सम्बद्ध दो रचनाएँ हैं – 'रामाष्टयाम' तथा 'रामध्यानमंजरी'। इनके रामाष्टयाम में सीतावल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का वर्णन है। राम के ऐश्वर्य के साथ द्वादश लीला, संयोग, वियोग, मधुर रति आदि का वर्णन किया गया है। नाभादास का 'अष्टयाम' भी अग्रअली के इस ग्रन्थ से अत्यन्त प्रभावित है। अग्रअली की यह मधुर उपासना तुलसी के मर्यादावाद के सामने बहुत समय तक दबी रही, परन्तु सौ वर्ष पीछे यह धारा बड़े वेग से बह निकली और तत्पश्चात् हिन्दी का प्रायः सारा रामभक्ति साहित्य उससे सराबोर हो गया। रामभक्ति में रसिकता का समावेश कृष्णभक्ति-धारा के प्रभाव और उसके अनुकरण पर हुआ। आगे चलकर राम की मधुर उपासनामयी शक्ति में अनेक सम्प्रदाय चल निकले। इस माधुर्यभाव की उपासना में चिरान (छपरा) के निवासी श्री जीवाराम ने कुछ परिवर्तन किए। इन्होंने अपने सम्प्रदाय का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। अयोध्या

के निकट इस भक्ति का खूब प्रचार हुआ। अयोध्या के रसिक भक्तों ने राम के चरित्र को प्रधानता दी जबकि जनकपुर के भक्तों ने सीता के चरित्र को प्रधानता दी। 18वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कृपानिवास के रामायत सखी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हुआ। अयोध्या के श्री रामचरणदास ने सखी सम्प्रदाय के 'स्वसुखी' सम्प्रदाय का सूत्रपात किया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी रामभक्ति विषयक रचनाओं का प्रणयन हुआ। इस काल के रामकाव्य रचयिताओं और पुरातन कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग में राम को मानव रूप में ग्रहण किया गया है। आधुनिककाल के कवियों में रामचरित्र उपाध्याय, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरीऔध', मैथिलीशरण गुप्त तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि "हिन्दी रामभक्ति-धारा में अनेक कवि हुए परन्तु रामभक्ति-धारा का साहित्यिक महत्व अकेले तुलसीदास के कारण है"। रामभक्ति-धारा के अन्य कवियों और तुलसी में अन्तर तारागण और चन्द्रमा का नहीं है, बल्कि तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यतः तुलसीदास पर ही केन्द्रित करना होगा।

रामभक्ति-काव्य के वैचारिक आधार के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् राम के रूप-विकास की तीन अवस्थाएँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं – (i) ऐतिहासिक, (ii) साहित्यिक और (iii) साम्प्रदायिक। राम का ऐतिहासिक रूप लगभग पाँच शताब्दी ई. पू. वाल्मीकि रामायण में अक्षुण्ण है। उनका साहित्यिक रूप एक शताब्दी ईसा पूर्व भास से लेकर कालिदासादि संस्कृत कवियों में तथा कुमारदास (ई. 8वीं शती) तक है। उनके साम्प्रदायिक रूप का विकास आलवार सन्तों तथा शठकोपाचार्य (9वीं शती) में प्रस्फुटित हुआ। आगे चलकर आचार्य युग में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा आती है। इस प्रकार हम रामभक्ति के साम्प्रदायिक विकास को इन युगों में बाँट सकते हैं – (क) आलवार युग (800 से 100 तक), (ख) आचार्य युग (1100 से 1400 तक), (ग) रामायत युग (1400 से 1700 तक), (घ) रसिक सम्प्रदाय (1700 से आधुनिक युग के आरम्भ तक) तथा (ङ) आधुनिक युग के प्रारम्भ से अद्यतन। इस प्रकार हम देखते हैं कि दशरथतनय राम क्रमशः राजपुत्र से पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तम से विष्णु, विष्णु से परब्रह्मस्वरूप राम और फिर आदर्श मानव बनते गए।

5.2.3 रामभक्ति-काव्य-परम्परा

निर्गुण काव्यधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा के अध्ययन के दौरान आप इस विषय में पढ़ चुके हैं कि भक्तिकाल के प्रारम्भ में सन्तकवि और सूफी कवि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रयास कर रहे थे। किन्तु उपर्युक्त शाखाएँ सवर्ण हिन्दुओं का अवलम्बन न बन सकीं। परिणामस्वरूप हिन्दू जनता राम-कृष्ण की ओर आकृष्ट हुई। इस वैष्णव भक्ति का प्रादुर्भाव दक्षिण में हुआ था, परन्तु शीघ्र ही यह सम्पूर्ण उत्तर भारत में भी फैल गई। इसका एक प्रधान कारण यह भी था कि अवध और ब्रज प्रदेश राम और कृष्ण के जन्मस्थान थे। भक्ति के

प्रसार के साथ ही उस काल में ब्रजभाषा और अवधी भाषा को भी यथेष्ट सम्मान मिला। यह काल साहित्य क्षेत्र में स्वर्ण युग कहलाता है। कृष्णभक्त-कवियों में महात्मा सूरदास और रामभक्त-कवियों में गोस्वामी तुलसीदास अग्रगण्य हैं।

अध्ययन की सुगमता के लिए हिन्दी रामकाव्य-परम्परा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है – (i) तुलसी-पूर्व रामकाव्य-परम्परा, (ii) तुलसी-कालीन रामकाव्य-परम्परा और (iii) तुलसी-परवर्ती रामकाव्य परम्परा। तुलसी-पूर्व रामकाव्यों में 'पृथ्वीराज रासो' का द्वितीय 'समय' उल्लेखनीय है। इसमें दशावतार के अन्तर्गत रामावतार का भी वर्णन है। रामानन्द के कुछ भक्ति-विषयक पद राम के सम्बन्ध में मिलते हैं। सूरदास ने भी 'रामचरित्र' की रचना की है। ईश्वरदास ने 'रामजन्म', 'अंगद पैज' और 'भरत मिलाप' दोहा-चौपाई में लिखे, जिनकी भाषा अवधी है। इसमें तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' का पूर्वाभास मिलता है। तुलसी के समकालीनों में अग्रदास ने भक्ति-पूर्ण पदों की रचना की है, जो 'पदावली', 'ध्यानमंजरी' और 'अष्टयाम' में संकलित हैं। नाभादास ने भी 'अष्टयाम' और 'रामचरित' के पदों की रचना की।

तुलसी के समकालीन कवियों में आचार्य केशवदास प्रमुख हैं। इनके द्वारा रचित प्रबन्धकाव्य 'रामचन्द्रिका' के संवाद उत्कृष्ट कोटि के हैं। सोढ़ी मेहरबान ने हिन्दी पंजाबी मिश्रित-गद्यात्मक भाषा में 'आदिरामायण' लिखी, प्राणचन्द चौहान ने 'रामायण महानाटक', हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक', रामानन्द ने 'लक्ष्मणायन' और माधोदास ने 'रामरासो' की रचना की।

तुलसी के परवर्ती काल में एक धारणा उत्पन्न हुई थी कि तुलसी के पश्चात् राम साहित्य का विकास एकदम अवरुद्ध हो गया किन्तु यह सर्वथा निमूल है। हाँ, यह दूसरी बात है कि तुलसी के बाद उनके द्वारा निर्मित पद्धति पर रामभक्ति साहित्य का विकास न हो सका। तुलसी के अनन्तर राम साहित्य का एक नवीन दिशा में निश्चित रूप से विकास हुआ और वह नवीन दिशा है – रामभक्ति साहित्य में रसिक भावना का समावेश। यह भावना तुलसी के पूर्व भी विद्यमान थी और कदाचित् वे थोड़े-बहुत उससे प्रभावित भी हुए थे। तुलसी के पश्चात् यह धारा निर्बाध गति से प्रवाहित हुई। वास्तव में इस भक्ति के साधक कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसी अपने समकालीन भक्ति क्षेत्र में प्रस्तुत शृंगारी भक्ति के एक अपवाद से प्रतीत होते हैं। यह अन्य बात है कि इस सम्प्रदाय का ऐसा प्रतिभासम्पन्न कवि कोई नहीं जो तुलसी की समकक्षता में ठहर सके। दूसरी बात यह है कि इस पद्धति का प्रचार भक्तों के एक सम्प्रदाय विशेष तक सीमित था और इसके सिद्धान्तों की गोपनीयता ही इसके द्रुत विकास में बाधक सिद्ध हुई। गोस्वामीजी मर्यादावादी हैं। अतः उनका यह मर्यादावाद जीवन के समान काव्य-क्षेत्र में भी अक्षुण्ण रहा। तुलसी के राम मर्यादा के लोकरक्षक, लोकविरोधी तत्त्वों के उन्मूलक और लोक-धर्म के प्रवर्त्तक हैं। तुलसी के राम में शील-शक्ति-सौन्दर्य का समन्वय है। तुलसी ने अपूर्व दक्षता के कारण राम के मर्यादावादी चरित्र में रागात्मकता का भी समावेश कर लिया, लेकिन बाद में रामभक्त-कवियों के लिए मर्यादा के साथ रागात्मकता को निभा पाना दुष्कर था। अतः तुलसी की ऐश्वर्यप्रधान पद्धति उपेक्षित रह गई। निस्सन्देह केशव ने रामचरितमानस की होड़ में रामचन्द्रिका का प्रणयन किया, किन्तु यह मानस के समान विविध भावों और विषयों-रूप मणिरत्नों से परिपूर्ण सरोवर न होकर विविध छन्दों और अलंकारों की मंजूषा मात्र रह गई। तुलसी द्वारा

मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित्र के सर्वांगीण वर्णन के पश्चात् परवर्ती राम कवियों के लिए कुछ भी नहीं रह गया था और यदि रहा था तो वह था – राम का कृष्ण के समान छैल-छबीला रूप। आगे चलकर राम के इसी रूप पर प्रभूत साहित्य का निर्माण हुआ।

5.2.4 रामभक्ति साहित्य की विशेषताएँ

रामभक्ति साहित्य ने भारतीय जनता को बहुत प्रभावित किया। इसने भक्ति के उदात्त रूप को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है। यह साहित्य जनता का मनोरंजन करता है। आधुनिककाल में जो रामलीलाएँ होती हैं, उससे आबाल वृद्ध, ग्रामीण एवं नागरिक सभी का मनोरंजन होता है और इस मनोरंजन के द्वारा मानसिक उन्नयन भी। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं, उनका चरित्र मानवजाति के लिए आदर्श है। रामकाव्य (रामभक्ति साहित्य) की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

5.2.4.01. दास्य-भाव की भक्ति

कृष्णकाव्य में सख्य-भक्ति की प्रधानता है, लेकिन रामकाव्य में दास्य-भक्ति प्रधान है। वैसे उसमें नवधा भक्ति के सभी प्रकार – श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन मिल जाते हैं। इसमें राम की उपासना सेव्य-सेवक भाव से की गई है। इस काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि तुलसीदास हैं, क्योंकि आज तक हिन्दी के राम साहित्य में 'रामचरित मानस' जैसा ग्रन्थ और नहीं लिखा गया। यह कृति चार सौ वर्षों से हिन्दीभाषी जनसमूह का दिशा-निर्देश कर रही है।

5.2.4.02. मर्यादा की प्रतिष्ठा

रामकाव्य में मर्यादा का प्रमुख स्थान है। राम का चरित्र ही मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र है। चरित्र को पूर्णतः मर्यादित किए बिना कोई भी व्यक्ति पुरुषोत्तम नहीं बन सकता है। रामकाव्य में मर्यादा कई रूपों में परिलक्षित होती है। जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों में मर्यादा को मूल्य के रूप में स्थापित किया गया है। धर्मनीति व्यक्ति के चरित्र को मर्यादित करती है। राम का चरित्र आद्यन्त धर्ममय है, इसलिए मर्यादा उनके चरित्र में सर्वत्र दिखलाई पड़ती है। मितभाषी होना, सत्य पर दृढ़ रहना, पिता की आज्ञा का पालन करना, प्रतिज्ञा पूरी करना आदि गुण मर्यादा के ही अंग हैं। इसी तरह रामकाव्य के अनेक चरित्र मर्यादायुक्त हैं। तुलसीदास ने शृंगार को भी मर्यादित कर दिया है। उनसे पूर्व कृष्णकाव्य की रचना हो चुकी थी, उसका प्रभाव रामकाव्य पर अवश्य पड़ा। तुलसीदास की 'गीतावली' में राम के हिंडोला-विहार और फाग-क्रीड़ा का उल्लेख है। अग्रदास और नाभादास के अष्टयामों में शृंगार की मात्रा अधिक है। मुनिलाल के 'रामप्रकाश' में रामकथा का वर्णन रीति पद्धति के अनुसार है। रीतिकाल में रचित रामकाव्यों में शृंगारिकता तो अश्लीलता की सीमा तक जा पहुँची परन्तु तुलसी ने कहीं भी शृंगार को मर्यादा की सीमा से नीचे गिरने नहीं दिया।

5.2.4.03. आदर्श की स्थापना

रामकाव्य में विभिन्न आदर्शों की कल्पना की गई है और उनकी स्थापना पर बल दिया गया है। आदर्श चरित्र की कल्पना से आदर्श समाज की कल्याण का स्वरूप रामकाव्य में साकार होता है। आदर्श भाई, पुत्र, पिता, पत्नी, मित्र, राजा आदि तो यहाँ हैं ही, आदर्श परिवार और आदर्श समाज का चित्र भी विद्यमान है। राम का राज्य आदर्श राज्य है। इसी आदर्श राज्य को रामराज्य कहा गया है। रामकाव्य में चित्रित विभिन्न लोकादर्श हमेशा प्रेरणादायक रहे हैं। इन आदर्शों से युक्त होने के कारण ही रामकाव्य की ऊँचाई को दूसरे काव्य प्राप्त न कर सके।

5.2.4.04. लोकमंगल की भावना

प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से रामकाव्य की गणना उच्च कोटि के उन काव्यों में की जाती है जिनका उद्देश्य जन-कल्याण या लोकमंगल होता है। ये काव्य मात्र मनोरंजन के लिए न लिखे गए, बल्कि गम्भीर कल्याणकारी उद्देश्य को लेकर रचे गए हैं। रामकाव्य के प्रवर्त्तक तुलसी यद्यपि यह कहते हैं कि उन्होंने रामचरितमानस की रचना 'स्वान्तःसुखाय' की, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि यह उतनी ही 'लोकहिताय' भी हो गई। अर्थात् उनका कृति परोक्षतः जन-कल्याणकारी और लोकमंगलकारी हो गई। रामकाव्य के नायक का उद्देश्य भी लोकमंगल ही है। वह उद्देश्य ही रामकाव्यों का उद्देश्य भी बन गया।

5.2.4.05. काव्य-रूपों में विविधता

वैविध्य की दृष्टि से राम साहित्य का काव्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत है, क्योंकि इसमें काव्य की सभी शैलियों और विधियों को अपनाया गया है। तुलसी का रामचरितमानस संसार में श्रेष्ठ महाकाव्यों में से एक है। 'जानकीमंगल' अत्यन्त मनोरम खण्ड काव्य है। 'गीतावली' गीतिकाव्य है जिसमें सरसता और संगीत का अपना स्थान है। 'विनयपत्रिका' स्तुतिपरक काव्यों में गणमान्य है। विद्वानों की दृष्टि में यह रचना तुलसी के अन्य समस्त काव्यों में उत्कृष्ट है। 'कवितावली' में वीरगाथाकालीन चारण पद्धति का अनुसरण हुआ है जिसमें कवित्त, छप्पय, सवैये आदि के माध्यम से रामकाव्य की सरसता को उपस्थित किया गया है। 'रामलला नहछु' लोकगीत का अनुपम साहित्यिक उदाहरण है। संवाद की दृष्टि से केशव की 'रामचन्द्रिका' अनुपम है। इन अन्य काव्यों के अतिरिक्त रामकाव्य में दृश्यकाव्य भी उपलब्ध हैं, जिनमें हृदयराम का हनुमन्नाटक, प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक' और विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' उल्लेखनीय हैं। रामकाव्य में पद्य के साथ-साथ गद्य का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योगवासिष्ठ' खड़ी बोली गद्य में है। विश्वनाथसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' में पद्य के साथ ब्रजभाषा गद्य का भी प्रयोग उपलब्ध होता है।

5.2.4.06. भाषा-प्रयोग की विविधता

बहुभाषी प्रयोग के कारण भी रामकाव्य का अपना महत्त्व है। कृष्णभक्त-कवियों ने केवल ब्रजभाषा को अपनाया। अवधी में कृष्ण पर कोई महत्त्वपूर्ण रचना उपलब्ध नहीं होती, किन्तु रामकाव्य की रचना प्रायः सभी

भाषाओं में हुई है । 'रामचरितमानस' अवधी में रचा गया । 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' आदि की रचना ब्रजभाषा में हुई। 'रामललानहछू' में अवधी का प्रयोग हुआ है और रामप्रसाद निरंजनी की 'भाषा योगवासिष्ठ' खड़ी बोली गद्य में लिखा गया । इसके अतिरिक्त केशव की 'रामचन्द्रिका' में ब्रजभाषा के अतिरिक्त बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग हुआ है। तुलसी की रचनाओं में भोजपुरी के अतिरिक्त अरबी और फारसी के शब्द भी पाए जाते हैं।

5.2.4.07. सभी रसों का समावेश

राम का चरित्र अत्यन्त उदात्त एवं व्यापक है। उसमें सभी रसों का समावेश बड़ी सरलता से हो जाता है । 'रामचरितमानस' में सभी रस उपलब्ध होते हैं । केशव की 'रामचन्द्रिका' में भी सभी रसों की व्यंजना हुई है। राम के विवाह में सौन्दर्य और माधुर्य की भावना निहित है । राम-वनवास के समय करुण रस के चित्रण को यथेष्ट अवसर प्राप्त हुआ है । राम-रावण के युद्ध-वर्णन में वीर, भयानक, रौद्र और वीभत्स रसों की सुन्दर व्यंजना है। लक्ष्मण-परशुराम संवाद में मधुर हास्य के दर्शन होते हैं। रामकाव्य में सेवक-सेव्य भाव की प्रधानता के कारण शान्त रस प्रदान है। अधिकतर रामकाव्यों में शृंगार अथवा शान्त ही प्रधान रस के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

5.2.4.08. विविध छन्दों का प्रयोग

रामकाव्यों में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रबन्धकाव्यों में प्रायः दोहे-चौपाइयों का प्रयोग हुआ है। साथ ही, बीच-बीच में अन्य छन्द भी काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने में सफल सिद्ध हुए हैं । संस्कृत श्लोक और स्तुतियों में गोस्वामीजी ने वर्णिक छन्दों का प्रयोग किया है। केशव ने तो 'रामचन्द्रिका' को छन्दों का भण्डार बना दिया है । वहाँ पद-पद पर नवीन छन्द के दर्शन होते हैं । गुरु गोविन्दसिंह ने भी बहुत्से ऐसे छन्दों का प्रयोग किया है, जो हिन्दी में अधिक प्रचलित नहीं है।

5.2.4.09. प्रकृति चित्रण

रामकाव्यों में प्रकृति-चित्रण का अभाव नहीं है । इसमें वन, पर्वत, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वर्षा ऋतु के चित्रण के साथ-साथ मानवीय प्रवृत्तियों का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। 'रामचन्द्रिका' का प्रकृति-चित्रण मनोहारी है।

5.2.4.10. जन-श्रद्धा का आधार

रामकाव्य की यह महती विशेषता है कि यह कृष्णकाव्य की भाँति आगे चलकर कलुषता को प्राप्त न हुआ। कृष्णभक्ति में माधुर्य भावना का प्राधान्य था, जो रसिक समाज को अपनी ओर आकर्षित करती थी। यही कारण था कि रामभक्ति की अपेक्षा कृष्णभक्ति का प्रचार अधिक हुआ, किन्तु रामचरित्र के आदर्श और मर्यादाभाव शिष्टता और धर्म की पवित्रता के प्रहरी रहे । जन सामान्य में रामकाव्य अधिक लोकप्रिय है। तुलसी-

कृत 'रामचरितमानस' का सम्मान उत्तरी भारत में आज भी अक्षुण्ण है । आज भी बड़े श्रद्धा भाव से उसका पाठ होता है।

5.2.4.11. समन्वय भावना

रामकाव्य में समन्वय भावना भी परिलक्षित होती है। गोस्वामीजी भले ही रामभक्त थे, परन्तु उन्होंने शिव, पार्वती, गणेश आदि अन्य देवताओं की भी स्तुतियाँ की हैं। उन्होंने शिव-पूजन को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया। उनके राम ने रामेश्वरम् में शिवलिंग की स्थापना की, सीता ने भी गौरी-पूजन किया है । तुलसी ने राम के मुख से कहलाया है –

शिवद्रोही मम दास कहावा। सो नर मोहि सपनेहूं नहिं भावा॥

धार्मिक समन्वय के अतिरिक्त ज्ञान और भक्ति का दार्शनिक समन्वय भी रामकाव्य में उपलब्ध है। इस तरह शैव और वैष्णव भक्ति तथा ज्ञान और भक्ति के बीच समन्वय का 'बड़ा दायित्व' रामकाव्य में बखूबी निभाया गया है।

5.2.4.12. विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के साथ भक्ति पर बल

रामकाव्य का दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद है। शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त लोकप्रसिद्ध सिद्धान्त रहा है। उसमें ज्ञान पर बल दिया गया है और ईश्वर तथा जीव को एक माना गया है। विशिष्टाद्वैत में भक्ति को उच्च स्थान प्राप्त हुआ है। तुलसीदास ने शंकराचार्य की भाँति ब्रह्म की अद्वैतता का भी आख्यान किया है, पर उनका अधिक बल भक्ति पर ही रहा। ईश्वर कृपा को वे सर्वोपरि मानते रहे हैं –

जाकि कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाही कहूँ॥

5.2.5 रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि

भक्तिकाल में रामकाव्य के रचयिता अनेक सुकवि हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं – तुलसीदास, केशवदास, गोविन्दसिंह, विश्वनाथसिंह आदि। इन कवियों का परिचय नीचे दिया जा रहा है –

5.2.3.1 तुलसीदास

हिन्दी में रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास माने जाते हैं। इनका जन्म शूकर क्षेत्र (सारों) के अन्तर्गत राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। इनका बचपन बहुत कष्ट में बीता। बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता इन्हें संसार में एकाकी छोड़ स्वर्ग सिधार गए थे अतः इनके पालन-पोषण का दायित्व बूढ़ी दादी के कन्धों पर आ पड़ा। बचपन में ये राम-नाम का बहुत उच्चारण किया करते थे। इस कारण इनका मुँह बोला नाम 'रामबोला' भी

था। गुरु नरहरिदास की कृपा से इन्हें शिक्षा प्राप्त हुई। वयस्क होने पर गंगा पार बदरी नामक ग्राम के दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से इनका विवाह हुआ। ये अपनी पत्नी से बहुत प्रेम करते थे। कुछ समय पश्चात् इनका दाम्पत्य प्रेम अचानक भगवत्प्रेम में परिणित हो गया फलस्वरूप इन्होंने घर त्याग दिया। संवत्1680 या 1632 ई. में काशी के अस्सी घाट पर इन्होंने शरीर त्याग दिया। कुछ लोग श्रावण शुक्ल 3, शनिवार, संवत् 1680 को उनकी मृत्यु –तिथि मानते हैं। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है –

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार गोस्वामीजी के नाम से 37 ग्रन्थ पाए गए हैं, पर इनमें सभी प्रामाणिक नहीं हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने इनके निम्नलिखित 12 ग्रन्थों को प्रामाणिक माना है – रामचरितमानस, रामललानहछू, वैराग्य-संदीपनी, बरवैरामायण, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, रामाज्ञाप्रश्न, दोहावली, कवितावली, श्रीकृष्णगीतावली और विनयपत्रिका।

गोस्वामीजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने काव्य की प्रायः सभी शैलियों को अपनाया है। 'रामचरितमानस' हिन्दी जगत् का अद्वितीय प्रबन्ध काव्य है। 'जानकी मंगल' और 'पार्वतीमंगल' खण्ड काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। गीतिकाव्य में 'गीतावली' अपना विशिष्ट स्थान रखती है। स्तुतिपरक मुक्तकों में 'विनयपत्रिका' अनुपम है।

गोस्वामीजी ने अधिकतर मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु स्तुति, संस्कृत-श्लोक आदि में वर्णिक वृत्त भी समुचित मात्रा में उपलब्ध होते हैं। गोस्वामी ने गेय पदों में रागों का भी ध्यान रखा है। इनके काव्यों में अलंकार स्वतः चले आए हैं जो काव्य-सौन्दर्य में चार-चाँद लगा देते हैं। राम का जीवन बड़ा व्यापक है। उसमें रसों का समावेश बड़ी सरलता से हो जाता है। गोस्वामी ने रसों का सुन्दर परिपाक बड़ी सहजता से हुआ है। शृंगार और हास्य के वर्णन में वे विशेष रूप से सावधान रहे हैं। उनका शृंगार और हास्य मर्यादित और शिष्ट है। मधुर हास्य का एक उदाहरण देखिए –

विंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनभे मुनिबृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

तुलसी की भाषा प्रवाहपूर्ण है। उसमें यथावसर ओज, माधुर्य और प्रसाद इन तीनों गुणों का समावेश हुआ है। गोस्वामी ने अवधी और ब्रजभाषा का प्रयोग समान कौशल से किया है। गोस्वामीजी का वर्ण्य-विषय भले ही रामकथा और रामभक्ति है, फिर भी अनेक स्थानों पर उनके अन्य विषयों के ज्ञान का परिचय भी मिलता है, जैसे – ज्योतिष, राजनीति, आचार्य-शास्त्र, दर्शन, काव्यशास्त्र, संगीत तथा मनोविज्ञान आदि।

5.2.3.2 केशवदास

हिन्दी साहित्य में महाकवि केशवदास का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने अपना परिचय 'रामचन्द्रिका' में स्वयं दिया है। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम कृष्णदत्त और पिता का नाम काशीनाथ था। इनका जन्म टेहरी में संवत् 1612 (1555 ई.) के आसपास हुआ था। इन्हें ओरछा नरेश इन्द्रजीतसिंह के दरबार में बहुत सम्मान प्राप्त था और वे ही इनके आश्रयदाता थे।

केशवदास संस्कृत के विद्वान् थे, इनकी रचनाओं में इनके ज्ञान और विद्वता का भली-भाँति परिचय मिल जाता है। ये अलंकारवादी थे और रस की अपेक्षा अलंकारों को अधिक महत्त्व देते थे। इनके लिखे सात ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं – 'विज्ञान गीता', 'रतन बावनी', 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका', 'वीरसिंह देवचरित्र', 'रसिक प्रिया', 'कविप्रिया' और 'रामचन्द्रिका।' हिन्दी कवियों में केवल केशवदास ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि हैं, जिनमें जहाँगीर और वीरसिंह की स्तुति के कारण आदिकालीन, 'रामचन्द्रिका' से भक्तिकालीन और 'रसिकप्रिया और 'कविप्रिया' से रीतिकालीन प्रवृत्तियों का एकत्र समावेश दिखाई पड़ता है। वस्तुतः केशवदास एक ऐसी सीमा-रेखा पर खड़े कवि हैं जिनके एक ओर भक्तिकाल है, तो दूसरी ओर रीतिकाल। ये रीतिकाल के प्रवर्त्तक आचार्य कवि हैं। इनके आचार्यत्व की प्रशंसा रीतिकाल के अनेक आचार्यों ने की है।

'रामचन्द्रिका' के कथानक का मुख्याधार 'वाल्मीकि रामायण' है, किन्तु इस पर संस्कृत के 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव भी यत्र-तत्र दिखाई दे जाता है। 'रामचन्द्रिका' में अनेक प्रकार के वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु पद-पद पर छन्द-परिवर्तन कथा के प्रवाह में व्याघात डालता है। इस कृति में धनुष-यज्ञ का वर्णन, प्रकृतिवर्णन और नख-शिख वर्णन भी मनोरम है। 'रामचन्द्रिका' में किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त या लोक-शिक्षा का प्रतिपादन नहीं हुआ है। केशव स्वयं राजदरबार से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए दरबारी वातावरण, आचार व्यवहार तथा संवादों से सुपरिचित थे। नाटकीय संवादों की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' महत्त्वपूर्ण है। ये संवाद सजीवता एवं वाक्चातुर्य से परिपूर्ण हैं। 'रामचन्द्रिका' की भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित ब्रजभाषा है। केशव की सरल भाषा का एक उदाहरण देखिए –

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाउं न ठाउं कुठाउं बिलै हैं।
तात न मात पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूँ संग रै हैं॥
केशव काम के राम बिसारत और निकाम रे काम न ऐ हैं।
चेति रे चेति अजौं चित अंदर अन्तक लोक अकेलोई जै हैं॥

5.2.3.3 स्वामी अग्रदास

स्वामी अग्रदास का जन्म संवत् 1662 (1605 ई.) में हुआ था। ये गलता (जयपुर) के निवासी थे। 'भक्तकाल' के रचयिता नाभादास इनके शिष्य थे। स्वामी अग्रदास ने पाँच ग्रन्थों की रचना की। एक छोटी रचना 'हितोपदेश उपाख्यान बावनीं' इनके नाम से ही प्रकाश में आई है। अग्रदास यद्यपि अष्टछाप के कृष्णभक्त-कवि

कृष्णदास के शिष्य थे, तथापि ये राम के उपासक थे। इन्होंने अपनी 'ध्यानमंजरी' में राम और राम के भाइयों के सौन्दर्य एवं अयोध्या और सरयू की शोभा का विशेष वर्णन किया है। 'ध्यानमंजरी' 69 पदों की एक छोटी-सी रचना है। 'अष्टयाम' में राम के आठों पहर के कार्यों का वर्णन है। इसमें सीता-राम के दाम्पत्य-प्रेम का शृंगारपूर्ण चित्रण है।

5.2.3.4 नाभादास

नाभादास का असली नाम नारायणदास था। इनकी जाति कोम अथवा मेदारा थी। इनका जन्म सन् 1600 (संवत् 1657) में हुआ था। इनके गुरु स्वामी अग्रदास थे। ये राम के उपासक थे और इन्होंने राम-सम्बन्धी पदों की रचना भी की, किन्तु इनकी ख्याति 'भक्तमाल' के कारण अधिक हुई। 316 छप्पयों में इन्होंने 200 भक्तकवियों का परिचय दिया है। परिचय में भक्तों के जीवन की विशेष घटनाओं का वर्णन है, तिथि-संवत् का कोई उल्लेख नहीं है। संवत् 1769 (1712 ई.) में प्रियादास ने 'भक्तमाल' पर टीका लिखी।

5.2.3.5 हृदयराम

हृदयराम ने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर कवित्तसवैया छन्दों में 'हनुमन्नाटक' नामक पद्यात्मक हिन्दी नाटक की रचना की है। इसका रचनाकाल संवत् 1662 (1575 ई.) है। रामकाव्य में 'हनुमन्नाटक' का विशेष स्थान है। इसमें रामभक्त की चर्चा सुचारु रूप से हुई है।

5.2.3.6 प्राणचन्द चौहान

प्राणचन्द जहाँगीर के समकालीन थे। इनका जन्म संवत् 1667 (1610 ई.) में माना गया है। इनकी एक ही रचना प्राप्त है, जो 'रामायण-महानाटक' के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें रामकथा संवाद के रूप में वर्णित की गई है। काव्यकला की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्त्व नहीं रखती।

5.2.3.7 सेनापति

सेनापति का जन्म संवत् 1643 (1586 ई.) में हुआ था। इनका निवास-स्थान गंगा के पास स्थित अनूप शहर था। 'कवित्त-रत्नाकर' में इन्होंने अपना परिचय स्वयं दिया है। इनके पितामह का नाम परशुराम और पिता का नाम गंगाधर था। इनके गुरु हीरामणि दीक्षित थे। 'सेनापति' इनका उपनाम प्रतीत होता है। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी कविता सरस और प्रवाहमयी है। 'कवित्त-रत्नाकर' का रचनाकाल संवत् 1706 (1649 ई.) है। इसके अतिरिक्त 'काव्यकल्पद्रुम' नामक एक और ग्रन्थ इनके द्वारा रचित बताया जाता है। सेनापति प्रकृति-वर्णन में बड़े सिद्धहस्त हैं। 'कवित्त-रत्नाकर' में पाँच तरंगें हैं, जिनमें क्रमशः श्लेष, शृंगार, ऋतु, रामायण और राम-रसायन का वर्णन है। रामकथा का वर्णन भक्तिभाव से परिपूर्ण है। इनकी सरस रचना का एक उदाहरण देखिए –

कातिक की राति थोरी-थोरी सियराति,
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन है।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फैलि रहे तारे मानो मोती अनगन है।
उदित विमल चन्द चाँदनी छिटकि रही,
राग कैसो जस अध अरध गगन है।
तिमिर हरन भयो, सेत है वरन सब,
मानहु जगत जोर सागर मगन है॥

5.2.3.8 गुरु गोविन्दसिंह

गुरु गोविन्दसिंह का जन्म संवत् 1723 (1666 ई.) में और देहान्त सं. 1765 (1708 ई.) में हुआ था। इनकी माता का नाम गूजरी था और पिता का गुरु तेगबहादुर। इनके दरबार में 52 कवियों को आश्रय प्राप्त था। गुरु गोविन्दसिंह केवल संस्कृत के ही विद्वान् न थे, अपितु इन्हें अरबी, फारसी और ब्रजभाषा आदि का भी अच्छा ज्ञान था। इनकी रचनाओं का संग्रह 'दशम् ग्रन्थ' के नाम से विख्यात है, जिसमें विचित्र नाटक, जफरनामा, रामावतार, गोविन्द रामायण, सौसखी, जाप, चण्डी चरित्र आदि रचनाएँ संगृहीत हैं। इनमें अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग है। कुछ छन्द ऐसे भी हैं जो हिन्दी में प्रचलित नहीं है। शृंगार और वीर रस की इसमें प्रधानता है। युद्ध का वर्णन बड़ा सजीव है। इनकी सरस एवं प्रवाहमयी भाषा का एक उदाहरण देखिए–

नागरा के नैन हैं कि चातुरा के बैन हैं,
बगूला मानो गैन कैसे-तैसे धहरत हैं।
नर्तकी के पाँव हैं कि जूप कैसे दाँव हैं,
कि छल को दिखाव कोऊ तैसे बिहरत हैं।
हाँकि वाणि वीर हैं तफुंग कैसे तीर हैं,
कि अंजनी को धीर है कि धुजा से वहरतहैं।
लहरें अनंग की तरंग जैसे अंग की,
अनंग कैसे अंग ज्यों न कहूँ ठहरत हैं॥

5.2.3.9 महाराज विश्वनाथसिंह

रीवां नरेश महाराज विश्वनाथसिंह स्वयं भी भक्तकवि थे और साथ ही कवियों को आश्रय भी प्रदान करते थे। इनके पुत्र महाराज रघुराजसिंह भी प्रसिद्ध कवि थे। महाराज विश्वनाथसिंह पर कबीरपंथ का भी प्रभाव था। अतः इनकी रचनाएँ कबीरपंथ और रामकाव्य दोनों से सम्बन्ध रखती हैं। इनकी 32 रचनाएँ बताई जाती हैं, जिसमें रामकाव्य सम्बन्धी कृतियों में निम्नलिखित प्रमुख हैं– 'आनन्द रघुनन्दन नाटक', 'संगीत रघुनन्दन', 'आनन्द रामायण', 'रामचन्द्र की सवारी', 'गीता रघुनन्दन' और 'रामायण'। 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' में गद्य और पद्य दोनों का ही प्रयोग है। गद्य की भाषा भी ब्रजभाषा है। इसमें सात अंकों में रामजन्म से लेकर रामराज्य तक की

कथा है । महाराज विश्वनाथसिंह ने असली नामों के स्थान पर दूसरे नाम रख दिए हैं, यथा– राम के लिए 'हितकारी', लक्ष्मण के लिए 'डोल धराधर', रावण के लिए 'दिक्शिरा' । इनकी भाषा सरस है । इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए –

लियो सो बान विज्जु चापय चार देब बर्ज्ज सो ।
लसे सुभट्ट तज्जि गर्ज्जित-गर्ज्जित मर्ज्जल सो ॥
मिले संग्राम के उछाइ पौन सो उमंडि कै ।
आनन्द के अनन्त मेह ज्यों चलै धुमंडि कै ॥

5.2.6 रसिक सम्प्रदाय

रसिक सम्प्रदाय के रसिक भक्तकवि राम और रसिया सीता की रस-रंगपूर्ण प्रेम केलियों को सखी के रूप में बड़े मनोयोग से देखते हैं । बहुत से विद्वानों का विश्वास है कि रामभक्ति में मधुर उपासना की परम्परा का प्रवेश तुलसी से पूर्व हो चुका था, पर तुलसी के प्रखर व्यक्तित्व के सामने वह उभर न सकी । इसका एक कारण मधुर उपासना की प्रकृतिगत सहज गोपनीयता है । अस्तु ! हिन्दी साहित्य के उत्तर-मध्ययुग के आरम्भिक काल में उक्त उपासना पद्धति के एक सुदृढ़ सम्प्रदाय को महत्त्व दिया गया । सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाएँ – जानकी सम्प्रदाय, रहस्य सम्प्रदाय, जानकी-वल्लभ सम्प्रदाय आदि नामों से प्रसिद्ध हैं, किन्तु सामूहिक रूप से इन सबको 'रसिक सम्प्रदाय' के नाम से अभिहित किया जाता है । इन सबमें राम के रसिक या भोग-विलासी रूप की कल्पना कर ली गई है । इस सम्प्रदाय के उपासक अपने आपको रसिकभक्त कहलाना अधिक पसंद करते हैं । 'हनुमतसंहिता' और 'महाकौशल ग्रन्थ' रामभक्ति के रसिक-सम्प्रदाय के दो आकर ग्रन्थ माने जाते हैं । हनुमत-संहिता के अनुसार मधुर रस में माधुर्य-मूर्ति कमनीय किशोर श्रीरामचन्द्र विषयालम्बन हैं, प्रेयसीगण आश्रयालम्बन, सौशील्य माधुर्य, कमनीय किशोरत्व, भूषणालंकार, बसन्त, कोकिल-कूजन आदि उद्दीपन विभाव हैं । कटाक्ष, स्मित आदि अनुभाव हैं । रोमांच, वैवर्ण्य, प्रस्वेद आदि सात्विक भाव हैं । आलस्य निर्वेदादि संचारी भाव हैं । प्रियता-रति, स्थायी भाव है । उक्त संहिता में राम की मधुर उपासना को परम गोपनीय तथा शृंगार रसाश्रित कहा गया है ।

रसिक सम्प्रदाय के भक्तकवियों ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत वनविहार, जल-विहार, वसन्त-विहार, हास-परिहास, सखियों का नृत्य, हिण्डोला, रामक्रीड़ा, काम की रस केलियों, नर्म सखाओं के कला-कौशल, अष्टयामी लीलाओं और नख-शिख आदि को चित्रित किया है । इनकी रचनाओं में अंकित राम रसिक शिरोमणि है तथा सीता सुन्दरी सुरसिका । रसिकता में ये कृष्ण और राधा से बढ़कर हैं । रसिक भक्तकवियों ने प्रत्येक क्षेत्र में राम के विलासी एवं रसिक रूप की कल्पना कृष्ण से कई गुणा अधिक की ।

महात्मा बाल-अली के राम रस के खयाल से रमण करने के लिए केलि भवन जाते हैं और सखियाँ उन्हें देखकर निहाल हो जाती हैं । महात्मा बाल-अली की वास्तविक तृप्ति तो तभी होती है जब वे राम और सीता के युगबद्ध रूप में आबद्ध देखते हैं । रसिक सम्प्रदाय वालों के ऐसे शृंगार-वर्णन निश्चित रूप से अतीव स्थूल और कामोत्तेजक है । इनके राम और सीता के केलिभवन नगरोचित मनोविनोद के सभी उपकरणों से सुसज्जित है । इन

रसिक भक्तों ने बेचारी सीता को अमरूक की नायिका जैसा रूप दे डाला है। सखियाँ सीता से रति-रस के मधुर अनुभवों के बारे में पूछती हैं। वह थोड़ा सकुचाती है, किन्तु पास में पंजर-स्थित वाचाल शुक रति के दृश्यों को बताने की आतुरता प्रकट करता है। बेचारी सीता को तोते के मुख में भूषण-नग देकर उसे चुप कराना पड़ता है। महाराज कृपा-निवास ने राम के द्वारा रस-लोलुप चपल नायक के समान नीबी बंधन आदि व्यापारों को सम्पन्न करवा दिया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में भक्ति के आश्रय में रसिकता का चित्रण अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया। कामुकता की इतनी उन्मुक्त विवृत्ति शायद कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदायों में भी नहीं हुई जितनी कि रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में हुई है।

5.2.7 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. वैष्णव भक्ति के उदय और विकास का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. तुलसी के पूर्व व पश्चात् लिखित रामकाव्यों का विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।
3. विभिन्न आचार्यों द्वारा रचित रामभक्ति-काव्यों पर प्रकाश डालिए।
4. रामभक्ति साहित्य की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
5. रसिक सम्प्रदाय में वर्णित राम के स्वरूप का चित्रण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी के रामभक्ति-काव्य का आधार ग्रन्थ किसे मानना चाहिए ?
2. किन-किन पुराणों में रामकथा वर्णित है ?
3. रामभक्ति-प्रसार में दक्षिण के आलवारों की क्या भूमिका रही ?
4. हिन्दी रामकाव्य को कितने रूपों में विभक्त किया जा सकता है ?
5. उपास्य भेद के आधार पर सगुण भक्तिधारा के कितने भेद हैं ?

टिप्पणी लिखिए –

1. रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि
2. लोकनायक तुलसी
3. रामभक्ति में माधुर्य भाव की उपासना
4. वैदिक साहित्य में राम का अस्तित्व
5. तुलसी की भाषा-शैली

5.2.8 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास
2. डॉ॰ कुसुम राय, हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास
3. तुलसीदास, रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर
4. कुँवरपालसिंह भक्ति-आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य-परम्परा

इकाई – 3 : तुलसीदास की प्रमुख कृतियाँ, काव्य-रूप और उनका महत्त्व

इकाई की रूपरेखा

5.3.0 उद्देश्य
5.3.1 प्रस्तावना
5.3.2 तुलसीदास की प्रमुख कृतियाँ
  5.3.2.01 रामलला नहछू
  5.3.2.02 वैराग्य संदीपनी
  5.3.2.03 रामाज्ञा प्रश्न
  5.3.2.04 जानकी मंगल
  5.3.2.05 रामचरितमानस
  5.3.2.06 पार्वती मंगल
  5.3.2.07 गीतावली
  5.3.2.08 कृष्ण गीतावली
  5.3.2.09 बरवै रामायण
  5.3.2.10 दोहावली
  5.3.2.11 कवितावली
  5.3.2.12 विनयपत्रिका
5.3.3 काव्य-रूप और उनका महत्त्व
5.3.4 पाठ-सार
5.3.5 बोध प्रश्न
5.3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. तुलसीदास की प्रमुख कृतियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. तुलसीदास की कृतियों के वर्ण्य विषय एवं परिवेश के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
iii. तुलसीदास की कृतियों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर बात कर सकेंगे।
iv. प्रमुख कृतियों के कला और भावपक्ष पर चर्चा कर सकेंगे।
v. तुलसीदास की कृतियों के काव्यरूपों का विवेचन कर सकेंगे।

5.3.1 प्रस्तावना

भक्तिकाल में सगुण भक्तिधारा के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास का अनन्य स्थान है। ये उन साहित्य रत्नों में से थे जिन्होंने भारतीय संस्कृति और समाज को अपनी रचनाओं से प्रभावित कर तात्कालिक सामाजिक और धार्मिक जीवन में व्यापक बदलाव कर दिए, जिसकी प्रासंगिकता आज भी कायम है। इनके इन्हीं बदलावों का प्रभाव राजनैतिक स्तर पर भी हुआ। आत्मगोपन की प्रवृत्ति के कारण तुलसीदास के जीवनवृत्त और विविध प्रसंगों के विषय में प्रामाणिक और पुष्ट जानकारी नहीं मिल पाती। ग्रन्थों और अनुसंधानकर्त्ताओं के माध्यम से जो जानकारियाँ प्राप्त होती हैं उनमें भी भेद मिलता है। नाभादास-कृत 'भक्तमाल', गोस्वामी गोकुलनाथ-कृत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', वेणीमाधवदास के 'गोसाईं चरित' और 'मूल गोसाईं चरित', रघुवरदास-कृत 'तुलसी चरित', तुलसी साहेब के 'घाट रामायण' आदि ग्रन्थों में तुलसीदास के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है।

एक विरक्त जीवन जीते हुए भी तुलसीदास का एक सजग और सम्वेदनशील रचनाकार की भाँति लोकजीवन से गहन जुड़ाव रहा। स्वाभावतः उनकी कृतियों में तात्कालिक सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों के साथ-साथ सामान्य जनजीवन के प्रति संसक्ति का भाव स्पष्ट दिखाई देता है। किसी भी रचनाकार की रचनाओं में उसके परिवेश की झलक होती ही है अतः तुलसीदास के साहित्य की चर्चा करने से पूर्व तात्कालिक परिवेश को जानना भी आवश्यक हो जाता है। तुलसीदास के समय हिन्दू जनता मुस्लिम शासन से आक्रान्त थी। जबरन धर्म परिवर्तन, स्त्रियों के अपहरण, जज़िया कर लादने जैसी गतिविधियों के कारण हिन्दू धर्म का क्षय होता जा रहा था। यद्यपि बादशाह अकबर के शासनकाल में हिन्दुओं के प्रति उदारता अवश्य दिखी परन्तु यह उदारता पूर्व के अत्याचारों की क्षतिपूर्ति नहीं कर पाई। पूर्व में कई राजा और प्रजाओं के जबरन मुस्लिम धर्म अपनाने के कारण भी भारतीय सामाजिक सन्तुलन बिगड़-सा गया। आत्यन्तिक विलासिता के कारण समाज में नैतिक मूल्यों का क्षय हुआ। स्त्री-वर्ग मात्र भोग-विलास और वासना का साधन बन गया था। इस प्रकार सामाजिक अधोपतन की स्थिति निर्मित हो चली थी। अकबर की नीतियाँ भी तुलसीदास को प्रभावित नहीं कर सकीं। तात्कालिक शासन को तुलसीदास ने रावण-राज के रूप में प्रस्तुत किया है। हर प्रकार से धर्म की हानि हो रही थी और अधर्म अपने पैर पसार रहा था। धर्म के प्रति समर्पित हिन्दू जनमानस के मन में नवजीवन के जाग्रति और उत्साह जगाने का कार्य गोस्वामी तुलसीदास ने किया। इसके लिए उन्होंने जिस चरित्र को समाज के सम्मुख उपस्थित किया वह मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र था। राम शील, शक्ति और सौन्दर्य के रूप हैं। इन्हीं के ओजस्वी एवं उदात्त व्यक्तित्व ने हिन्दू जन-मन में धर्म के प्रति आस्था और विश्वास का बल प्रदान किया, जिसका श्रेय तुलसीदास को जाता है। अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन पतनोन्मुख राजनीति को प्रभावित कर धर्म और समाज में नवजीवन का सूत्रपात पूर्ण सात्विकता और नैतिक मूल्यों के साथ किया।

गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त की तरह ही उनकी रचनाओं के विषय में भी विद्वानों में मतभिन्नता मिलती है। 'मूल गोसाईं चरित' में तुलसीदास की बारह रचनाओं का उल्लेख मिलता है तो जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी कृति 'इंडियन एन्टीक्वेटी' में तुलसीदास की सोलह रचनाएँ गिनायी हैं। मिश्र बन्धुओं के इतिहास में तुलसी की पच्चीस रचनाएँ बताई गई हैं। वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसीदास के

छोटी और बड़ी कुल बारह रचनाओं का उल्लेख मिलता है । बड़े ग्रन्थों में – दोहावली, गीतावली, रामचरितमानस, कवितावली, रामाज्ञा प्रश्न और विनयपत्रिका और छोटी रचनाओं में – रामललानहछू, पार्वतीमंगल, जनकीमंगल, बरवैरामायण, कृष्णगीतावली और वैराग्यसंदीपनी – इस प्रकार कुल बारह रचनाओं का उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया है। शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' में आचार्य शुक्ल द्वारा बताई गई इन रचनाओं के अतिरिक्त राम सतसई, संकटमोचन, हनुमानबाहुक, राम शलाका, छंदावली, छप्पय रामायण मिलाकर कुल अट्ठारह रचनाएँ बताई गई हैं। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि तुलसीदास की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें प्रामाणिकता का आभाव है । 'सतसई' ऐसी ही अप्रामाणिक रचना है । गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं के सन्दर्भ में पण्डित रामगुलाम द्विवेदी का एक छन्द उल्लेखनीय है –

रामलला नहछू त्यों विराग संदीपनी हूं,
बरवै बनाई विर्माई मति साई की।
पारवती जानकी के मंगल ललित गाय,
रम्य राम आज्ञा रची कामधेनु नाइ की।
दोहा औ कवित्त गीतबन्ध कृष्ण राम कथा,
रामायन विनय माहिं बात सब ठाई की।
जग में सुहानी जगदीसहुँ के मनमानी,
सन्त सुखदानी बानी तुलसी गोसाई की॥

पण्डित द्विवेदी के इन छन्दों में भी तुलसीदास की प्रमुख बारह कृतियों का वर्णन मिलता है और यही बारह कृतियाँ आमतौर पर सर्वमान्य भी हैं। तुलसीदास की कृतियों को क्रमानुसार इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है –

01. रामलला नहछू
02. वैराग्य संदीपनी
03. रामाज्ञा प्रश्न
04. जानकी मंगल
05. रामचरितमानस
06. पार्वती मंगल
07. गीतावली
08. कृष्ण गीतावली
09. बरवै रामायण
10. दोहावली
11. कवितावली
12. विनयपत्रिका

5.3.2 तुलसीदास की प्रमुख कृतियाँ

5.3.2.01 रामलला नहछू

'रामलला नहछू' तुलसीदास की रचनाओं की पहली और गार्हस्थ्य जीवनकाल में लिखी गई कृति है। सामान्य ग्रामीण बोलचाल वाली अवधी में सोहर छन्द में लिखी गई इस कृति में चार चरणों के बीस छन्द हैं। तुलसीदास ने यहाँ यज्ञोपवीत तथा विवाह के अवसर पर किए जाने वाले नहछू संस्कार को छन्दबद्ध किया है। इस रचना में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो विद्वानों में यह मतभेद उत्पन्न करते हैं कि यह यज्ञोपवीत का नहछू है या विवाह का। रामहि बर, दुलह राम, पनहि लिए, नख काटत आदि ऐसे ही शब्द हैं जो इसे यज्ञोपवीत का नहछू होने पर सन्देह व्यक्त करते हैं परन्तु यहाँ एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि विवाह के समय राम अयोध्या में नहीं थे। इस आधार पर रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं, "रामलला का यह नहछू तब का है, जब विवाहोपरान्त सीता को लेकर राम अयोध्या आए हैं। उनका यह उपसंस्कार विवाह के बाद अयोध्या में हुआ था।" रचना के दूसरे छन्द में तुलसीदास लिखते हैं –

कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो।
देवलोक सब देखहिं आनँद अति हिय हो॥
नग सोहावन लागत बरनि न जातै हो।
कौसल्या के हर्ष न हृदय समातै हो॥

इस छन्द से स्पष्ट है कि यह नहछू अयोध्या में यज्ञोपवीत के अवसर पर ही हुआ था अतः इसे यज्ञोपवीत का नहछू मानना ही युक्तिसंगत है। 'रामलला नहछू' के पहले छन्द में मंगलाचरण और फलाश्रुति दोनों एक साथ है। यथा –

आदि सारदा गनपति गौरि मनाइय हो।
रामलला कर नहछू गाइ सुनाइय हो॥
जेहि गाये सिधि होय परम निधि पाइय हो।
कोटि जनम कर पातक दूरि सो जाइय हो॥

बाद के छन्दों में अयोध्या के आनन्द और उत्साहमय परिवेश का वर्णन कवि ने किया है, जिसमें राजमहल के सौन्दर्य, मण्डप की सुन्दरता, प्रजाजनों में विशेषकर स्त्रियों द्वारा मंगलगान, नहछू संस्कार की विधियाँ आदि प्रसंग शामिल हैं। परिवेश का यह वर्णन दो से चार छन्दों में होता है फिर पाँचवें छन्द में स्त्रियों के आने के साथ-साथ छठवें और सातवें छन्द में प्रजा स्त्रियों के सौन्दर्याकर्षण का उल्लेख किया गया है, जो नहछू के शुभ अवसर पर अपना नेग लेने वहाँ आई हैं। इनमें लोहारिनि, अहिरिनि, मोचिनि, मालिनि, नाउनि, बारिनि आदि प्रजा स्त्रियों में नाउनि विशेष आकर्षण का केन्द्र बनती है। नहछू में उसकी गतिविधियों का विशेष महत्त्व भी होता है, अतः तुलसीदास ने अगले ग्यारह छन्दों में कई बार नाउनि की क्रियाओं का वर्णन किया है। नहछू में नाउनि के महत्त्व के कारण इस रचना का अधिकांश हिस्सा नाउनि पर ही केन्द्रित हुआ है, जिसमें उसकी गतिविधियों के

साथ-साथ उसके सौन्दर्य का व्यापक चित्रण तुलसीदास ने किया है। उसके उसके सौभाग्य का वर्णन करते हुए तुलसीदास लिखते हैं –

अति बड़भाग नउनियाँ छुऐ नख हाथ सों हों।
नैनन्ह करति गुमान तौ श्रीरघुनाथ सों हो॥
जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरसन पावइ हो॥

यज्ञोपवीत संस्कार में प्रजा विशेष की क्रियाओं का क्रमबद्ध वर्णन करते हुए तुलसीदास ने अन्त में निछावर की विधि वर्णित करते हुए फलाश्रुति की है। कला की दृष्टि से कवि ने इसमें ठेठ अवधी भाषा का प्रयोग कर इसे लोकजीवन के अनुरूप रचा है। प्रसंगानुरूप शृंगार वर्णन के इस लघु खण्डकाव्य में लोकजीवन में व्याप्त एक लोकाचार का विषद् और सूक्ष्म विवेचन मिलता है और साथ ही, कवि का लोकाचार के प्रति मोह भी प्रदर्शित होता है। रचना में मात्र राम के वर्णन कर उन्होंने अपने राम के प्रति अनन्य भक्तिभाव को भी स्पष्ट कर दिया है। इसके रचनाकाल को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'रामलला नहछू' का रचनाकाल संवत् 1611 है।

5.3.2.02 वैराग्य संदीपनी

'वैराग्य संदीपनी' तुलसीदास की रचना शृंखला की अगली कड़ी है। डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इसका रचनाकाल संवत् 1614 है। 46 दोहे, 2 सोरठे और 14 चौपाइयों वाली इस कृति में कुल 62 छन्द हैं। भाषा की दृष्टि से यहाँ अवधी और ब्रज का मिश्रित रूप मिलता है। नामानुरूप तुलसीदास की यह रचना उनके वैराग्य धारण करने के बाद की रचना है, जिसमें उन्होंने वैराग्य के वास्तविक स्वरूप को प्रतिपादित किया है। सन्त मत से प्रभावित इस कृति में तुलसीदास वैराग्य धारण करने के बाद प्राप्त अविरल शान्ति को भी व्याख्यायित करते हैं। लौकिक जगत् के माया-मोह को त्यागकर जब कोई अध्यात्म की ओर अग्रसर होता है तो उसके व्यक्तित्व में भी बदलाव आ जाता है।

कृति का प्रारम्भ मंगलाचरण से करते हुए तुलसीदास ने सन्त स्वभाव, सन्त महिमा और शान्ति का क्रमबद्ध वर्णन किया है। सन्त स्वभाव का वर्णन आठ से लेकर तैंतीसवें दोहे तक मिलता है। सन्त की पहचान बताते हुए वे एक चौपाई में लिखते हैं –

अति अनन्य गति इन्द्री जीता, जाको हरि बिनु कतहुं न चीता।
मृग तृष्णा सम जग जिय जानी, तुलसी ताहि सन्त पहिचानी॥

प्रस्तुत रचना में तुलसीदास पर सन्तमत की ईश्वर-भक्ति का प्रभाव रहा। जहाँ परमात्मा की प्राप्ति के और शान्ति के लिए लौकिक मोह को त्यागने की बात कही गई है। शान्ति वर्णन में वे इसी तथ्य का निरूपण 43 और 44 वें छन्द में करते हैं –

रैनि को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भानु।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन भानु॥

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन शान्ति पद, तुलसी अमल अदाग॥

सन्तों के गुणगान के साथ-साथ तुलसीदास ने परमात्मा की भक्ति के लिए सगुण और निर्गुण की समानता को बड़ी ही सशक्तता के साथ यहाँ उद्धृत किया है। अपनी इस कृति के लिए तुलसीदास ने स्वयं लिखा है –

तुलसी बेद-पुरान-मत, पूरन सास्त्र बिचार।
यह बिराग-संदीपनी अखिल ज्ञान को सार॥

काव्यकला की दृष्टि से तुलसीदास की यह कृति भले ही अविशेष है परन्तु उद्देश्य प्रतिपादन की सफलता के कारण यह महत्त्वपूर्ण हो जाती है। वैराग्योपरान्त मिलनेवाली अद्भुत शान्ति का सार्थक निरूपण इस कृति का मूल उद्देश्य रहा जिसमें तुलसीदास पूरी तरह सफल हुए हैं। रचनान्त में कवि ने विद्वानों से भूल सुधार के लिए अन्तिम छन्द में प्रार्थना भी की है –

यह बिराग संदीपनी, सुजन सुचित सुनि लेहु।
अनुचित बचन बिचारि के, जस सुधारि तस् देहु॥

5.3.2.03 रामाज्ञा प्रश्न

अवधी के दोहा छन्द में रचित तुलसीदास की इस रचना में कुल सात सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग सात-सात सप्तक हैं और हर सप्तक में सात दोहे दिए गए हैं। इस तरह 343 दोहों की यह रचना तुलसीदास ने काशी के राजज्योतिषी पण्डित गंगाराम के लिए की थी। जिसमें कार्य सफलता-असफलता तथा यथास्थिति की जानकारी प्रश्नानुरूप मिलती है।

एक कथा के अनुसार काशी के प्रहलाद घाट पर काशी के राजज्योतिषी गंगाराम रहा करते थे। तुलसीदास अक्सर इन्हीं के यहाँ ठहरते थे। एक समय की बात है काशी में राजघाट के गहरवार वंशीय राजकुमार आखेट के लिए गए किन्तु उस दिन लौटकर नहीं आए। काशीनरेश ने राजज्योतिषी से राजकुमार के सकुशल आगमन का प्रश्न किया था। परन्तु साथ में यह शर्त भी रखी थी कि यदि उनके प्रश्नफल गलत निकला तो उनकी गर्दन काट दी जाएगी और यदि सही निकला तो उन्हें पुरस्कृत किया जाएगा। पण्डित गंगाराम ने गणित करके अदृष्ट बताने की बात कही और घर आए। घर पर वे बड़े परेशान थे। इन्हीं दिनों तुलसीदास उनके घर आए हुए थे। तुलसीदास ने पण्डित गंगाराम की परेशानी का कारण पूछा। कारण पता चलने के बाद तुलसीदास ने पण्डित गंगाराम को आश्वस्त किया और उसी दिन रामाज्ञा प्रश्न की रचना की और काशीनरेश का प्रश्नफल देखकर बताया

की राजकुमार कल संध्या तक सकुशल लौट आएगा। पण्डित गंगाराम से यही बात कही और वही हुआ। काशी नरेश ने प्रसन्न होकर पण्डित गंगाराम को पुरस्कृत किया।

पुरस्कार की राशि लेकर पण्डित गंगाराम तुलसीदास के सामने रख दी। यह राशि तुलसीदास ने लेने से मना कर दिया। परन्तु अनुरोध करने पर कुछ राशि ली, जिससे उन्होंने काशी में हनुमान के बारह मन्दिर बनवाए। कहीं-कहीं बारह मूर्तियों का भी उल्लेख मिलता है। ये मन्दिर आज भी काशी के राजापुर में विद्यमान हैं।

यह रचना पण्डित गंगाराम के लिए ही की गई थी या नहीं इसका ठोस प्रमाण नहीं मिलता परन्तु शकुन-अपशकुन जानने के लिए ही तुलसीदास ने इसे रचा, इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता। इस कृति के प्रथम सर्ग का प्रारम्भ भी मंगलाचरण से हुआ है। उपरान्त विदेश यात्रा की सफलता हेतु देवी-देवताओं और गुरुजनों को स्मरण करने तथा मानस के बालकाण्ड के कुछ पात्रों के नामस्मरण की महत्ता को बताकर पहला सर्ग पूर्ण किया गया है। दूसरे सर्ग में अयोध्या और अरण्यकाण्ड के प्रसंगों का उल्लेख है। तीसरे सर्ग में अरण्य से लेकर किष्किंधा तक के प्रसंग हैं। चौथे सर्ग में फिर से बालकाण्ड के प्रसंग हैं तो पाँचवें सर्ग में सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड के प्रसंग उद्धृत किए गए हैं। छठवें सर्ग में रामाज्ञा से इन्द्र द्वारा वर्षा कर बंदरों और भालुओं को जिलाने का प्रसंग मिलता है। इसके बाद राम के अयोध्या लौटने, सिंहासन पर बैठने, बक और उलूक को न्याय देने, ब्राह्मण के मृत बालक को जीवित करने, सीता के प्रति आरोप, उनका निर्वासन, लव-कुश के ऋषि वाल्मीकि के साथ सभा में आने आदि प्रसंग इसी सर्ग में हैं। सातवाँ सर्ग स्वतन्त्र दोहों का सर्ग है, जिसमें शकुन देखने के लिए विभिन्न निर्देश दिए गए हैं। इसमें विशेष तौर पर यह कहा गया है कि एक दिन में तीन से अधिक प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।

'रामाज्ञा प्रश्न' में कथाक्रम नहीं मिलता। यद्यपि मंगलाचरण और इसकी सर्गबद्धता और कथा प्रसंगों की एक योजना प्रबन्धात्मक प्रतीत होती है। परन्तु इस प्रबन्धात्मकता में कथानक के धारावाहिकता का अभाव होने से प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से इसमें दोष आ जाता है। 'रामाज्ञा प्रश्न' के प्रसंगों पर वाल्मीकि रामायण की कथाओं का प्रभाव है। राम के अयोध्या लौटने के बाद के प्रसंग वाल्मीकि रामायण से सम्बद्ध हैं। रचनाकाल के लिए रचना में एक संकेत मिलता है –

सगुन सत्य ससिनयन गुन अवधि अधिक नय बान।
होई सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान॥

इस प्रकार दोहे के आधार पर इस रचना की तिथि संवत् 1621 बताई जाती है और इस कथा प्रसंग से इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि संवत् 1621 में तुलसीदास काशी में थे।

5.3.2.04 जानकी मंगल

ठेठ पूर्वी अवधी भाषा में रचित तुलसीदास की सफल कृति 'जानकी मंगल' में 120 छन्द हैं जिनमें 96 सोहर छन्द और 24 हरिगीतिका छन्द का समावेश है। मंगलाचरण की आखिरी पंक्तियों से इसके वर्ण्य विषय का पता चल जाता है। मंगलाचरण के दूसरे छन्द में तुलसीदास कहते हैं –

हाथ जोरि करि बिनय सबहि सिर नावौं।
सिय रघुबीर बिबाहु जथामति गावौं॥

अतः स्पष्ट है कि 'जानकी मंगल' का मूल प्रतिपाद्य सीता-राम-विवाह है। रचना का शीर्षक भी इसी कथन को पुष्टि प्रदान करता है। मंगलाचरण के साथ 6 भागों में विभक्त इस कृति का आरम्भ राजा जनक के प्रण और सीता स्वयंवर के उल्लेख के साथ हुआ है। इसके उपरान्त विश्वामित्र के अयोध्या आकर राम और लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने के प्रस्ताव और प्रस्थान, ताड़का-वध, विश्वामित्र का विद्यादान, निर्विघ्न यज्ञोपरान्त जनकपुर की ओर प्रस्थान और मार्ग में अहल्या के उद्धार जैसे प्रसंगों का वर्णन किया गया है। इसके बाद सीता स्वयंवर के साथ सीता-राम के विवाह प्रसंग को छन्दबद्ध किया गया है।

विश्वामित्र दोनों भाइयों की प्रशंसा करते हैं। जनकपुरवासी राम और लक्ष्मण के अलौकिक सौन्दर्य को देखकर अद्‌भुत सुख और आनन्द की अनुभूति करते हैं। परन्तु उनके द्वारा शिवधनुष तोड़ पाने को लेकर वे आशंकित हो जाते हैं। रानी सुनयना का पश्चाताप, सीता का वहाँ आना, अनुचरों द्वारा जनक का प्रण बताया जाना, अन्य राजाओं द्वारा धनुष उठाने का असफल प्रयास कर वहाँ से चले जाना और अन्ततः राम द्वारा शिवधनुष को उठाना और प्रत्यंचा चढ़ाते हुए शिवधनुष टूट जाने, धनुर्भंग के उपरान्त सीता-राम का विवाह निश्चित होने और कुलगुरु शतानन्द का यह मंगल समाचार लेकर अयोध्या जाना, जनकपुर में विवाह की तैयारियों, विवाह के सम्पन्न होने के बाद बरात की विदाई, अयोध्या लौटते समय क्रुद्ध परशुराम के मार्ग में उपस्थित हो जाने और राम का उनके क्रोध को शान्त कर बरात का अयोध्या पहुँचना और अयोध्या में आनन्द, उल्लास के साथ साज-सज्जा का क्रमशः वर्णन मिलता है।

कलात्मक दृष्टि से अपने वर्ण्य-विषय की अखण्डता को बनाए रखने के लिए तुलसीदास ने इसमें बड़े नपे-तुले प्रसंग चुने हैं। रामजी तिवारी के शब्दों में, "प्रबन्धगत शैथिल्य और घटनाओं के संक्षिप्त होने के बावजूद इसकी पद योजना, लयबद्धता, संगीतात्मकता और श्रुतिमधुरता में चुम्बकीय आकर्षण है। इस रचना की मूल प्रेरणा लोक-संस्कृति को परिष्कृत और परिनिष्ठित करने की कामना है।" रचनान्त में फलाश्रुति का उल्लेख करते हुए तुलसीदास लिखते हैं –

उपबीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदित पावहीं॥

इसके अनन्तर जानकीजी की स्तुति की गई है। अधिकांश विद्वान् घटनाओं के आधार पर इस कृति पर वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। इस कृति के रचनाकाल के विषय में ठोस जानकारी नहीं मिलती कथा और शैली के आधार पर डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त इसका रचनाकाल संवत् 1627 बताते हैं।

5.3.2.05 रामचरितमानस

रामचरितमानस तुलसीदास की सबसे लोकप्रिय और वृहद् रचना है। इसे रचकर तुलसीदास अमर हो गए। भारतीय भाषाओं के साथ-साथ विश्व की सभी विकसित भाषाओं में इसका अनुवाद भी हुआ है। अवधी भाषा में रची गई और सात काण्डों में विभाजित इस महाकाव्य की रचना मुख्यतः चौपाई और दोहा छन्द में हुई है, यद्यपि सर्गारम्भ तथा बीच-बीच में कुछ अन्य छन्दों का भी समावेश तुलसीदास ने किया है। कुल मिलाकर रामचरितमानस में 5100 चौपाइयाँ और अन्य छन्द और दोहे मिलाकर कुल 1074 दोहे हैं।

कोई एक रचना रामचरितमानस की रचना का आधार स्रोत नहीं है अपितु इसमें अध्यात्म रामायण, वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत, हनुमन्ननाटक आदि ग्रन्थों का प्रभाव दिखाई देता है। इसके साथ ही इसमें कुछ मौलिक उद्भावनाओं, नियोजित घटनाक्रम, लोकजीवन से जुड़ाव, जीवन की सशक्त अनुभूति और मानवीय सम्वेदना की कुशल अभिव्यक्ति के कारण तुलसीदास की यह कृति असाधारण हो गई है। राम के प्रति अनन्य श्रद्धा के साथ तुलसीदास ने यहाँ मानव-जीवन का सर्वांगीण चित्रण, सांस्कृतिक निरूपण, लोकाचार आदि लोकजीवन से जुड़े विविध पहलुओं का वर्णन किया है। इस वर्णन में मानव-जीवन का कोई भी पक्ष तुलसीदास की लेखनी से अछूता नहीं रह पाया है।

रामचरितमानस में सात काण्ड हैं – बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किंधाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड। इस प्रकार राम के जीवनक्रम पर आधारित यह रामकथा राम के जीवन के विविध घटनाक्रमों क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत करती है। प्रत्येक काण्ड का प्रारम्भ मंगलाचरण से हुआ है और अन्त में फलाश्रुति का निरूपण समान रूप से मिलता है। रचना के अन्त में अर्थात् उत्तरकाण्ड के समापन में रामायण माहात्म्य और रामायणजी की आरती है। इसमें महाकाव्य, पुराण और नाटक तीनों शैलियों का संयोग देखा जा सकता है। विशद् कथानक, प्रसंग योजना, रचना का उद्देश्य, धीरोदात्त नायक, महाकाव्य शैली का, कथानक को चार वक्ताओं द्वारा कहलाना, जिनमें शिव-पार्वती संवाद, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद, काकभुशुण्डी-गरुड़ संवाद तथा तुलसीदास-भक्तों का संवाद – पुराण शैली का तथा संवाद योजना एवं सघन अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति नाटक शैली का परिचायक है। संस्कृत के कई ग्रन्थों से रत्नों को चुनकर तुलसीदास ने रामचरितमानस को सजाया है, जिसकी पुष्टि वे मानस के प्रारम्भ के श्लोक में कर देते हैं –

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

इस प्रकार यह नानापुराण निगमागम सम्मत रामचरित है । परन्तु प्रचलित पूर्ववर्ती रामकथाओं से रामचरितमानस में कुछ भिन्नता मिलती है । जैसे कि निर्गुणवादियों को राम विष्णु के अवतार प्रतीत नहीं होते । तुलसीदास ने इस प्रतीति खारिज करते हुए अपने वक्ताओं के माध्यम से राम को विष्णु का अवतार बताकर सगुन भक्ति की सार्थकता साबित की है । इस रचना के माध्यम से तुलसीदास ने जनमानस में व्याप्त अनेक भ्रान्तियों को दूर कर उनका मार्गदर्शन किया है । मानस में उद्धृत लोकमंगल की भावना आज भी प्रासंगिक है । गोस्वामीजी की सघन अनुभूतियाँ, गूढ़ ज्ञान, लोकमंगल की भावना, मर्यादावादी दृष्टिकोण, राम के प्रति अविरल आस्था, अद्भुत काव्यकला, काव्यशास्त्रीय नियोजनादि से यह रचना लोकमानस के बीच अत्यन्त प्रिय एवं प्रासंगिक बनी हुई है । इसके रचनाकाल को लेकर तुलसीदास मानस के बालकाण्ड में तैंतीसवें दोहे के बाद दूसरी चौपाई में संकेत देते हुए लिखते हैं –

संबत सोरह सै एकतीसा । करउँ कथा हरि पद धरि सीसा ॥
नौमी भौम बार मधु मासा । अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ॥

इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि तुलसीदास की यह रचना संवत् 1631 की है जिसे उन्होंने अयोध्या में रचा था ।

5.3.2.06 पार्वती मंगल

'पार्वतीमंगल' 'जानकीमंगल' की तरह ही शिव-पार्वती-विवाह की कथा है । अर्थात् शिव-पार्वती का विवाह इसका मूल प्रतिपाद्य है, जिस पर 'शिवमहापुराण' और कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' का प्रभाव दिखाई देता है । विद्वानों का मत है कि पार्वतीमंगल की रचना तुलसीदास ने स्त्री समाज के कल्याण और मांगल्य के लिए की है । कुल 90 छन्दों के इस खण्डकाव्य को तुलसीदास ने सोहर छन्द में ठेठ अवधी भाषा में रचा है, जिसमें चौहत्तर सोहर छन्द और सोलह हरिगीतिका छन्द का समावेश है । इसके रचनाकाल के विषय में तुलसीदास स्वयं लिखते हैं –

जय संवत फागुन सुदि पांचे गुरु दिन ।
अस्विनी बिरचेऊँ मंगल सुनि सुख छिनुछिनु ॥

अर्थात् यह रचना 'जय' नामक संवत् यानी संवत् 1643 की फाल्गुन सुदी पंचमी के बृहस्पतिवार को हुई थी । 'पार्वतीमंगल' और 'मानस' की कथा में अन्तर है । 'पार्वती मंगल' में शिवजी का वेश सुन्दर है जबकि मानस में शिवजी का विवाह उनके असली रूप में ही हुआ है ।

रचना का प्रारम्भ तुलसीदास ईश्वर वन्दना से करते हैं और फिर अपने आराध्य राम और सीता का स्मरण कर कृति का प्रारम्भ करते हैं । आरम्भ में पार्वती के जन्म लेने के बाद हिमवान और मयना के आनन्द के साथ-साथ उनके भाग्य की सराहना मिलती है । विवाह योग्य हो जाने पर उपयुक्त वर की कामना से नारद शिवाराधना का

सुझाव देते हैं। कालान्तर में पार्वती शिवाराधना करती हैं। देवताओं के प्रेरित करने पर कामदेव का शिव की तपस्या भंग करना, पश्चात् शिव के प्रकोप से कामदेव का भस्म हो जाना और फिर रति का विलाप, फिर वरदान, पार्वती की तपस्या, तपस्या से प्रभावित होकर शिवजी का योगी के रूप में प्रगत होना, शिव द्वारा पार्वती के मन में उनके प्रति अरुचि भाव उत्पन्न करने का प्रयास, क्रोधित होकर पार्वती का योग को चले जाने के लिए कहना और फिर शिवजी का असली रूप में प्रगट होना, शिव-पार्वती के विवाह में शिव का अपने गणों के साथ विचित्र वेश में उपस्थित होना, पार्वती की माता मयना का विलाप उपरान्त शिवजी का सुन्दर रूप धारण कर लेना और उसके बाद शिव-पार्वती विवाह सम्पन्न होकर शिव का पार्वती को लेकर कैलाश जाने आदि घटनाक्रमों को तुलसीदास ने बड़े ही प्रभाव, मार्मिकता, सरसता और प्रबन्धात्मक तरीके से प्रस्तुत किया है। रचनान्त में फलाश्रुति की गई है। काव्यकला की दृष्टि से तुलसीदास ने इसमें भाषा, छन्द, अलंकारों, शब्दशक्तियों, रसों का सटीक संयोजन किया है जो तुलसीदास की अनुपम काव्यकौशल को दर्शाता है।

5.3.2.07 गीतावली

रामचरितमानस की तरह ही सात काण्डों में विभक्त 'गीतावली' रामकथा पर आधारित मुक्तक प्रगीत काव्य-रचना है। ब्रजभाषा में रची इस कृति में बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किंधाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड के कुल पद मिलाकर तुलसीदास ने 330 पदों को समाविष्ट किया है। इस कृति के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह कि यहाँ तुलसीदास ने मंगलाचरण और अन्त में फलाश्रुति की योजना नहीं की है। स्पष्टतः तुलसीदास यहाँ प्रबन्धात्मकता की अपेक्षा संगीतात्मकता को प्रधानता देकर इस स्फुट गीत संग्रह को विभिन्न इक्कीस राग-रागिनियों में प्रस्तुत किया है। इसमें राग केदार के 92 पद और राग सोरठा के 51 पदों का व्यापक प्रयोग तुलसीदास ने किया है जिससे तुलसीदास के संगीत विषयक ज्ञान की जानकारी मिलती है।

'गीतावली' का कथानक वाल्मीकि रामायण पर आधारित होने के कारण मानस की रामकथा से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। बालकाण्ड में राजा दशरथ के राजभवन में राम जन्मोत्सव, संस्कार, लीला वर्णन, अहल्या उद्धार, जनकपुर जाना, धनुर्भंग, सीता-राम का स्वयंवर उपरान्त अयोध्या लौटना आदि प्रसंगों का चित्रण है तो अयोध्याकाण्ड में राम के राज्याभिषेक की तैयारी, कैकेयी के छल, राम का वनवास, दशरथ की पीड़ा के साथ वनवास के प्रसंगों का वर्णन किया गया है। यहाँ तुलसीदास ने विरह का बड़ा ही मार्मिक और वस्तृत वर्णन किया है। जन-मानस तो राम के वनवास से दुखी था ही साथ ही पशु-प्राणी भी राम के वनवास से उनके विरह की पीड़ा झेलता है। ऐसे ही एक प्रसंग में माता कौशल्या राम के अश्वों की विरह वेदना प्रस्तुत करती हुई कहती हैं –

आली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे?
लेत हिये भरि भरि पति को हित, मातु हेतु सुत जैसे॥
बार-बार हिहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारेतें करुनामय सुत प्यारे॥
लोचन सजल, सदा सोवत-से, खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम-सुरति उर आए॥

(अयोध्याकाण्ड, 85)

अरण्यकाण्ड में मारीच का वध, सीता का हरण, शबरी प्रसंग, जटायु-उद्धार प्रसंग सम्मिलित हैं । किष्किंधाकाण्ड के दो पदों में एक में ऋष्यमूक पर्वत पर राम की व्यथा और दूसरे पद में सीता की खोज में सुग्रीव को आदेशित करने का प्रसंग उल्लेखनीय है। इस प्रकार रामचरितमानस की तरह ही कथा विस्तार 'गीतावली' में भी किया गया है तथा रचनान्त अर्थात् उत्तरकाण्ड के समापन में तुलसीदास ने रामचरित का उल्लेख करते हुए अपनी भक्ति के अनुरूप वरदान माँगा है। वे कहते हैं –

बेद-पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति-दान तब माँगि लियो॥

(उत्तरकाण्ड)

'गीतावली' में परुष भाव के अभाव के कारण सौन्दर्य और कोमल भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। गायन की दृष्टि से रची इस कृति को रचने में तुलसीदास सफल रहे हैं । गीतों के लिए प्रसाद और माधुर्यमयी पदावली और छन्दों के उचित नियोजन से कवि ने इसे संगीतमय बना दिया है। काव्यकला की दृष्टि से अलंकार और शब्दशक्तियों की यथेष्ठ प्रयुक्ति भी कवि ने की है। यथास्थान फाग, चांचरि, हिण्डोला आदि का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। तुलसी की यह कृति अपने अद्‌भुत काव्यसौन्दर्य एवं प्रभावी चित्रण के कारण लोकमानस को प्रभावित कर जाती है।

तुलसीदास की अन्य रचनाओं की तरह इस रचना की प्रामाणिकता का भी कोई ठोस आधार नहीं मिलता। डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'गीतावली' का रचनाकाल संवत् 1653 मान्य किया गया है।

5.3.2.08 कृष्ण गीतावली

'कृष्ण गीतावली' विशुद्ध ब्रजभाषा में कृष्णलीला पर आधारित कुल 61 पदों की रचना है। 'गीतावली' की तरह ही इस मुक्तक गीतिकाव्य को भी तुलसीदास ने संगीत के विभिन्न रागों के अनुरूप रचा है। इसमें राग मल्हार के सर्वाधिक पद हैं जिसके बाद राग गौरी, राग केदार, राग बिलावल, आसावरी, राग धनाश्री, कान्हरा, राग सोरठा और राग ललित के पद मिलते हैं । अब तक रामकथा को प्रस्तुत करनेवाले तुलसीदास की यह रचना कृष्णोपासना के साथ राम और कृष्ण की अभेदता को भी प्रमाणित करती है।

'कृष्ण गीतावली' की निर्मिति सूरदास के कृष्णभक्ति की गीत योजना के अनुरूप हुई है । कथानक की दृष्टि से तुलसीदास ने सूर की उद्‌भावनाओं के केवल दो ही प्रसंग चुने हैं– एक तो, कृष्ण का माखन चुराना और दूसरा, उद्धव गोपियों का संवाद। यहाँ उद्धव से संवाद न होकर मात्र गोपियों के संवाद मिलते हैं। अतः यहाँ कृष्ण चरित्र का संक्षिप्त रूप दिखाई देता है।

कृष्ण भक्तों में भ्रमरगीत प्रसंग बेहद लोकप्रिय रहा है, जिससे तुलसीदास भी भलीभाँति परिचित थे। अतः इस प्रसंग को मुख्यतः 'कृष्ण गीतावली' में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। 'कृष्ण गीतावली' का प्रतिपाद्य भी यही है अतः कृति में सर्वाधिक पद इसी प्रसंग के मिलते हैं। इसी प्रसंग में जब गोपियों और उद्धव में सगुण और निर्गुण को लेकर विवाद चल रहा होता है तो गोपियाँ उद्धव को फटकार लगाते हुए कृष्ण के प्रति अपने एकनिष्ठ प्रेम और सगुणोपासना को महत्त्व देती हुई कहती हैं –

गोकुल प्रीति नित जानि।
जाइ अनत सुनाइ मधुकर ग्यान गिरा पुरारि ॥1॥
मिलहिं जोगी जरठ तिन्हहि देखाउ निरगुन खानि।
नवल नन्दकुमार के ब्रज सगुन सुजस बखानि॥

'कृष्ण गीतावली' में तुलसीदास ने ब्रजभाषा के साथ संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का भी अद्भुत प्रयोग किया है जिसे पढ़ते ही 'विनयपत्रिका' में उद्धृत राम-स्तुति की स्मृति हो जाती है। कृष्ण की शोभा-वर्णन करते हुए वे कहते हैं –

गोपाल गोकुल बल्लवी प्रिय गोप गोसुत बल्लभं।
चरनारबिंदमहं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभं॥

घनश्याम काम अनेक छबि, लोकाभिराम मनोहरं।
किंजल्क बसन, किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं॥

इस प्रकार कृष्ण-चरित के विलक्षण प्रस्तुतीकरण के कारण 'कृष्ण गीतावली' तुलसीदास की असाधारण रचना बन गई है। भाषा में प्रौढ़ता, ब्रज के साथ संस्कृतनिष्ठ पदावली और सामान्य लोकजीवन में प्रयुक्त होने वाली लोकोक्तियाँ और मुहावरों का भी कवि ने सार्थक प्रयोग किया है। कृति के अन्त में तुलसीदास ने कृष्ण के लोकहितकारी व्यक्तित्व का गुणगान करते हुए कृति का समापन किया है। डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त ने इसका रचनाकाल संवत् 1658 के लगभग बताया है।

5.3.2.09 बरवै रामायण

'रामचरितमानस' और 'गीतावली' की भाँति 'बरवै रामायण' भी सात खण्डों में विभक्त परन्तु 69 छन्दों की छोटी कृति है। सभी खण्डों के नाम भी वही हैं मात्र छन्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। बालकाण्ड में 19 छन्द, अयोध्याकाण्ड में 8 छन्द, अरण्यकाण्ड में 6 छन्द, किष्किन्धाकाण्ड में 2 छन्द, सुन्दरकाण्ड में 6 छन्द, लंकाकाण्ड में 1 छन्द और उत्तरकाण्ड में 27 छन्द के योग से 'बरवै रामायण' साकार हुई। इस कृति के छन्दों की संख्या में भिन्नता, कथा प्रसंगों तथा पात्रों के क्रमिक विकास में स्थिरता है। जिससे यह कृति प्रबन्धकाव्य की कोटि में नहीं ठहरती। वस्तुतः तुलसीदास को यहाँ प्रबन्धात्मकता का प्रस्तुतीकरण करना ही नहीं था। उन्होंने मानस के विविध प्रसंगों को बरवै छन्द में उद्धृत किया है। रामजी तिवारी के अनुसार, "विभिन्न समयों में

गोस्वामीजी ने 'मानस' के प्रसंगों को बरवै छन्द में अभिव्यक्त किया है। ये बरवै अलग-अलग अवसरों पर उनके भक्त हृदय के समुच्छलित उद्गार हैं जिन्हें बाद में प्रसंगानुसार काण्डों में विभाजित कर दिया गया।" (पृ. 30) इसके पहले छह काण्डों में 'मानस' का प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु उत्तरकाण्ड के प्रसंगों में तुलसीदास ने नवीन उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं।

कई विद्वान् 'बरवै रामायण' पर रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' का प्रभाव मानते हैं। रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद मिलता है। भागीरथप्रसाद दीक्षित के अनुसार रहीम संवत् 1646-48 तक काशी के सूबेदार थे। अतः रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' की शृंगारिकता का प्रभाव तुलसीदास की इस कृति पर माना जाता है। परन्तु डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त इसका रचनाकाल का अनुमान संवत् 1661-80 मानते हैं। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि तुलसीदास की यह रचना काशी में रची गई है। राम-नाम का गुणगान करते हुए वे कहते हैं कि राम-नाम रूपी तारक मन्त्र से ही काशी के विश्वनाथ यहाँ रहने वालों को मोक्ष प्रदान करते हैं –

राम नाम की महिमा जान महेस। देत परम पद कासी करि उपदेस॥

काव्यकला की दृष्टि से तुलसीदास की यह छोटी रचना भावों की सहज अभिव्यक्ति करती है। शब्द योजना, अलंकार निरूपण, और शृंगारिकता का इसमें कवि ने अद्भुत प्रयोग किया है। कृति के अन्त में तुलसीदास राम से हर जन्म में राम का अनन्य भक्त होने का वर माँगते हैं।

5.3.2.10 दोहावली

'दोहावली' तुलसीदास के 573 दोहों का संग्रह है, जिसमें कुछ सोरठा छन्द भी शामिल है। इनमें कई दोहे तुलसीदास की अन्य रचनाओं में भी मिलते हैं जिनमें वैराग्य संदीपनी के 2 दोहे, रामचरितमानस से 85 दोहे और रामाज्ञा प्रश्न के 35 दोहों का समावेश है। इस प्रकार 122 दोहे अन्य रचनाओं से तथा 451 नए दोहों का यह संग्रह है जिसमें तुलसीदास ने धर्म, नीति, लोकाचार, ज्योतिष ज्ञान, प्रेम, राम की महिमा, सन्त महिमा जैसे कई विषयों पर दोहे प्रस्तुत किए हैं। 'दोहावली' तुलसीदास को राम के अनन्य भक्त सिद्ध करने के साथ-साथ उन्हें लोकमानस से जोड़कर एक नीतिकार और उपदेशक के रूप में जनमानस में प्रतिष्ठित करती है।

काव्यगुण की दृष्टि से 'दोहावली' में प्रसाद गुण की विपुलता है। नपी-तुली और मंजी हुई परिष्कृत भाषा तुलसीदास की भाषायी प्रौढ़ता का उदाहरण है। यह तुलसीदास के किसी काल-विशेष की रचना न होकर उनके साहित्यिक जीवन का संग्रह है। संगृहीत दोहों में मृत्यु के संकेत के दोहे मिलने से यह उनके जीवन के आखिरी दिनों की रचना होने का संकेत देती है। सभी दोहों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि 'दोहावली' का विस्तार तुलसीदास की रचना 'वैराग्य संदीपनी' से लेकर उनके वृद्धावस्था तक है। इसे किसी काल-विशेष की रचना मानना उपयुक्त नहीं है अतः इसका विस्तार संवत् 1614 से संवत् 1680 तक सर्वमान्य है।

5.3.2.11 कवितावली

तुलसीदास की अन्य रचनाओं की तरह ही 'कवितावली' का भी वर्ण्य-विषय रामकथा ही है। सात काण्डों में विभक्त इस रचना में कुल 369 छन्द हैं जिसमें 325 छन्द 'कवितावली' के हैं और 44 छन्द 'हनुमानबाहुक' के छन्द के रूप में जुड़े हुए हैं। यहाँ बालकाण्ड के 22 छन्द, अयोध्याकाण्ड के 28 छन्द, अरण्यकाण्ड और किष्किन्धाकाण्ड में 1 छन्द, सुन्दरकाण्ड में 32 छन्द, लंकाकाण्ड में 58 छन्द और उत्तरकाण्ड में हनुमानबाहुक सहित 227 छन्द समाविष्ट हैं। छन्दों की संख्या में एकरूपता के आभाव के कारण इसके स्फुट और मुक्तक काव्य-रचना होने की बात प्रमाणित होती है।

'कवितावली' का कथाक्रम रामकथा की तरह ही बाललीला से प्रारम्भ होता है और क्रमशः घटनाएँ आगे बढ़ती हैं। परन्तु इसमें नवीन उद्भावनाएँ भी हैं, जैसे – शिव-पार्वती विवाह, नारद मोह, भानुप्रताप की कथादि का कवितावली में संकेत नहीं है, जनक के बाग में सीता-राम की भेंट भी कवितावली में नहीं है, इस प्रकार मानस की वे तमाम प्रमुख घटनाएँ कवितावली में उद्धृत नहीं हुई हैं। कवितावली के उत्तरकाण्ड को अधिक विस्तार दिया गया है। वस्तुतः 'कवितावली' प्रकीर्ण रचनाओं का संग्रह है, जिसमें मानस के कई प्रसंगों का लोप हुआ है। कोमल और पुरुष भावों की अभिव्यक्ति के साथ अलंकार नियोजन, रसों की अभिव्यंजना के साथ तुलसीदास के जीवन के विषय में भी विस्तृत जानकारी मिलती है। अपनी मनोदशाओं को तुलसीदास ने कवित्त, छप्पय, झूलना और सवैया छन्दों में व्यक्त किया है। ये छन्द तुलसीदास के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ तत्कालीन जनजीवन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि पक्षों का भी चित्रण करते हैं।

'हनुमानबाहुक' 'कवितावली' के अन्त में जोड़ा गया परिशिष्ट है, जिसके प्रारम्भिक छन्दों में तुलसीदास हनुमान के बल, बुद्धि और विवेक का गुणगान करते हैं और उपरान्त अपनी बाहु-पीड़ा को शान्त करने के लिए हनुमान से विनय करते हैं। तुलसीदास यह विनय बार-बार करते हैं। फलतः पीड़ा कम होकर राम की कृपा से पूरी तरह ठीक हो गई। इस पीड़ा को तुलसीदास कर्म-फल मानकर अन्तर्मन को सन्तुष्टि प्रदान करते हैं।

'दोहावली' की भाँति इसके रचनाकाल का क्षेत्र भी विस्तृत है। डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त ने इसका रचनाकाल संवत् 1661 से संवत् 1680 बताया है।

5.3.2.12 विनयपत्रिका

'विनयपत्रिका' तुलसीदास की अन्तिम किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। 279 पदों वाला यह मुक्तक गीतिकाव्य विविध राग-रागिनियों में विभक्त है। अन्तिम ग्रन्थ होने से यह ग्रन्थ तुलसीदास के भाव, अनुभाव, रचना-शैली, काव्य-कुशलता का उत्तम उदाहरण है। इसके प्रायः सभी पदों में तुलसीदास ने जनमानस को परम कल्याण की ओर अग्रसर करने का प्रयास किया है। इसका वर्ण्य-विषय एक भक्त द्वारा भगवान राम के समक्ष कलियुग के विरोध में दिया गया एक पत्र है, जिसमें तुलसीदास ने कलियुग के दुष्प्रभाव का विस्तृत विवेचन किया है। इसके साथ ही तत्कालीन मुगल शासन की दुरावस्था, वर्ण-व्यवस्था, जाति-पाँति, धार्मिक अत्याचार, स्त्रियों

की बुरी अवस्था आदि समस्याओं का भी तुलसीदास ने इसमें वर्णन किया है। इन सभी समस्याओं के लिए तुलसीदास कलियुग को दोषी मानते हैं।

'विनयपत्रिका' में ईश्वर की अनुकम्पा हेतु बहुविध प्रार्थना की गई है। यहाँ तुलसीदास की आत्माभिव्यक्ति प्रधान रूप से उद्धृत हुई है परन्तु यह व्यष्टिजन्य न होकर समष्टि का प्रतीक है। कलियुग के अत्याचार से मात्र गोस्वामीजी ही नहीं अपितु सारा मानव समाज पीड़ित हुआ है। उसका दुष्प्रभाव जन-जन पर पड़ा है अतः 'विनयपत्रिका' में भक्ति के माध्यम से तुलसीदास ने मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति का राजमार्ग बताया है जिस पर चलकर मनुष्य जीवन के चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है।

कलात्मक दृष्टि से यहाँ तुलसीदास ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। साथ ही, संस्कृतनिष्ठ पदावली भी प्रयुक्त हुई है। लोकप्रचलित विभिन्न मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाव-संप्रेषण में सफलता के साथ अरबी, फ़ारसी के शब्द तथा प्रादेशिक बोलियों का भी सम्यक् उपयोग तुलसीदास ने किया है। 28 से अधिक रागों के सन्निवेश से अद्भुत संगीतात्मकता का समावेश हो गया है। रचनाकाल की दृष्टि यह संवत् 1661 से 1680 के मध्य की रचना सर्वमान्य है।

5.3.3 काव्य-रूप और उनका महत्त्व

कलापक्ष की दृष्टि से काव्य के दो रूप बताए जाते हैं – पहला, प्रबन्ध और दूसरा, मुक्तक। प्रबन्धकाव्य के तीन उपभेद हैं – (i) महाकाव्य, (ii) खण्डकाव्य और (iii) एकार्थ काव्य। उसी प्रकार मुक्तककाव्य के भी दो उपभेद मिलते हैं – (i) पाठ्य और (ii) गेय काव्य। तुलसीदास की रचनाओं का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचनाओं में काव्य के दोनों ही रूप मिलते हैं।

खण्डकाव्य प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत आने से उसमें प्रबन्धात्मकता होना स्वाभाविक है किन्तु यहाँ महाकाव्य की तरह पूर्ण कथावस्तु न होकर उसके एक अंश को आधार बनाया जाता है और किसी भी एक प्रसंग का मार्मिक चित्रण किया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह किसी घटना का संक्षिप्त रूप होता है। तुलसीदास की रामलला नहछू, जानकीमंगल और पार्वती मंगल इसी श्रेणी में आते हैं। रामलला नहछू में राम के यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन, जानकीमंगल में सीता-राम विवाह वर्णन और पार्वतीमंगल में शिव-पार्वती विवाह प्रसगों का वर्णन है, जिसमें घटना-विशेष के साथ-साथ लोकजीवन और उसमें व्याप्त लोकाचारों को भी अभिव्यक्त किया गया है। महाकाव्य भी प्रबन्ध काव्य का उपभेद है, जिसके लिए काव्य में कुछ तत्त्वों को मान्य किया गया है –

i. महाकाव्य सर्गबद्ध रचना होती है, जिसमें नायक के जीवन की गाथा होती है।
ii. महाकाव्य का नायक धीरोदात्य और इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तित्व अथवा कोई महापुरुष होता है।
iii. महाकाव्य की शुरुआत आशीर्वचन या मंगलाचरण से प्रारम्भ होकर अन्त में फलाश्रुति हो। इसमें छन्द विविधता, रस एवं अलंकार योजना, कला और भावपक्ष की सुगढ़ता होती है।
iv. चरित्र-चित्रण के साथ-साथ प्रकृति और परिवेश का भी चित्रण होता है।

V. काव्य में अलौकिक ज्ञान का सम्यक् विवेचन और उसकी उद्देश्यपरकता महत्त्वपूर्ण होती है।

महाकाव्य की वर्णन में यथार्थता होनी चाहिए और इसमें जीवन की सभी भाव-भंगिमाओं का वर्णन किया जाना अपेक्षित होता है। काव्य का नाम भी महाकाव्य के नायक अथवा कथानक पर आधारित होता है। अतः उक्त सभी विशेषताएँ तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' में मिलती हैं। तुलसीदास ने उपर्युक्त सभी विशेषताओं का निर्वाह 'रामचरितमानस' में किया है।

रामचरितमानस की रचना इतिहास-प्रसिद्ध और लोकप्रिय घटना के अनुरूप हुई है जिसके नायक मर्यादापुरुषोत्तम राम हैं। वे महाकाव्य के नायकत्व की समस्त पात्रताओं को पूर्ण करते हैं। उनके चरित्र में नर और नारायण का विलक्षण सामंजस्य है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। रामचरितमानस सात खण्डों में विभक्त है, इसमें प्रसंगानुकूल छन्द वैविध्य मिलता है। प्रकृति का मनमोहक चित्रण, अलंकार योजना, रस निरूपण, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – पुरुष चतुष्टय के साथ लौकिक-अलौकिक ज्ञान का विवेचन, उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण, घटनाओं और पात्रों का विकास आदि सभी दृष्टियों से 'रामचरितमानस' महाकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

मुक्तक काव्यरूप में छन्द या कथा शृंखला का अभाव रहता है। प्रत्येक छन्द अपने आप में पूर्ण और निरपेक्ष होता है। इसे निर्बन्ध काव्य या अनिबद्धकाव्य भी कहा जाता है। कवि को यहाँ सीमित क्षेत्र में अपनी कला का प्रदर्शन करना होता है। एक ओर जहाँ प्रबन्धकाव्य के रचयिता को कई प्रकार के नियमों, मर्यादाओं और निर्देशों का निर्वाह करना होता है, मुक्तक के रचयिता को इन नियमों में नहीं बंधना पड़ता। पाठ्य और गेय काव्य पदों में छन्द की अनिवार्यता होती है। इसके कुछ पदों को संगीत की तरह गाया जा सकता है और कुछ को केवल पढ़ा जा सकता है। कुछ अपवादों को छोड़कर तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' इस श्रेणी में आती है। इसके अतिरिक्त तुलसीदास की दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्ण गीतावली, बरवै रामायण – मुक्तक कोटि की उत्तम कृतियाँ हैं, जिनमें तुलसीदास ने विविध जीवन-मूल्यों को पूरी अर्थवत्ता के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है।

तुलसीदास के साहित्य की प्रासंगिकता की दृष्टि से उल्लेखनीय बात यह है कि जानकीमंगल, पार्वतीमंगल और रामलला नहछू जनजीवन से जुड़ाव और लोकसंस्कार के प्रति लोकरुचि के कारण प्रासंगिक हैं तो वहीं वैराग्य संदीपनी विरक्त जीवन के आदर्शों को प्रतिष्ठापित करता है। इसी प्रकार दोहावली में नीतिपरक दोहों के माध्यम से लोकमानस को आदर्श और नीति का पाठ पढ़ाया गया है। विनयपत्रिका और हनुमानबाहुक एकनिष्ठ भक्तिभाव का उदाहरण है जिसमें भक्ति के चर्मोत्कर्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर की शरणागति को महत्त्व दिया है। गीतावली राम जीवन से जुड़े प्रसंगों के माधुर्यबोध और संगीतात्मकता की सरस अभिव्यक्ति है। रामचरितमानस हिन्दू धर्म और संस्कृति की अमर कृति और तुलसीदास का कीर्तिस्तंभ है जिसकी प्रासंगिकता चिरकाल तक बनी रहेगी।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तुलसीदास काव्य के दोनों रूपों के सिद्धहस्त कवि हैं। चाहे महाकाव्य हो या खण्डकाव्य, या फिर मुक्तक, हर जगह तुलसीदास ने अपनी भाव रश्मियों के साथ अद्भुत काव्य-प्रतिभा का भी परिचय दिया है। लोकजीवन से जुड़ाव, जीवन-मूल्यों की सार्थक अभिव्यक्ति तथा ईश्वर के प्रति निष्ठा और अनन्य

भक्तिभाव के कारण लोकमानस के अन्तर्मन में तुलसीदास और उनकी रचनाएँ गहन लोकप्रियता को ग्रहण करती हुई रच-बस गईं, जिनकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। तुलसी की रचनाओं में समन्वयवाद, भावाभिव्यक्ति की भव्यता, लोकमंगल की भावना, मार्मिकता, लोक के प्रति समर्पण भाव, आदर्श की प्रतिष्ठापना, जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति आदि गुणों के कारण जनमानस में ये अपने महत्त्व को प्रासंगिक रखे हुए हैं।

5.3.4 पाठ-सार

गोस्वामी तुलसीदास का प्रादुर्भाव धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संक्रमणकाल में हुआ। तुलसीदास परकीय अत्याचारों से आक्रान्त स्थानीय जनता की भावनाओं को भलीभाँति जान चुके थे। अतः अपनी रचनाओं के माध्यम से तुलसीदास ने जन-मन में धर्म और समाज के प्रति व्याप्त हताशा, नैराश्य और अनास्था के भाव को दूर करने का सफल प्रयास किया। बादशाह अकबर की उदारता के बावजूत क्वचित कलुषता के कारण वल्लभ सम्प्रदाय अकबर की उदारता से प्रभावित नहीं हो पाया, जिनमें तुलसीदास अग्रणी थे। अपने साहित्यिक प्रभाव से उन्होंने इस सांस्कृतिक और धार्मिक संक्रमण को अनुचित ठराया। बहुधा उनके मन में मुगलों द्वारा पूर्व में किए गए आक्रमणों की स्मृतियाँ विद्यमान थीं। तुलसीदास की कृतियाँ तात्कालिक परिस्थितियों की देन हैं।

अपने समय की राजनैतिक स्थिति को केन्द्र में रखकर वे साहित्य में सदाचार की भावना को अत्यधिक महत्त्व देते हैं, जिसके कारण उनकी रचनाओं में अति शृंगारिकता का अश्लीलभाव परिलक्षित नहीं होता। प्रायः उनके सभी ग्रन्थ सदाचार और आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। इनकी रचनाएँ पौराणिक संस्कृति पर आधारित होने से ये पौराणिक संस्कृति की पक्षधरता भी करते दिखाई देते हैं। साथ-ही-साथ वे सामाजिक लोकाचारों और संस्कारों के महत्त्व को भी स्वीकारते हैं। उनकी 'रामलला नहछू' इसी तथ्य की परिचायक है। मंगलाचरण के माध्यम से ईश्वर की महिमा और उनकी अनुकम्पा को प्रतिपादित करना, कबीर के निर्गुण राम को अपने सगुण राम के समकक्ष रखकर उन्हें ईश्वरत्व प्रदान करना, रचनाओं में देवी-देवताओं के साथ-साथ भूत-प्रेत, राक्षसादि का भी उल्लेख करना, विभिन्न शुभावसरों पर स्थानीय, ग्राम देवता और प्रकृति की उपासना करना आदि कई गुण तुलसीदास की कृतियों में प्रधानतया उद्धृत हुए हैं।

तुलसीदास की रचनाओं में रामभक्ति विपुल मात्रा में वर्णित है। उनकी अधिकांश रचनाओं में राम की स्तुति, भक्ति और गुणगान अधिक किया गया है। रामलला नहछू में जहाँ वे राम के यज्ञोपवीत संस्कार के माध्यम से पौराणिक संस्कार का आख्यान करते हैं वहीं वैराग्य संदीपनी में वैराग्य और उपरान्त मनष्य मन को प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि और अखण्ड शान्ति भाव को प्रस्तुत करते हैं। रामाज्ञा प्रश्नावली ज्योतिषाधारित ग्रन्थ है जहाँ ज्योतिष के आधार पर लोकजन के विविध प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होता है। इस कृति के द्वारा तुलसीदास ने जनमानस को ईश्वर के प्रति आस्थावान बनाने का प्रयास किया है। जानकी मंगल में सीता-राम का विवाह-प्रसंग और रामचरितमानस में राम चरित्र प्रस्तुत किया गया है। पार्वतीमंगल में शिव-गौरी विवाह और गीतावली में रामकथा का वर्णन है वहीं कृष्ण गीतावली में कृष्ण चरित्र रचकर कृष्णकाव्य के क्षेत्र में भी तुलसी ने अपनी महत्ता साबित

की। बरवै रामायण में रामकथा, दोहावली में स्फुट नीतिपरक दोहे, कवितावली में रामकथा और विनयपत्रिका में भगवान् राम के समक्ष एक भक्त का विनम्र निवेदन है और अन्तिम परिशिष्ट हनुमानबाहुक में रामभक्त हनुमान से तुलसी की असह्य पीड़ा को दूर करने की प्रार्थना की गई है। समूचे साहित्य का अवलोकन कर लेने के बाद तुलसीदास के रामकाव्य का मूल प्रतिपाद्य स्पष्ट हो जाता है। तुलसीदास जनसमाज की रक्षा और उनके विकास को सांस्कृतिक परिधि के भीतर रखकर करवाने के हिमायती थे।

5.3.5 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. तुलसीदास की कृष्णचरित पर आधारित रचना है –

(क) गीतावली
(ख) कृष्ण गीतावली
(ग) दोहावली
(घ) कवितावली

2. जानकी मंगल आधारित है –

(क) शिव-पार्वती विवाह प्रसंग पर
(ख) उर्मिला-लक्ष्मण विवाह पर
(ग) सीता-राम विवाह पर
(घ) वैराग्य निरूपण पर

3. हनुमान बाहुक अंश है –

(क) बरवै रामायण का
(ख) विनयपत्रिका का
(ग) रामचरितमानस का
(घ) रामलला नहछू का

4. राम के यज्ञोपवीत संस्कार पर आधारित है –

(क) वैराग्य संदीपनी
(ख) कवितावली
(ग) रामाज्ञा प्रश्न
(घ) रामलला नहछू

5. ज्योतिषाधारित ग्रन्थ है –

(क) वैराग्य संदीपनी

(ख) रामाज्ञा प्रश्न

(ग) बरवै रामायण

(घ) दोहावली

लघूत्तरीय प्रश्न

1. तुलसीदास की कृति दोहावली का मूल प्रतिपाद्य बताइए।
2. बरवै रामायण पर रहीम की किस कृति का प्रभाव बताया जाता है ?
3. रामाज्ञा प्रश्न की रचना तुलसीदास ने किसके लिए की थी ?
4. कृष्ण गीतावली के पदों की संख्या बताइए।
5. तुलसीदास ने किस ग्रन्थ में आत्मपरिचय दिया है ?

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. रामलला नहछू का वर्ण्य विषय प्रतिपादित कीजिए।
2. सिद्ध कीजिए कि रामचरितमानस प्रबन्धकाव्य की कोटि का काव्य है।
3. कृष्ण गीतावली का मूल प्रतिपाद्य स्पष्ट कीजिए।
4. रामकथा के मुख्य काण्डों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
5. तुलसीदास ने हनुमान बाहुक की रचना क्यों की ?

5.3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तिवारी, रामजी, गोस्वामी तुलसीदास
2. दीक्षित, भागीरथप्रसाद, तुलसीदास और उनके ग्रन्थ
3. पण्डित, द्विवेदी रामगुलाम, तुलसीदास और उनका युग, पृ. 25
4. त्रिपाठी, रामनरेश, तुलसीदास और उनकी कविता
5. पण्डित, द्विवेदी रामगुलाम, तुलसीदास और उनका युग, पृ. 25
6. त्रिपाठी, रामनरेश, तुलसीदास और उनकी कविता, पृ. 201

❖❖❖

खण्ड – 5 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य-परम्परा

इकाई – 4 : तुलसी के समाज-दर्शन की प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा

5.4.0. उद्देश्य
5.4.1. प्रस्तावना
5.4.2. तुलसी का समाज-दर्शन
5.4.2.1. तुलसी का तत्कालीन समाज और स्वरूप
5.4.2.2. आदर्श रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में तुलसी का समाज-दर्शन
5.4.2.3. तुलसी का शूद्र सम्बन्धी समाज-दर्शन
5.4.2.4. नारी के विषय में तुलसी का समाज-दर्शन
5.4.3. पाठ-सार
5.4.4. बोध प्रश्न
5.4.5. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

5.4.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. तुलसीकालीन समाज और उसके स्वरूप को समझ सकेंगे।
ii. तुलसी के समाज-दर्शन की समीक्षा कर सकेंगे।
iii. तुलसी दर्शन का स्वरूप बता सकेंगे।
iv. तुलसी के शूद्र और नारी विषयक चिन्तन पर चर्चा कर सकेंगे।
v. वर्णाश्रम व्यवस्था सम्बन्धी तुलसी के समाज-दर्शन पर बात कर सकेंगे।

5.4.1. प्रस्तावना

दर्शन का अर्थ होता है, 'देखना', किसी वस्तु या विषय को हम किस दृष्टि या नजरिए से देखते हैं, वह हमारी दृष्टि पर निर्भर करती है। देखने की दृष्टि ही दर्शन कहलाती है। तुलसीदासजी ने कहा भी है –

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी॥

भारतीय समाज का दर्शन धर्म से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। भारतीय दर्शन का मूल स्वरूप आध्यात्मिक है। समाज में भौतिक स्वरूप को अधिक महत्त्व न देते हुए त्याग, दया, क्षमा, साहस, गुरुजन का

सम्मान, अपने से बड़ों का सम्मान, आज्ञाकारिता इत्यादि गुणों को महत्त्व दिया जाता है। समाज की संरचना के बारे में निम्नलिखित धारणा है –

"समाज एक विशिष्ट भौगोलिक सीमा और सांस्कृतिक ऐतिहासिक विरासत के घेरे में रहने वाले समस्त मनुष्यों का एक वृहत्तम पुंज है। अपनी समग्र संरचना में यह व्यक्ति, परिवार, जाति, समूह (ग्रुप), वर्ग, समुदाय (कम्यूनिटी), सम्प्रदाय, राज्य आदि अनेक छोटी बड़ी इकाइयों में विभक्त होने के बावजूद भी संस्कृति और सभ्यता के एक सूत्र में बंधा होता है इसलिए समाज मानव की जटिल सम्बन्धताओं से पूर्ण होता है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का, एक परिवार से दूसरे परिवार का, एक वर्ग से दूसरे वर्ग का, एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय का सम्बन्ध तो इसमें आता ही है, एक से दूसरी इकाइयों का पारस्परिक सम्बन्ध भी इसमें आता है। यही नहीं, समाज को अतीत की एक समृद्ध विरासत भी वहन करनी पड़ती है और युगानुकूल नए मूल्यमानों का निर्माण करना पड़ता है इसलिए उसे प्रायः संक्रान्ति (नए-पुराने के संघर्ष के साथ ही वर्ग संघर्ष) से भी गुजरना पड़ता है।"[1]

भारत में प्रत्येक युग में समय-समय पर एक से बढ़कर एक समाज सुधारक और चिन्तक पैदा हुए। उन्हीं समाज सुधारकों और विचारकों में से एक तुलसीदास भी थे। बेनीमाधव दास-प्रणीत मूल गोसाईं चरित और रघुवरदास-रचित 'तुलसी चरित्र' में इनका जन्म संवत् 1554 स्वीकार किया गया है। 'शिवसिंह सरोज' में इनका जन्म संवत् 1583 स्वीकार किया गया है। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त पण्डित रामगुलाम द्विवेदी ने जनश्रुति के आधार पर इनका जन्म संवत् 1589 स्वीकार किया है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इसी जन्म संवत् को मान्यता दी है। अतः साक्ष्य के आधार पर भी इनकी जन्मतिथि सं. 1589 (सन् 1532) अधिक युक्तिसंगत है।"[2]

इनका जन्म स्थान शिवसिंह सेंगर और रामगुलाम ने राजापुर बताया है। कुछ विद्वान् लाला सीताराम गौरी शंकर आदि ने इनका जन्म स्थान सोरो माना है। रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि – "सूकर खेत को भ्रम से सोरो समझ लिया गया।" इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। तुलसी की पत्नी और दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली के द्वारा "लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ" फटकार लगाने के बाद तुलसी ने वैराग्य धारण किया था। आचार्य शुक्ल ने इनके बारह ग्रन्थों को प्रामाणिक माना है। इनके द्वारा रचित बड़े ग्रन्थों में दोहावली, कवितावली, रामयण, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञा प्रश्नावली और विनयपत्रिका हैं तथा छोटे ग्रन्थों में रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्णगीतावली हैं।

तुलसी ने अपने समय में अनेक कष्टों को झेला था। जन्म से ही इनके 32 दाँत होने के कारण अपशकुन जानकर माता-पिता द्वारा ये त्याग दिए गए। इनके मुँह से 'राम' शब्द निकलने के कारण इनका नाम 'राम बोला' नाम रख दिया गया। इनके गुरु का नाम नरहरिदास था। तुलसी की प्रासंगिकता के बारे में डॉ॰ मुनीन्द्र तिवारी ने लिखा है – "भारतीय मध्यकाल अनेक विचारकों, चिन्तकों तथा मनीषियों का युग माना जाता है। इन्हीं मनीषियों में से एक तुलसीदास जो अपने युग की माँग और उपज थे जो आज तक लगभग प्रासंगिक बने हुए है।"[3]

5.4.2. तुलसी का समाज-दर्शन

दो तरह के लेखकों ने तुलसी-साहित्य का मूल्यांकन बहुत आसान बना दिया है। पहली तरह के लेखक वे हैं, जो समझते हैं कि तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखकर इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा कर ली और राम, सीता आदि के चरित्रों द्वारा हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के लिए अमर आदर्शों की प्रतिष्ठा कर दी। दूसरी तरह के आलोचक वे हैं, जो समझते हैं कि तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के छिन्न-भिन्न होने के समय फिर ब्राह्मणवाद का समर्थन किया, नारी की पराधीनता आदर्श रूप में रखी और जनता को भक्ति रूपी अफीम की घूँटी देकर सुला दिया। पहली तरह के आलोचक तुलसीदास को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए उन्हें हिन्दू धर्म का उद्धारक मानते हैं। दूसरी तरह के आलोचक उन्हें प्रतिक्रियावादी कहते हैं, उनकी कला का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उनकी विचारधारा को प्रगतिविरोधी मानते हैं। दोनों तरह के आलोचक श्रद्धा के बावजूद एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं और वह यह कि तुलसीदास जर्जर होती हुई सामन्ती संस्कृति के पोषक थे, इसलिए आज की जातीय संस्कृति के निर्माण में 'ऊँची' जाति और 'नीची' जाति हिन्दुओं-मुसलमानों आदि की मिली-जुली संस्कृति के निर्माण में उनकी विचारधारा कोई मदद नहीं कर सकती।

दोनों ही तरह के आलोचक भारतीय जनता को खासकर हिन्दीभाषी जनता को तुलसीदास की सांस्कृतिक विरासत से वंचित कर देते हैं। क्या इस तरह की धारणाएँ वैज्ञानिक हैं, क्या वे जनता के हित में, हमारी जातीय संस्कृति के विकास के हित में हैं?[4]

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही धर्मप्रधान देश रहा है इसलिए प्राचीन भारतीय समाज या मध्यकालीन समाज को जानने से पहले धर्म को भी जानना आवश्यक है, क्योंकि भारत में धर्म से अलग समाज की व्याख्या करना उचित नहीं होगा। यह निश्चित रूप से तथ्यों के प्रमाण से सिद्ध हो चुका है कि भारत देश में अनेक भौगोलिक विभिन्नता के बावजूद भी आध्यात्मिक एकता के कारण भारतीय समाज विकासोन्मुख है। भारत वर्ष में अनेक ऐतिहासिक युद्ध भी धर्म के ही आड़ में हुए किन्तु उसका समाधान भी उसी के अंदर से ही हुआ।

मध्यकालीन समाज और उससे पूर्व भी अनेक बार धर्म के कारण समाज जुड़ने की तुलना में टूटना शुरू हो गया। नाथों-सिद्धों का आन्दोलन भी समाज बिखराव पैदा करने के लिए साधन की भूमिका निभाई। इन सिद्धों-नाथों की दो टूक बानियों ने आपसी भेद-भाव को और बढ़ाया। जाति-प्रथा पर प्रहार किया गया, जिससे समाज में आक्रोश की भावना पैदा हुई। भारत में मुगलों का शासन स्थापित होने से पूर्व अनेक सन्तों और भक्तों ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ अनेक आन्दोलन छेड़ रखे थे। उनमें दक्षिण भारत के बारह आलवार भक्त थे, उन्होंने पुराण पंथी जातिवाद के खिलाफ अपना विरोधी स्वर प्रकट किया। इन आलवार भक्तों में अछूत वर्ग के भी भक्त थे।

आलवार भक्तों के बाद विशिष्टाद्वैत के आचार्य रामानुजाचार्य और रामानन्द ने भक्ति-साहित्य को वेदों के समान स्थापित करने की कोशिश की। उन्होंने वैष्णव धर्म में समानता लाने का प्रयास किया, किन्तु जाति-भेद का

संकट आगे भी बना रहा। "तुलसीदास से कुछ ही पहले देश पर एक ऐसे धार्मिक समाज के रूप में इस्लाम का आक्रमण हुआ, जिसमें जाति-भेद जैसी कोई चीज नहीं थी। उस समाज का धर्म इस्लाम था, जाति इस्लाम थी, राजनीति इस्लाम थी, यहाँ तक कि उसकी समूची संस्कृति इस्लाम थी। उस समय भारतीय समाज नाना जाति एवं धर्म-समूहों में विभक्त था। किसी जाति का कोई व्यक्ति दूसरी जाति में नहीं जा सकता था। जाति को कर्मफल के साथ पूरी तरह जोड़ दिया गया था। शूद्र हिन्दू समाज का अंग होते हुए भी समाज, धर्म और राजनीति से बहिष्कृत थे। उन्हें पशु से भी बदतर जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। लेकिन इस्लाम एक ऐसा समाज था, जिसे एक बार स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति की व्यक्तिगत जाति हमेशा के लिए समाप्त हो जाती थी। धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी दृष्टियों से वह इस्लामी समाज का अभिन्न अंग हो जाता था। हिन्दू समाज के शूद्र वर्ग के लिए यह धर्म-समाज विशेष आकर्षक प्रतीत हुआ। ऐसी स्थिति में पुराणपंथी हिन्दू जातिवाद-विरोधी निर्गुण मत को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।"[5]

ऐसे समय में तुलसीदासजी ने समाज में सम्बन्धों के निर्माण में बड़े ही मजबूत इरादों के साथ "स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा" कहकर अपनी भूमिका का निर्वाह किया, तुलसी के समाज-दर्शन का वर्णन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है –

i. तुलसी का तत्कालीन समाज और स्वरूप
ii. आदर्श के रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में तुलसी का समाज-दर्शन
iii. तुलसी का शूद्र के विषय में समाज-दर्शन
iv. तुलसी का नारी के विषय में समाज-दर्शन

5.4.2.1. तुलसी का तत्कालीन समाज और स्वरूप

तुलसी के तत्कालीन समाज को समझने के लिए हमें उस समय की दो भिन्न धर्म सम्प्रदाय इस्लाम और हिन्दू-पुराण परम्परा के धार्मिक सांस्कृतिक संघर्ष को जानना अति आवश्यक है। तुलसी जिस युग में थे उस युग में समाज अनेक समुदायों, सम्प्रदायों, जातियों, उपजातियों, वर्णभेदों में बँटा हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप देश मुगल शासकों द्वारा गुलाम हुआ। इसके साथ-ही-साथ अपने ही देश में सामन्त और उपसामन्त आपस में ही लड़ते रहते थे, जिसका परिणाम जनता को भुगतना पड़ता था। इस अस्थिरता के दौर में पूरा समाज विशृंखलित होने लगा था, जिस पर शासन व्यवस्था का कोई नियन्त्रण नहीं था। धर्म सम्प्रदाय इस विशृंखलता को कम करने की अपेक्षा और उसे बढ़ाने में लगा हुआ था। भारत में मुगलों के आक्रमण के बाद जाति के बन्धन को तोड़ने वाले धर्म नाथ-सिद्ध और आलवार परम्परा के भक्त तथा मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगों के सम्पर्क गहरे-मजबूत हुए, किन्तु हिन्दू-जाति-वर्ण-व्यवस्था और संकीर्ण हो गई। ब्राह्मणवादी मानसिकता के लोगों ने अपनी उच्चता तथा श्रेष्ठता सिद्ध करने की नीति अपना रखी थी। वे लोग स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे और निम्न जाति के लोगों से घृणा करते थे। हिन्दू विचारकों और समाज सुधार के लिए संघर्ष दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। एक ओर उन्हें नाथ-सिद्ध परम्परावादी लोगों से संघर्ष करना था, तो दूसरी ओर विदेशी धर्म इस्लाम के प्रभाव से समाज को बचाना था। तुलसीदास से

पहले रामानन्द जैसे महान् सन्तों ने सामाजिक ऊँच-नीच की खाई को कम करने की कोशिश की। कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा आदि रामानन्द के प्रमुख बारह शिष्यों थे। रामानन्द के शिष्यों ने सामाजिक रूढ़ियों पर जबर्दस्त प्रहार किया। उन्होंने एक ओर हिन्दुओं को ऊँच-नीच की भावना के फैलाने के लिए तो दूसरी ओर मुस्लिमों की धार्मिक कट्टरता के खिलाफ फटकारा। इसके बावजूद सामाजिक वर्ण-व्यवस्था और जाति बन्धन में बहुत अधिक बदलाव नहीं हुआ। तुलसी के समय तक आते-आते समाज की व्यवस्था अनेकों प्रकार की बुराइयों में फँसती चली गई, जिसके लिए उन्होंने नाथों और सिद्धों को दोषी माना है। तुलसीदास एक बार पुनः अपनी पारम्परिक आदर्शों की ओर चल पड़े, जिस प्रकार दयानन्द सरस्वती वेदों की ओर लौटने के लिए कहते हैं। तुलसीदास ने समाज में परिवार के महत्त्व को समझा। परिवार के सम्बन्ध को मजबूत बनाने के लिए उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। उनके समय में भाई-भाई, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक आदि सम्बन्धों में दरार पैदा हो गई थी, ऐसी स्थिति में समाज के लोग अपनी-अपनी स्वार्थवृत्ति को पूर्ण करने में लगे हुए थे। सामाजिक नैतिक-नियम ध्वस्त होते देख तुलसीदासजी ने विषम परिस्थितियों में भी सामाजिक आदर्श के निर्माण में अपनी महती भूमिका निभाई। विश्वनाथ त्रिपाठी ने लोकवादी तुलसीदास की भूमिका में लिखा है कि – "फिर यथार्थ की विषमता से देश को उबारने की छटपटाहट भी उनकी कविता में है। देश-प्रेम इस विषमता की उपेक्षा नहीं कर सकता इसीलिए तुलसी दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से रहित राम-राज्य का स्वप्न निर्मित करते हैं। यह उनकी कविता की नैतिकता और प्रगतिशीलता है, तुलसी अपने देश और काल की सीमाओं में लोकवादी कवि हैं। उनकी लोकवादिता खण्डित होती है वर्ण-व्यवस्था के प्रति दुराग्रह के कारण।"[6]

5.4.2.2. आदर्श रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में तुलसी का समाज-दर्शन

तुलसीदासजी समाज के निर्माण में प्राचीन भारतीय परम्परा पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था पर विश्वास करते थे। उन्होंने रामचरितमानस को "स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा" के लिए रचा था, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में वेदों, पुराणों, उपनिषदों में स्वीकृत वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करके शास्त्र को ही स्थापित करने की कोशिश की है। उन्होंने अपने समय में सामाजिक रूढ़ियों, घोर अनाचारों, अत्याचारों, अन्याय, अशान्ति, अव्यवस्था का मूल कारण वर्णाश्रम धर्म का पालन न होने को माना है। 'तुलसी का देश' लेख में विश्वनाथ त्रिपाठी ने माना है कि – "तुलसी के यहाँ सबसे विचित्र स्थिति शूद्र की है। तुलसी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक थे। इस बात को लेकर उनकी काफी आलोचना की गई है। हम इस आलोचना को काफी जायज़ और उचित समझते हैं। तुलसी ने शूद्रों की निन्दा अपनी ओर से कम की है। किसी-न-किसी पात्र से कराई है। ... तुलसी को शूद्रों के निन्दक रूप में नहीं, वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में देखना ज़्यादा उचित है।"[7]

वे अपने युग के समाज का चित्रण करने के लिए कलियुग के प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। प्रतीकों के माध्यम से समाज की सभी प्रकार के इकाइयों का उन्होंने वर्णन किया है। साथ-ही-साथ सत्युग के प्रतीकों द्वारा सामाजिक आदर्शों को स्थापित किया है। रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में वर्णन मिलता है कि सभी वर्ण अपना-अपना धर्म भूलकर अपने मनमाना कार्य करने लगे थे। शूद्र का काम सेवा करना होता है, किन्तु तुलसी के समय तक शूद्र भी पढ़ने-लिखने लगे थे। पढ़-लिख कर तर्क करना भी सिख लिया था। साथ-ही-साथ उन्हें लगा कि जो

काम ब्राह्मण कर सकता है, वह काम तो मैं भी कर सकता हूँ। कहीं-कहीं तो शूद्रों ने ब्राह्मणों को ही उपदेश देना शुरू कर दिया था। तब ऐसी परिस्थिति में तुलसीदास ने अनुभव किया कि ये कैसे सम्भव है कि कोई शूद्र ब्राह्मण को उपदेश दे। उपदेश देना तो ब्राह्मण का जन्मसिद्ध अधिकार है। निर्धनता के कारण ब्राह्मणों की गति ऐसी हो गई थी कि वे जिन वेद-पुराणों के माध्यम से सभी को उपदेश देते थे, उन्हीं ग्रन्थों को बेचने लगे थे। भारत में ब्राह्मणों की ऐसी दशा देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने संकल्प लिया कि शास्त्रों के माध्यम से एक बार पुनः समाज में ब्राह्मण की महिमा को स्थापित किया जाए। इसी संकल्प से प्रेरित हो उन्होंने राम राज्य की कल्पना की। एक ऐसा आदर्श राज्य जहाँ वर्णाश्रम धर्म का पालन हो, जहाँ कुम्हार, चाण्डाल, कोल, भील, कलवार, तेली इत्यादि निम्न वर्ण की जातियों के लोग योग्यता और आयु में बढ़कर होने पर भी ब्राह्मणों से अपना पैर पूजन नहीं करवाएँ। ब्राह्मणों की दशा बदतर थी। वे शास्त्रादि का अध्ययन ही नहीं करते थे। निरक्षर, लोभी, कामी आचरणहीन और विवेकशून्य होकर वे होकर शूद्र जाति की औरतों के साथ व्यभिचार में प्रवृत्त होते चले गए। ऐसा अनर्थ करके लोग वर्णसंकर होकर अपनी-अपनी मर्यादा को खो रहे थे। लगातार पाप-कर्म में लिप्त रहने के कारण उन्हें दु:ख, भय, शोक, रोग और अपने प्रिय-सगे सम्बन्धियों के वियोग ने घेर रखा था। जिसने अपने आप को संन्यासी बना रखा था, वह अधिक धन और मर्यादा को भंग करता था। एक ओर तपस्वी लोग महलों में रहने लगे थे, मदिरा-पान करने लगे थे और बड़े धनवान हो गए थे, वहीं दूसरी ओर जो किसान एवं गृहस्थ थे जो धन के अभाव में भीख माँगने की स्थिति में पहुँच गए थे। सारे पारिवारिक सम्बन्ध टूट रहे थे। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई आदि सम्बन्ध-भावना खत्म हो रहे थे। राजा पापाचार में लिप्त थे और बिना किसी अपराध के अपनी जनता के साथ अन्याय करने लगे थे। धनी शूद्र जाति का होकर भी सभ्य कहलाने लगा था। सच्चे व्यक्ति और कवियों की बात सुनने वाला, उन्हें आश्रय देने वाला नहीं रह गया था। यथा –

बरन धर्म नहि आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दम्भ रत जोइ। ता कहुँ सन्त कहइ सब कोई॥[8]

तुलसीदासजी के द्वारा रामचरितमानस के अतिरिक्त 'कवितावली' 'दोहावली' और 'विनयपत्रिका' में भी तत्युगीन दयनीय सामाजिक दशा का वर्णन किया गया है। कवितावली में कलियुग का वर्णन सामाजिक दशा के यथार्थ के बिल्कुल निकट है। यथा –

वरन धरमु गयो, आश्रम निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करमु उपासना कुबासना बिनास्यो ग्यानु,
बचन विराग-वेष जगतु हरो सो है॥
गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु,
नियम नियोग तें सो केलि ही छरो सो है॥

और भी,

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहिन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहै एक एकन सों कहाँ जाई का करी॥
दारिद दसासन दबाई दुनी दीन बन्धु,
दुरितदहन देखि तुलसी हहा करी॥[9]

समाज की इस भीषण परिस्थिति को देखकर तुलसी को बड़ी पीड़ा महसूस हुई। वे जनता की पीड़ा को महसूस करते हुए राम के दरबार में निवेदन करते हैं कि आप उनके कष्टों को दूर करें। कभी-कभी वे जनता को उपदेश देते हैं कि राम के शरण में जाने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। तुलसीदास के द्वारा कवितावली में पेट की भूख के कारण जो घटनाएँ घटित होती हैं उनका बड़ा ही हृदयविदारक वर्णन किया गया है। कारीगर, श्रमजीवी, कृषक, व्यापारी, सेवक, नट-भाट और चोर आदि सभी पेट की भूख मिटाने के लिए अध्ययन करते हैं, उसे समझते हैं और फिर अनेक प्रकार के छल-कपटपूर्ण कार्य करते हैं। अनेक प्रकार के भ्रष्ट कार्यों में लिप्त होकर नीच कर्म करके, उसी भ्रष्ट कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ कर्म बताते हैं। यही नहीं, वे यहाँ तक गिर जाते हैं कि अपने बेटे और बेटी को भी बेचने में संकोच नहीं करते। तुलसी की नज़र में सभी भ्रष्ट कार्य होने के पीछे सदाचार और वर्णाश्रम की भावना की कमी है। इस तरह के भ्रष्ट कार्य को रोकने के लिए तुलसी रामराज्य और सतयुग की वैचारिक अवधारणा को उपाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। रामचरितमानस में परिवार की अवधारणा है, जहाँ भाई-भाई का सम्बन्ध आदर्श के रूप में प्रस्तुत है। राम का पूरा जीवन अपने परिवार के सम्बन्ध को निभाने में बीत जाता है, किन्तु जब राम राजा बन जाते हैं तो व्यक्तिगत सम्बन्ध से ज़्यादा उन्हें अपनी प्रजा की चिन्ता होती है। प्रजा के लिए उन्होंने प्राणों से प्रिय पत्नी सीता का भी त्याग कर दिया था। उसी सीता का त्याग किया था जिस सीता के लिए उन्होंने लंका पति रावण से युद्ध किया और लंका का नाश कर दिया। राम के सामने एक सामाजिक आदर्श था कि वे अपनी प्रजा को पुत्रवत स्नेह करते थे। स्वयं कष्ट सहन करके भी उन्होंने प्रजा के हितार्थ कार्य किए। यही तुलसी का सामाजिक आदर्श है। पुराण, उपनिषद्, वेदान्त आदि उनके वैचारिक स्रोत हैं, जिनके माध्यम से तुलसी ने समाज में स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, माता-पिता-पुत्र, भाई-भाई आदि जैसे सम्बन्ध के कर्तव्य निश्चित किए गए हैं। इसी के साथ उन्होंने समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्य निश्चित करने पर भी बल दिया है। तुलसी मर्यादावादी मान्यता के कट्टर पोषक थे। वे विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के अनुयायी थे। उनका समाज-दर्शन भी इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित था।

5.4.2.3. तुलसी का शूद्र सम्बन्धी समाज-दर्शन

तुलसीदास का समाज-दर्शन प्राचीन शास्त्रों पर आधारित होने के कारण उनके ग्रन्थों में भी प्राचीन शास्त्र ग्रन्थों की रूढ़ियाँ पाई जाती हैं। शूद्र के विषय में उनके विचार ब्राह्मण और शूद्र के बीच वर्ण-व्यवस्था के दोषों के साथ पूर्णतः पायी जाती हैं। समाज की निम्न जातियाँ प्राचीन समय से शोषण का शिकार रही हैं, जो कि तुलसी के

समय में भी अत्यधिक घोर यातना सहन कर रही थीं। इस यातना से बचने के लिए उपेक्षित जातियों ने ब्राह्मण सत्ता के विचारकों का विरोध करना शुरू कर दिया। पहले नाथों और सिद्धों ने ब्राह्मणों को ललकारा और उनके विचारों को मानने से इनकार कर दिया। उसके बाद कबीर आदि सन्तों ने भी सामाजिक सुधार के लिए ब्राह्मणवादी मानसिकता पर गहरी चोट की। उन्होंने समाज को बताना शुरू किया कि पत्थर पूजने से भगवान यदि मिलते हैं तो मैं पहाड़ को ही पूजता हूँ, भगवान जल्दी खुश हो जाएँगे। फिर वे कहते हैं कि उस पत्थर की मूर्ति से अच्छी तो वह चक्की है जिसका हम कम-से-कम पीसा हुआ आटा तो खाते हैं। ईश्वर पर चोट करने के साथ-साथ उन्होंने कहा कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, शूद्र हो या ब्राह्मण सबके अंदर वही खून है तो तुम कैसे ब्राह्मण और हम कैसे शूद्र हो गए। तुलसीदास को ये सारी बातें बहुत खराब लगीं। उनका मन घृणा से भर गया और नाथों-सिद्धों को खूब भला-बुरा कहा। अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करते हुए उन्होंने आक्रोश व्यक्त करने के लिए लिखा –

सापत-ताड़त परुष कहंता, विप्र पूज्य अस गावहिं संता॥
पूजिअ विप्र सील गुन हीना॥ सूद्र न गुन्गन ग्यान प्रबीना॥[10]

उक्त कथन तुलसी ने राम के मुख से कबन्ध को कहलाया है। तुलसी की ब्राह्मणवादी मानसिकता ने शूद्र को गँवार, अभागा, नीच मान रखा था इसीलिए उन्होंने खुद न कहकर काकभुशुण्डि से ही ये बात कहलवा दी कि मेरी जाति नीच की है –

अधम जाति मैं विद्या पायें। भयउँ जथा अहि दूध पिलायें॥
मानी कुटिल कुभाग्य कुजाति। गुरु कर द्रोह करउँ दिन राती॥[11]

तुलसी ये कभी नहीं चाहते थे कि किसी भी अवस्था में कुम्हार, चाण्डाल, तेली, कोल, भील, कलवार इत्यादि निम्न जातियाँ वेद, पुराण, वेदान्त का अध्ययन करके ज्ञानवान बनें, संन्यासी बनें, उच्च आसन पर बैठें, जनेऊ धारण करें, दान लें और ब्राह्मणों से अपना पैर पूजन करवाएँ। राम का मित्र होने के कारण निषाद और केवटों के राजा निषादराज गुह को ब्राह्मणों के द्वारा थोड़ी उदारता से मिलते हुए तुलसी ने दिखलाया है –

प्रेम पुलक केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दण्ड प्रनामू॥
राम-सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥[12]

रामचरितमानस में केवट के गुरु वशिष्ठ से मिलने का प्रसंग वर्णित है जिसमें केवट जमीन पर लेटकर, अपना नाम बताते हुए उन्हें प्रणाम करता है। जिस केवट ने राम को गंगा के पार उतारने का काम किया, उसी केवट को तुलसीदास जैसे ब्राह्मणवादी मानसिकता वाले कट्टर परम्परावादी कवियों ने राम का पैर धोकर उस मैले जल को पीने का प्रसंग बना दिया। यह निश्चित है कि वह पाँव धौला वह मैला जल किसी भी स्थिति में उसके शरीर के लिए स्वास्थ्यकारी तो नहीं ही रहा होगा। यदि उस पैर के जल से केवट / केवट जाति का कल्याण होना होता तो आज तक केवट / निषाद आदि जातियों की स्थिति दयनीय क्यों बनी हुई है ! भलाई के बदले भी अपमान का घूँट पीना ही उनकी नियति थी। नाव नारी बन जाएगी यह तो मात्र एक छलावा है, जो ब्राह्मणवादी अत्याचारी नीति

की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाने देता। जाति-पाँति को प्रमुखता देने वाले उस समाज में जाति का दंश स्वयं तुलसीदासजी को भी सहना पड़ा था। पण्डित लोग तुलसीदास से भी उनकी जाति और गोत्र पूछकर उन्हें अपमानित करते थे। तुलसी उन्हें अपना गोत्र बताते हुए कहते थे कि जो गोत्र स्वामी राम का है वही सेवक तुलसीदास का भी है। यथा –

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौ काहू के काम को ॥

और भी,

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम कौ, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ ॥[13]

स्पष्ट है कि तुलसीदास से भी पुरोहित वर्ग ईर्ष्या भाव रखता था और उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित करता था इसीलिए तुलसी को कहना पड़ा कि तुम अपनी जाति लेकर खुश रहो, तुमसे मुझे कुछ लेना देना नहीं है। उन्होंने अनेक स्थानों पर पुरोहितों को ललकारा और फटकारा है। उनके प्रभु राम ने जातिहीन लोगों को अपनाया। भक्ति का तो मूल मन्त्र ही था कि वहाँ जाति से कोई मतलब नहीं है जो हरि का भजन करता है, वह हरि का अपना हो जाता है। एक उदाहरण उन्होंने वाल्मीकि का भी दिया है। इसी प्रकार शबरी, गीध आदि अनेक भक्तों की भी चर्चा की है –

लोग कहैं पोचु, सो न सोचु न संकोचु।
मेरे ब्याह न बरेखी, जाति पाँति न चहत हौं ॥

तथा

जातिहीन अघ जनम महि, मुकुत कीन अस नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि ॥

तथा

जहाँ बालमीकि भये ब्याध ते मुनीन्द्र साधु।
मरामरा जपे सुनि सिष ऋषि सात की।

और भी,

जान आदि कवि तुलसी नाम प्रभाउ।
उलटा जपत कोल ते भे ऋषिराउ॥

तथा

सबरी, गीध, सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ॥
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ॥[14]

तुलसी की भक्ति किसी भी वर्ण, जाति, धर्म के कारण किसी का विरोध नहीं करती। इसीलिए स्वयं राम के मुख से तुलसी कहलाते हैंकि –

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जान लेउ जो जाननिहारा।

मुगल शासकों के समय में कोल-किरातों को शिकार समझ कर मारा जाता था और पकड़े जाने पर काबुल में बेच दिया जाता था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समय इनको जरायम पेशा करार कर दिया गया था। ऐसे समय में तुलसी ने उन्हें राम के छोटे भाई भरत, लक्ष्मण और सखा की तरह माना है। यथा –

कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी॥
जानि लखन सम देहिं असीसी। जिअहु सुखी सम लाख बरीसा॥
निरखि निषादु नगर नर-नारी। भए सुखि जनु लखनु निहारी॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥[15]

तुलसी ने अपने रामराज्य को वर्णहीन नहीं माना है, किन्तु सरयू के राजघाट पर चारों वर्णों के लोग एक साथ स्नान करते हैं –

राजघाट सब विधि सुन्दर वर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥[16]

5.4.2.4. नारी के विषय में तुलसी का समाज-दर्शन

प्राचीन भारतीय परम्परा में जो वर्ण-व्यवस्था पायी जाती है उसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की व्यवस्था हमारे समाज में की गई थी। यह व्यवस्था तुलसी के समय में मुसलमानों के आने के बाद थोड़ी कम हुई। किन्तु तुलसीदास ने निर्गुण सन्तों को बुरा-भला कहते हुए एक बार पुनः वेद, शास्त्र, उपनिषद्, वेदान्त और पुराणों की सहायता से शास्त्रों की रूढ़ियों को स्थापित करने के लिए रामचरितमानस जैसे ग्रन्थ की रचना की। शूद्रों की ही भाँति नारियों को भी समाज में कभी समानता के स्तर पर सम्मान नहीं मिला। उनके लिए शिक्षा के द्वार बन्द थे। कुछ अत्यधिक प्रतिभासम्पन्न नारियों ने चोरी-छिपे घर में स्वाध्याय से पढ़ना-लिखना सीख लिया था, यह अलग बात है। तुलसीदासजी ने सीधे कहा है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्र होकर बिगड़ जाती हैं। इसके बाद भी तुलसीदास कहते हैं –

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥[17]

इस पंक्ति की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। कोई कहता है कि तुलसी ने इनको अनुशासन में रखकर उपयोग करने के योग्य बनाने की बात कही है, ताकि इनका भी कल्याण हो सके। किन्तु अधिकांश लोगों ने इसकी सीधी व्याख्या ही की है कि ये सब पीटने के ही लायक हैं। बिना पीटे इन्हें समझ में नहीं आता। तुलसीदासजी ने अलग-अलग नारियों के लिए अलग-अलग बात कही है। रामकथा जो पात्र जिस प्रवृत्ति की है उसे उसके कर्मों के बहाने अच्छा या बुरा कहा। उनका कर्म के अनुसार प्रसंगवश कहना ठीक भी था किन्तु कहीं-कहीं पात्र से हटकर वो नारी समाज पर एक साथ टिप्पणी कर बैठे हैं, यह उनकी नारी के विषय में बुरे अनुभव का भी परिणाम हो सकता है। एक और बात है कि संन्यासियों-सन्तों ने नारी को साधना मार्ग में बाधक माना है। तुलसी ने अनेक स्थानों पर पात्रों के माध्यम से नारी को मन्द बुद्धि कहा है। सीता, कौशल्या, उर्मिला, माण्डवी आदि अच्छे पात्रों के लिए उन्होंने अपनी ओर से खूब प्रशंसा की है, किन्तु कैकेयी, मंथरा, शूर्पणखा के लिए खूब भला-बुरा कहा है। यहाँ तक कि उनके अनुसार सरस्वती भी देवताओं की गुलाम थीं। राम का जब राज्याभिषेक होने जा रहा था उस समय देवता सरस्वती के पास आकर विनती करते हैं कि – "माता ! आप कुछ कीजिए नहीं तो रावण नहीं मर पाएगा। आप मंथरा के मस्तिष्क को उलटकर राम को वन जाने का प्रबन्ध कीजिए।" तब सरस्वती देवताओं को भला-बुरा कहती हैं। वे कहती हैं कि – "ऊँचे निवास में रहते हो और करतूत तुम्हारी नीची है।" इतना जानने के बावजूद वह क्यों देवताओं के काम को सफल बनाती हैं ! मंथरा की मति फेरकर गलत कार्य स्वयं सरस्वती ने किया और युगों-युगों से उसका दंश मंथरा और कैकेयी झेल रही हैं। वस्तुतः सरस्वती से यह बात भी कवि तुलसीदासजी ने ही कहलायी थी, क्योंकि किसी पात्र को अच्छा या बुरा बनाना तो कवियों के ही हाथ में होता है।

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकई पराई विभूति॥

तुलसीदासजी की एक और दृष्टि है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने माँ का स्थान पिता से कहीं अधिक ऊँचा बताया है। यथा –

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़िन माता।
जौं पितु-मातु कहेउ बन जाना। तो कानन सत अवध समाना ॥[18]

तुलसी की दृष्टि में पत्नी के लिए पति ही परमेश्वर है। पति की सेवा करना ही उसका एकमात्र धर्म है। पति चाहे जैसा भी हो बूढ़ा हो, व्याधि-ग्रस्त हो, महामूर्ख हो, उसके पास सम्पत्ति हो या न हो, अन्धा हो, बहरा हो, अत्यधिक कृद्ध स्वभाव वाला हो या चाहे वह अत्यन्त दयनीय स्थिति में ही क्यों न हो, उसका सम्मान करना ही पत्नी का परम कर्तव्य है। तुलसी के अनुसार स्त्रियों को सदैव पुरुषों के अनुशासन में रहना चाहिए। अपने माता-पिता के घर में पिता और भाई के संरक्षण में और विवाह के पश्चात् पति के संरक्षण में रहना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ स्वतन्त्र होकर बिगड़ जाती हैं। अरण्यकाण्ड में ऋषि-पत्नी अनुसूया ने सीता को उपदेश देते हुए कहा है कि –

"भारतवर्ष की परम्परा रही है कि एक स्त्री का यही सबसे बड़ा धर्म है कि वह प्रत्येक स्थिति में पातिव्रत धर्म का पालन करे। पति की आज्ञा का उल्लंघन करके न तो इस लोक में और न तो परलोक में सुख मिलता है। उस स्थिति में दोनों ही स्थानों पर उसे भयंकर कष्ट भोगना पड़ता है।" वस्तुतः तुलसी ने नारी का अधिकार-क्षेत्र बहुत ही कम कर दिया है। नारी के चारित्रिक आचरण को कमजोर मानते हुए तुलसी बार-बार उसे उपदेश देते दिखलाई पड़ते हैं। यथा –

एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥

तथा

वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दु:ख नाना॥

तथा

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पति ब्रत धर्म धाड़ि छल गहई।
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

तथा

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहई।
जसु गावत श्रुति चारि,अजहुँ तुलसी का हरिहि प्रिय॥

और भी,

भ्राता पिता पुत्र उर गारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होइ बिकल सकि मनहि न रोकी। जिमि रबि-मनि द्रव रबहिं बिलोकी॥[19]

तुलसी के अनुसार कवियों ने सत्य ही कहा है कि नारियों के स्वभाव को किसी प्रकार भी जाना नहीं जा सकता। ऐसी कौन सी चीज है जिसे अग्नि नहीं जला सकती, ऐसी कौन सी वस्तु है जो समुद्र में नहीं समा सकती, जो अबला नारी है ऐसा संसार का कौन सा काम है जिसे वह नहीं कर सकती, और दुनिया में ऐसा कौन है जिसका भक्षण काल नहीं कर सकता। अर्थात् स्त्रियाँ समय आने पर काल के समान भयंकर से भयंकर कार्य को भी कर सकती हैं। आगे फिर तुलसी कहते हैं कि स्त्रियों के हृदय की बात तो विधाता भी नहीं जानता कि वो क्या करने वाली हैं? नारी को तुलसी ने 'अधम ते अधम जाति अति नारी' कह दिया है। यथा –

उत्तर देह नहिं लेइ उसाँसू। नारि चरित कर ढारइ आँसू॥

तथा

सत्य कहइँ कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिम्ब बरुक गहिऊ जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥

तथा

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल केहि जग काल न खाइ॥

और भी,

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी, सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

और भी,

अधम ते अधम जाति अति नारी। तिन महँ मैं मतिमंद गँवारी॥[20]

इन पंक्तियों में केवल पात्रों के द्वारा कही गई मात्र उक्तियाँ ही नहीं हैं, बल्कि इसमें परम्परा से चली आ रही समाज और तुलसी के तत्कालीन समाज की मान्यताएँ भी व्यक्त की गई हैं। भक्ति की दृष्टि से नारी को त्याज्य और निन्दनीय बताया गया है। नारद के पूछने पर मर्यादापुरुषोत्तम राम भी नारी की निन्दा करते हुए कहते हैं कि नारी मोह रूपी वन के लिए वसन्त ऋतु के समान है। जप, तप, नियम रूपी सरोवर को सोखने के लिए ग्रीष्म ऋतु के समान है। पाप रूपी उलूक के लिए अंधेरी रात्रि के समान है और बुद्धि, बल, शील, सत्य आदि रूपी मछलियों को फँसाने वाली वंशी के सदृश्य है। इसके बाद आगे भी वे कहते हैं –

अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुःखखानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥[21]

तुलसी की नारी के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ हैं। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ उदयभानु सिंह के अनुसार – "इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी ने पुरुष की सच्चरित्रता की अपेक्षा नारी की सच्चरित्रता पर अधिक बल दिया है। इसके दो कारण हैं, तब भी थे अब भी हैं। एक यह कि पुरुष का चरित्र-दोष उतना संक्रामक नहीं है, जितना कि नारी का, दूसरा यह कि जिस गलती के कारण पुरुष का कुछ नहीं बिगड़ता उसी के कारण नारी पर कलंक का अमिट टीका लगा दिया जाता है। बिना अपराध के, अग्निपरीक्षा के बाद भी सीता को धर्म-धुरंधर राम के हाथों निर्वासित होना पड़ा था।"[22] (तुलसी काव्य मीमांसा, पृ. 341-42)

तुलसीदास जहाँ एक ओर नारी का एक ही धर्म पति की सेवा करना बताते हैं, वहीं दूसरी ओर गुलामी को स्वप्न में भी सुखकर नहीं मानते। राम का एक पत्नीव्रत भी तुलसी को सामन्ती व्यवस्था से अलग कर प्रासंगिक बनाता है। यथा –

करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरम पति देव न दूजा॥
कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥

और भी,

एक नारिब्रतरत सब झारी। ते मन बच क्रम पतिहितकारी॥[23]

इस प्रकार तुलसी ने पुरुष के विशेषाधिकार को खत्म करके पति-पत्नी दोनों को समान रूप से एक ही व्रत पालन करने को आदर्श माना है।

5.4.3. पाठ-सार

तुलसी के साहित्य का गहराई से अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलसी का समाजवाद जनता के जागरण और कल्याण का माध्यम है। सामन्तवादी और पुरोहिती चंगुल से निकालकर तुलसी जनता को मानवप्रेम का पाठ सिखाते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो तुलसी सामाजिक-सांस्कृतिक-मानवीय-प्रेम और लोक-समन्वय के सबसे बड़े कवि के रूप में प्रासंगिक दिखलाई पड़ते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। तुलसीदास महात्मा बुद्ध के बाद भारत के सबसे बड़े लोकनायक थे। उनका सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है।"[24] इसी सन्दर्भ में डॉ॰ रामविलास शर्मा का कथन द्रष्टव्य है कि – "तुलसीदास भारत के श्रेष्ठ भक्त-कवि हैं, भक्ति-आन्दोलन के निर्माता उसी भक्ति-आन्दोलन की महान् उपलब्धि हैं। उनके साहित्य का सामाजिक महत्त्व भक्ति-आन्दोलन के सामाजिक महत्त्व पर निर्भर है, उससे पूरी तरह सम्बद्ध है।"[25] तुलसी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए आगे डॉ॰ रामविलास शर्मा कहते हैं कि "भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का राष्ट्रीय महत्त्व यह है कि उनसे भारतीय जनता की भावात्मक एकता दृढ़ हुई। भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का प्रादेशिक महत्त्व यह है कि इनसे हिन्दीभाषी जनता की जातीय एकता दृढ़ हुई। भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का अन्यतम सामाजिक महत्व यह है कि इनमें देश की कोटि-कोटि जनता की व्यथा, प्रतिरोध भावना और सुखी जीवन की आकांक्षा व्यक्त हुई है। भारत के नए जागरण का कोई महान् कवि भक्ति-आन्दोलन और तुलसीदास से परांगमुख नहीं रह सकता। वह सांस्कृतिक धारा रवीन्द्रनाथ और निराला के साहित्य में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए यह रविन्द्रनाथ की 'सूरदास प्रार्थना' और निराला की 'तुलसीदास' कविताओं का उल्लेख करना ही यथेष्ट होगा।"[26]

वस्तुतः समाज की सबसे मजबूत इकाई परिवार है। परिवार में सुख-शान्ति न रहने पर निश्चित रूप से समाज में भी सुख-शान्ति नहीं रहेगी क्योंकि समाज परिवार से बनता है और परिवार व्यक्ति से, इसलिए एक व्यक्ति कष्ट में होगा तो उसका परिवार भी चिन्तित हो जाएगा और जब परिवार चिन्तित रहेगा तो निश्चित रूप से उस परिवार के आस-पास का सामाजिक सन्तुलन बिगड़ जाएगा। तुलसीदास इस बात को अच्छी तरह समझते थे। उनके अनुसार परिवार ही समाज की प्रमुख इकाई है। उसके दायरे में अनुशासित व्यक्ति ही सामाजिक मनुष्य होने का गौरव प्राप्त कर सकता है। राम भी अपने परिवार के एक सदस्य हैं। वे स्वयं को सदैव गुरु, पिता, माता, भाई,

पत्नी, मित्र और प्रजा के प्रति कर्तव्यमय अनुशासन में रखकर अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। लोक के सभी सम्बन्धों का मर्यादापूर्वक पालन करने के कारण ही उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है। राम का यह पारिवारिक और सामाजिक आदर्श राम के तत्कालीन युग, तुलसी के तत्कालीन युग और प्रत्येक वर्तमान समय में प्रासंगिक रहेगा।

तुलसी के समाज-दर्शन की दूसरी सबसे बड़ी प्रासंगिकता है – दरिद्रता और भूख की आग। चाहे यह भूख पेट की हो या भ्रष्टाचार रूपी लोभ-लालच की, दोनों की प्रासंगिकता प्रत्येक युग और समाज में बनी रहेगी। तुलसी के अनुसार यही दो कारण हैं जिनसे सामाजिक सन्तुलन पूर्णतः बिगड़ जाता है। तुलसी के समाज-दर्शन का का महत्त्व अक्षुण्ण है। डॉ॰ शिवप्रिया महापात्र के शब्दों में तुलसीदास के लिए कहा जा सकता है कि "जिस प्रकार वायुमण्डल के अभाव में जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं उसी प्रकार हमारी सांस्कृतिक चेतना के प्रकाश स्तम्भ इन पुरुषों के बिना हम नहीं हैं .. अतः ये कवि कल भी प्रासंगिक थे, आज भी हैं, और कल भी रहेंगे।"[27]

5.4.4. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. तुलसीदास की जन्म तिथि है –

(क) 1632 ई.
(ख) 1532 ई.
(ग) 1633 ई.
(घ) 1533 ई.

2. शिवसिंह सेंगर के अनुसार तुलसीदास का जन्म स्थान है –

(क) राजापुर
(ख) सोरो
(ग) सुकर खेत
(घ) बनारस

3. तुलसीदास के गुरु का नाम है –

(क) रामानन्द
(ख) परमानन्द
(ग) नरहरिदास
(घ) कृष्णदास

4. कृष्णगीतावली किसकी रचना है ?

(क) सूरदास

(ख) कृष्णदास

(ग) नन्ददास

(घ) तुलसीदास

5. तुलसीदास को महात्मा बुद्ध के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक किसने कहा है ?

(क) रामचन्द्र शुक्ल

(ख) डॉ॰ नगेन्द्र

(ग) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(घ) गियर्सन

लघु उत्तररीय प्रश्न

1. तुलसीदास का संक्षिप्त जीवन परिचय लिखिए।
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी के तुलसी के लोकनायक सम्बन्धी कथन का उल्लेख कीजिए।
3. 'दर्शन' शब्द का अर्थ बताते हुए तुलसी के समाज-दर्शन पर टिप्पणी कीजिए।
4. तुलसी के किन्हीं पाँच रचनाओं के नाम बताइए।
5. विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य के नाम सहित उनकी परम्परा के दो भक्तों का नामोल्लेख कीजिए।
6. तुलसी की नारी सम्बन्धी दृष्टि पर टिप्पणी कीजिए।
7. तुलसी के समाज-दर्शन की प्रासंगिकता पर टिप्पणी कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. तुलसी के समाज-दर्शन का वर्णन करते हुए आज के सन्दर्भ में उसकी प्रासंगिकता का उल्लेख कीजिए।
2. तुलसी के समकालीन समाज का वर्णन करते हुए तात्कालिक वर्णाश्रम व्यवस्था की समीक्षा कीजिए।
3. तुलसी के जीवन-संघर्ष का दर्शन किस प्रकार उनका सामाजिक दर्शन बन जाता है। युक्तियुक्त समीक्षा कीजिए।
4. तुलसी के शूद्र और नारी विषयक चिन्तन का वर्णन कीजिए।

5.4.5. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. राय, लल्लन (2002). तुलसी की साहित्य साधना. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 115-116

02. डॉ॰ नगेन्द्र (2007). हिन्दी साहित्य का इतिहास. नोएडा : मयूर पेपर बैक्स. पृ. सं. 188

03. तिवारी, डॉ॰ मुनींद्र (2009). तुलसी साहित्य-चिन्तनधारा. मुंबई : अनिमेश प्रकाशन. पृ. सं. 7

04. शर्मा, रामविलास (2001). भारतीय सौन्दर्य-बोध और तुलसीदास. नई दिल्ली : साहित्य अकादेमी, पृ.सं. 449
05. राय, लल्लन (2002). तुलसी की साहित्य साधना. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 15
06. त्रिपाठी, विश्वनाथ (2009). लोकवादी तुलसीदास. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 10 (भूमिका)
07. वही, पृ. सं. 78-79
08. रामचरितमानस. गोरखपुर : गीताप्रेस, तुलसीदास. (169वाँ संस्करण, सं. 2058). पृ. सं. 984-989
09. राय, लल्लन (2002). तुलसी की साहित्य साधना. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ.सं. 117-118
10. वही, पृ.सं. 119
11. वही, पृ.सं.120
12. वही, पृ. सं.120
13. शर्मा, रामविलास (2001). भारतीय सौन्दर्य-बोध और तुलसीदास. नई दिल्ली:साहित्य अकादेमी, पृ.सं. 452
14. वही, पृ. सं. 453
15. वही, पृ. सं. 454
16. वही, पृ. सं. 454
17. वही, पृ. सं. 120
18. वही, पृ. सं. 121
19. वही, पृ. सं. 121
20. वही, पृ. सं. 122
21. वही, पृ. सं. 122
22. वही, पृ. सं. 121-122
23. वही, पृ. सं. 456
24. डॉ॰ नगेन्द्र (2007). हिन्दी साहित्य का इतिहास. नोएडा : मयूर पेपर बैक्स. पृ. सं. 189
25. शर्मा, रामविलास (2001). भारतीय सौन्दर्य-बोध और तुलसीदास. नई दिल्ली:साहित्य अकादेमी, पृ.सं. 443
26. वही, पृ. सं. 448
27. महापात्र, डॉ॰ शिवप्रिया (2009). तुलसी आज के सन्दर्भ में. नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. सं. 13

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/

❖❖❖